प्रवचनरत्नाकर

[पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी के प्रवचन]

भाग ८

(समयसार गाथा २३७ से ३०७ तक)

सम्पादक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी.

अनुवादक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्रकाशक :

दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, बम्बई

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशकीय
(प्रथम संस्करण)

परमपूज्य प्रात:स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द कृत ग्रन्थाधिराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का हिन्दी भाषा में अनूदित प्रवचनरत्नाकर (भाग ८) प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पूज्य श्री कानजी स्वामी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हुए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है। स्वामीजी के उपकारों को यह दिगम्बर जैन समाज युगों-युगों तक स्मरण रखेगा।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत समयसार ग्रंथ ने स्वामीजी की जीवनधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। इसी ग्रंथ को पाकर सन् १९३४ में उन्होंने स्थानकवासी साधु का वेश (मुंहपट्टी) त्यागकर दिगम्बर धर्म अंगीकार किया और सामान्य ब्रह्मचारी श्रावक के रूप में अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पण कर दिया। अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेपता रही। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने ४५ वर्षों तक निरन्तर जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना की है। यद्यपि आज वे हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा दिखाया गया शास्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव-दु:खों से छूटने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्मित जिनमन्दिर एवं प्रकाशित सत्साहित्य उनके स्मारक के रूप में चिरकाल तक विद्यमान रहेंगे।

परमपूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों को टेप के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास तो किया ही गया है परन्तु उनकी दीर्घकाल तक सुरक्षा असम्भव है। अत: उनके प्रवचनों को शृंखलाबद्ध प्रकाशन का निर्णय बम्बई के

श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा लिया गया। फलस्वरूप समयसार ग्रंथाधिराज पर हुए सम्पूर्ण ग्रंथ के गुजराती प्रवचन ११ भागों में प्रकाशित हो चुके हैं तथा नियमसार के गुजराती प्रवचनों का प्रथम भाग भी प्रकाशित हो चुका है। समयसार पर हुए प्रवचनों का हिन्दी में रूपान्तर करके 'प्रवचनरत्नाकर' के ही नाम से अभी तक सात भाग प्रकाशित हो चुके हैं और अब यह आठवाँ भाग आपके हाथों में है। आगे के भागों का भी अनुवाद कार्य चल रहा है।

हिन्दी में रूपान्तरित प्रवचनरत्नाकर के प्रथम भाग में १ से २५ गाथायें, द्वितीय भाग में २६ से ६८, तृतीय भाग में ६९ से ९१, चतुर्थ भाग में ९२ से १४४, पाँचवें भाग में १४५ से १८०, छठवें भाग में १८१ से २१४, सातवें भाग में २१५ से २३६ तथा प्रस्तुत आठवें भाग में २३७ से ३०७ गाथाओं तक प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं।

हम श्री भगवानजी भाई कचराभाई शाह लन्दन का भी हृदय से आभार मानते हैं जिन्होंने प्रस्तुत कृति को कम से कम मूल्य में जन-जन तक पहुँचाने हेतु ३० हजार रुपए (लागत का २०%) प्रदान किए हैं। हमें खेद है कि उनकी धर्मपत्नी श्रीमती डाही बैन भगवानजी शाह अब हमारे बीच नहीं हैं।

अन्य सभी दान दातार भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने पुस्तक की कीमत कम करने में अपना सहयोग दिया है।

इस पुस्तक के सम्पादन में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का एवं अनुवाद में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का श्रम श्लाघनीय है। पुस्तक की मुद्रण व्यवस्था सदा की भांति विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाली है। अतः उपरोक्त सभी बधाई के पात्र हैं।

आप सभी पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का मर्म समझकर शुद्धात्मतत्त्व के आश्रयपूर्वक स्वानुभूति दशा प्रगट करें व आत्मकल्याण मार्ग की ओर अग्रसर हों, ऐसी पवित्र भावना है।

महामंत्री
दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, बम्बई

महामंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

सम्पादकीय

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर उनके रहस्य को उद्‌घाटित करनेवाली अद्‌भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थीं। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे; तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो वात ही क्या करें, बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है – उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को है। उन्होंने इस पर आद्योपान्त १९ बार तो सभा में प्रवचन किए हैं, स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस सन्दर्भ में पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का कथन दृष्टव्य है। जो कि इसप्रकार है :-

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र सभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाम तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले विरले ही थे। आज भी दि. जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ। अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र. शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्वर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[१]

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर

---

१. जैन सन्देश, ४ नवम्वर १९७६, सम्पादकीय

प्रवचन सुने हैं, और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशित रूप में भी हमें उपलब्ध थे, और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिए। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए – इसकारण सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचनरत्नाकर' नाम से सर्वप्रथम 'समयसार' परमागम पर १८वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूँकि गुरुदेवश्री के मूलप्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अतः उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। १६ अप्रेल, १९८० ई. को बम्बई (मलाड) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचनरत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्वप्रचार सम्बन्धी गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के

कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूँ, क्योंकि इसकारण मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ-संवरण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म में पाँच वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के लगभग २०-२२ पृष्ठ तो दे ही रहा हूँ। उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादन शैली से मेरा घनिष्ठ परिचय हो गया है। इसकारण मुझे यद्यपि इसके सम्पादन में अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ा है; तथापि इसके सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है। गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इसके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इसके सम्पादन के काल में रही है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती है। जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठकों से अनुरोध करना चाहूँगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर कर इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित 'प्रवचनरत्नाकर' के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये गए हैं। उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात तो यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बाँटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचनरत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है, साथ में यह भी उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग कम से कम लगभग चार सौ पृष्ठों का तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वाल्यूम बनाने

में विषयवस्तु तो बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़ें भी बहुत होती हैं तथा पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती हैं। सामान्य लोगों को भी सरलता से समझ में आ जाय – इस दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन समाप्त न हो जावे – इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई है, पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

गुजराती का एक पेज हिन्दी के भी प्रायः एक पेज में ही आ गया है। ग्रंथ की साइज का अन्तर अक्षरों की साइज के अन्तर से समायोजित हो गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूल ग्रन्थ संस्कृत व हिन्दी टीका सहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है। और भी छोटी-छोटी बहुतसी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे सब अध्ययन करने पर पैनी दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है। इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी, और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी। फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है। अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-छोटी त्रुटियों की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भावसम्बन्धी भूल दिखाई दे तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में सुधार किया जा सके।

– (डॉ.) हुकमचन्द भारिल्ल

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के गूढ़, गम्भीर और गहनतम, सूक्ष्म, तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया तो मैं असमंजस में पड़ गया। मेरी स्थिति साँप-छछूँदर जैसी हो गई। मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव भी मेरे पास कभी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी। और मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं था, बल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता हूँ। अन्यथा थोड़ी-सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्म-लाभ के सुफल का विचार कर प्रारंभिक परिश्रम और कठिनाइयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' - यह सोचकर अन्ततोगत्त्वा मैंने इस काम को अपने हाथ में ले लिया था। इस कार्यभार को संभालने में एक संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही संभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ अपने

अनुज डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल से परामर्श करके उसके भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ।

मैं अनुवाद करते समय इसलिए भी निश्चिन्त रहा कि सम्पादन का कार्य एक ऐसी प्रतिभा को सौंपा गया था जिसके द्वारा सारा विषय हर दृष्टि से छन-छन कर ही पाठकों तक पहुँचने वाला है।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यों को – जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं – उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में आत्म-सन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तःसुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परम प्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किंचित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। जब पाठक धारा-प्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु समझने में भी सुगमता रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' की लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठावेंगे – ऐसी आशा और अपेक्षा है।

– रतनचन्द भारिल्ल

श्रीमान् भगवानजी भाई, कचराभाई शाह

लन्दन मोम्बासा (केन्या)

जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्रवचनरत्नाकर भाग ८' के प्रकाशन में लागत के २०% सहयोग के रूप में ३०,०००/- रुपये का आर्थिक सहयोग प्रदान किया है।
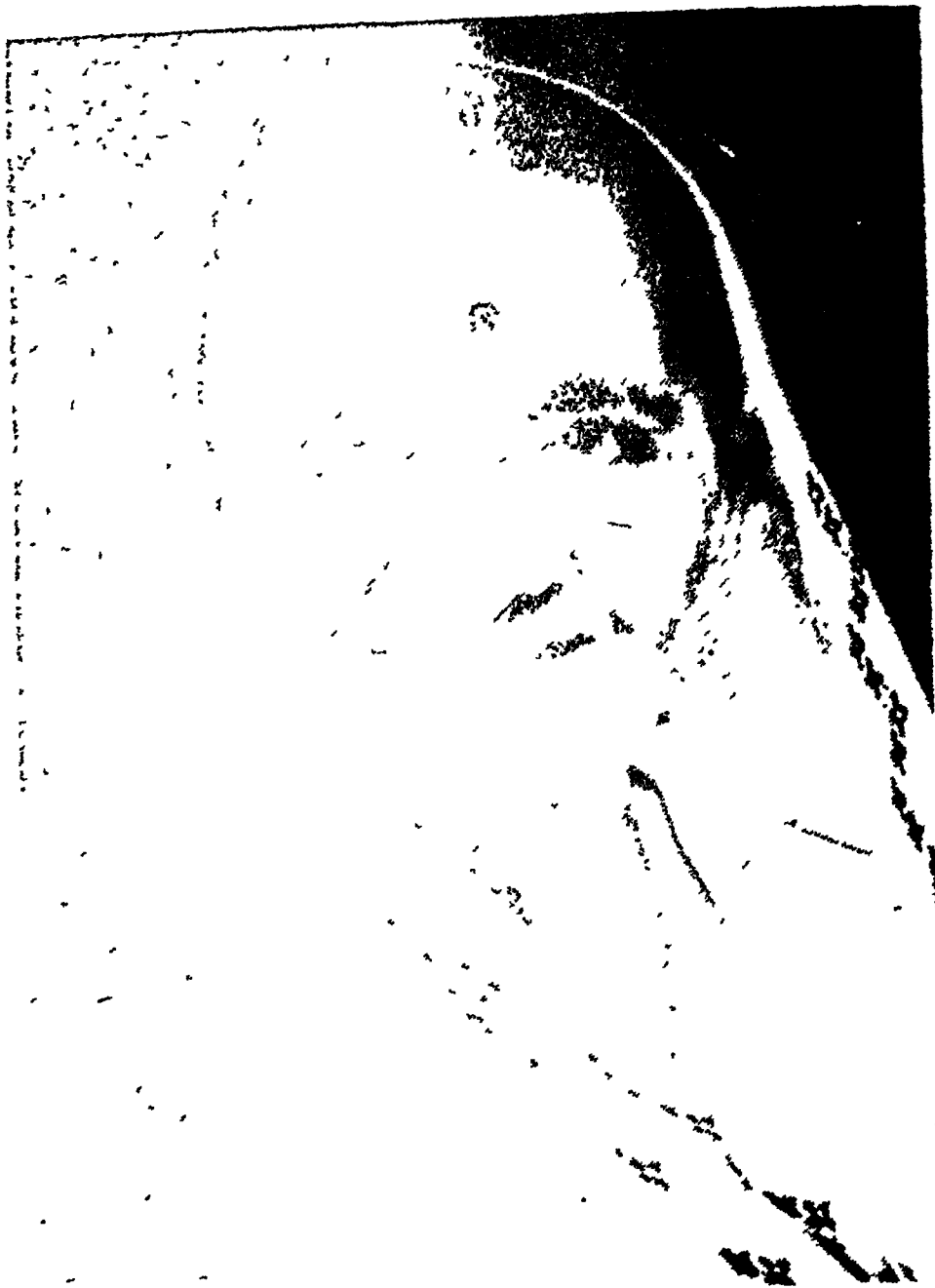
मेरी भावना

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

हम अपनी भावना व्यक्त करने के पहले एवं देव-शास्त्र-गुरु को बारम्बार नमस्कार करने के उपरान्त उन पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को कोटि-कोटि वंदन करते हैं, जिन्होंने हम जैसे अनेक मुमुक्षुओं को अज्ञानांधकार से बाहर निकालकर अनंत-अनंत उपकार किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, उनका वियोग हम सब मुमुक्षुओं को असह्य है। अब हमें भगवान कहकर कौन बुलायेगा, पामर को प्रभु कौन कहेगा ? स्नेहासिक्त आत्मीय सम्बोधन कौन करेगा ? जब यह विचार आता है तो हृदय भर आता है।

यद्यपि वे आज हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी हमें उपलब्ध है, शास्त्रों के रूप में भी और टेपों के रूप में भी। यदि हम चाहें तो उस वाणी के अवगाहन से अपना कल्याण कर सकते हैं। उनकी वाणी में हमारे कल्याण करने की क्षमता है, पर जब हम उसका अवगाहन गहराई से करें, तभी वह वाणी हमारे कल्याण में निमित्त हो सकती है। अपना कल्याण करने की यह पात्रता भी हमें पूज्य गुरुदेव श्री की कृपा से प्राप्त हुई है।

आज समग्र मानव जाति भौतिक सुखों के लिए दौड़ रही है तथा सुविधामयी जीवन के सन्मुख है, ऐसे समय में हे गुरुदेव ! आपने हमें चैतन्यतत्व की महिमा समझायी तथा अन्तर्मुख पुरुषार्थ करने के लिए जागृत करके हमें चतुर्गति से उबार लिया, हम दोनों के ऊपर तथा हमारे परिवार के ऊपर आपका महान उपकार है। आपकी कृपा का पात्र बनकर हम अपने को धन्य अनुभव करते हैं।

इस युग में पूज्य गुरुदेव श्री का जन्म मानव समाज के लिए एक आशीर्वाद था। आपने क्रियाकांड की कैद में फंसे हुए प्राणी को जैनधर्म का सच्चा स्वरूप समझाकर उसे क्रियाकांड से मुक्त करके हमें समझाया कि प्रत्येक जीव अपने अन्दर विद्यमान चैतन्यस्वरूप आत्मसत्ता की अनुभूति करके मोक्षमार्ग प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आपने भक्तों को भगवान

बनने का उपाय बताया है। पूज्यगुरुदेवश्री के जीवनकाल में अपना जन्म होना अपने भवसागर के तट की निकटता का सूचक है। ऐसे महान गुरु का समागम अनेक जन्मों में संचित पुण्य के उदय से होता है तथा अपने को उनके साथ में रहकर उनकी वाणी सुनकर भवसागर पार होने की देशना का लाभ मिला है, यह सब हमें मुक्तिपुरी के पथ पर चलने की प्रेरणारूपी दीपक बनेगा।

सम्वत् २०१५ में हमें आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव के साथ दक्षिण के तीर्थों की तथा सिद्ध क्षेत्र गिरनारजी की यात्रा करने का शुभ अवसर मिला। इसके पश्चात् अनेक बार कुटुम्बीजनों के साथ श्री सम्मेद शिखरजी तथा अन्य तीर्थों की यात्रा का अवसर भी प्राप्त हुआ। इस तरह अनेक प्रकार से समय शक्ति और उत्साहपूर्वक "काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन रोग" इन पंक्तियों में व्यक्त संकल्प के अनुसार चलने का प्रयास किया।

हम आर्थिक उपार्जन और लौकिक सुखों के लिए अपना मूल वतन छोड़कर परदेश गये, पर आत्मकल्याण की चाहना अन्दर थी। एकबार सन् १९४६ में चेलाना निवासी स्व. श्री धर्मसीभाई देवसीभाई अफ्रीका आये और उन्होंने हमें पूज्य गुरुदेवश्री की बात समझाते हुए उनका परिचय कराया। परिणामस्वरूप हमें पूज्य गुरुदेव श्री द्वारा प्ररूपित तत्त्व में रुचि हुई। अतः हम उनके भी बहुत-बहुत आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में यह तुच्छ सहयोग कर हम अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं। सभी धार्मिक कार्यों में मेरी धर्म पत्नी डाहीबेन का पूरा-पूरा सहयोग रहा है। दिनांक २७ नवम्बर, १९९१ को उनका स्वर्गवास हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के उपकारों का बदला तो हम चुका ही नहीं सकते हैं। हमारी तो यही भावना है कि हमारी भावना और भक्ति भव के अन्त तक वीतरागी तत्त्व में ही बनी रहे।

लंदन – मुम्बासा (केन्या)

हम हैं आपके दासानुदास
भगवानजी भाई कचराभाई शाह

हमें सन्मार्ग में लगानेवाले हमारे माता-पिता

हमें धर्ममार्ग में लगानेवाले हमारे पूज्य पिता श्री भगवानजीभाई कचराभाई शाह एवं माता स्व. श्री डाहीबेन भगवानजी शाह जब से पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के सत्समागम में आये, तब से उनके हृदय में सच्चे वीतरागी जिनधर्म की भावना विशेष जागृत हो गई। एक प्रकार से उनका जीवन ही बदल गया। आपने मुम्बासा तथा थाणा में चलनेवाले व्यवसाय से निवृत्ति लेकर पूज्य गुरुदेव श्री के चरण-सान्निध्य में अधिक समय तक रहने के लिए सोनगढ़ में मकान बनवाया तथा १६ वर्ष तक उनके सत्समागम में रहे।

आपने सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए ३० वर्ष तक सत्समागम, अभ्यास और ज्ञान-वैराग्य में यथाशक्ति अपने को लगाए रखा। उनके सोनगढ़ में रहने का एक उद्देश्य यह भी था कि हम लोग भी बारम्बार सोनगढ़ आकर आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कारों का सिंचन करें और आत्महित के पथ में लगे रहें।

वैसे तो लोक में इसप्रकार की पद्धति है कि माता-पिता के स्वर्गवास के बाद लोग उनकी स्मृति में शास्त्रों का प्रकाशन कराते हैं, प्रकाशन में सहयोग देते हैं, पर हमारे माता-पिता की भावना को देखकर हमने उनके जीवन काल में ही यह पवित्र कार्य करना आरम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण सहयोग देने का संकल्प किया है। यह उनकी पावन प्रेरणा का ही परिणाम है।

उनके उपकारों का स्मरण करते हुए हम उनके बारे में दो शब्द लिखना अपना कर्तव्य समझते हैं।

सन् १९२४ में चापाबेराजा (जामनगर) ग्राम के निवासी हमारे पिताश्री १८ वर्ष की उम्र में अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए पूर्व अफ्रीका के किटाले नामक ग्राम में तथा उसके बाद मुम्बासा गये और भरपूर अर्थोपार्जन किया, हम सबको उसका उत्तराधिकारी बनाया। यह सब तो ठीक, पर उन्होंने जो हमें धार्मिक संस्कार दिये हैं, वह हम सबकी सच्ची और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है। आपने अपने जीवन में अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न किये हैं।

सर्वप्रथम ८ नवम्बर, १९५९ में उन्हें जामनगर में दिगम्बर जिन-मन्दिर का शिलान्यास करने का लाभ मिला। उनकी भावनानुसार वह जिनमंदिर शीघ्र ही तैयार हो गया और दो वर्ष बाद ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में उसका पंचकल्याणक महोत्सव हुआ। आज वह भव्य जिनालय भव्यजनों को आत्माराधना और जिनेन्द्र भक्ति करने का उत्तम धर्मस्थान है।

उसके बाद मुम्बासा (अफ्रीका) में ५ मार्च, १९६७ में श्रीमद् राजचन्द्र स्मृतिग्रह बनवाया। उसमें सुन्दर सजावट सहित आत्मसिद्धि तथा योगीन्द्रदेव आचार्यकृत योगसार के अनेक दोहे दीवालों पर उत्कीर्ण करावे। उन्हें श्रीमद् राजचन्द्र के वचनामृत के निरन्तर अध्ययन से आत्महित की प्रेरणा मिली थी। इसके बाद १३ सितम्बर, १९६९ को सोनगढ़ में निर्मित भव्य महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर का शिलान्यास करने का अवसर सम्पूर्ण परिवार सहित आपको प्राप्त हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री की आपके प्रति सदैव दयादृष्टि रहती थी और पूज्य गुरुदेवश्री के सत्संग में आपने बहुत लाभ लिया एवं गहन अध्ययन किया। आपके सोनगढ़ निवास के समय परिवार के सभी सदस्यों को पूज्य गुरुदेवश्री की भवताप शामक मंगल वाणी श्रवण करने का अपूर्व लाभ मिलता था। इसप्रकार हमें हमारे माता-पिता द्वारा जैनधर्म का सत्य स्वरूप समझने को मिला तथा अपार सम्पत्ति और जगत के भौतिक सुख होते हुए भी अध्यात्मशान्ति के मार्ग पर चलने योग्य दृढ़ संस्कार मिले। इसप्रकार उन्होंने हमें लौकिक और लोकोत्तर सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया। हम सब भी आत्महित के मार्ग पर चलेंगे।

इसप्रकार आपने अनेक लोकोपयोगी धार्मिक कार्य जीवन में किये हैं। आपने अपने धर्म प्रेम द्वारा कुटुम्बीजनों को धर्म में लगाया है। अपने मुम्बासा और लन्दन के घर में भी आपने एक धार्मिक स्थान बना रखा है, जिसमें जिनवाणी के साथ-साथ तीर्थंकरों, आचार्यों के भव्य चित्रों के साथ-साथ श्रीमद् राजचन्द्र एवं गुरुदेवश्री आदि के भी चित्र हैं। मुमुक्षुमण्डल भी हमारे घर ही चलता है। प्रतिदिन गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों के टेप चलते हैं। समय-समय पर विशेष कर पर्वों के समय विशेष धार्मिक आयोजन भी होते हैं। जब गुरुदेवश्री नैरोबी पधारे थे, तब वे हमारे घर मुम्बासा पधारे थे। उनकी हमारे परिवार पर सदा ही असीम कृपा रही है।

वर्तमान में हमारे पिताश्री लन्दन में रहते हैं। वहां भी वे निरन्तर स्वाध्याय में मग्न रहते हैं एवं प्रवचन आदि भी करते हैं।

वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का आश्रय प्राप्त कर हम सब व हमारे पिता आत्महित में ही रत रहें यही पवित्र भावना है।

हम हैं आपके :

पुत्री	पुत्रवधू	पुत्र
चन्द्रमणि	सुशीला	सोमचन्द, लक्ष्मीचन्द
लीलावती	सूर्यकला	भीमजी, सुरेशचन्द
मुक्तागौरी	पुष्पा	विपिनचन्द्र

विषय-सूची

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

३०,०००/- श्रीमान् भगवानजी भाई कचराभाई शाह, लन्दन

१,००२/- निर्मलाबेन मोहनलाल मेहता एवं संगीताबेन दिलीपभाई शाह, राजकोट

१००१/- श्रीमान् प्रभुलाल मोहनलाल घीया, राजकोट

१०००/- श्रीमती ज्ञानमती प्रकाशचंदजी, सिलीगुड़ी; श्रीमती सोनीदेवी ध.प. कन्हुलालजी पाटनी, कुचामनसिटी

५०१/- श्रीमान् अशोक चानेकर, अकोला; डॉ. श्री चन्दुभाई तथा डॉ. ईश्वरभाई कामदार; श्रीमती दर्शनाबेन नरेन्द्रकुमारजी जैन, राजकोट; श्री विनयदक्ष चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई; श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज।

४५२/- श्रीमती कान्ताबाई ध.प. पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर।

३०१/- श्रीमान् तखतराजजी जैन, कलकत्ता; श्रीमान् गम्भीरचन्दजी जैन सेमारीवाले, अहमदाबाद।

३००/- श्रीमान् झमकलालजी बड़जात्या, रतलाम।

२५१/- श्रीमान् चेतनदासजी जैन (ध.प. की स्मृति में), बड़ौत; श्री कुन्दकुन्द मूलचन्द चै. ट्रस्ट, अजमेर; श्रीमान् प्रकाशचन्दजी घासीलालजी सेठी, इन्दौर; श्रीमती रमाबेन प्रतापराय शाह, राजकोट; श्रीमान् बंसतलाल वृजलालजी पारीख, राजकोट; श्रीमान् गोविन्दभाई बगडेवाला, राजकोट; स्व. निर्मलाबेन रमणिकलाल वाडीवाली, राजकोट; श्रीमान् भूधरभाई छोटालाल भयाणी, राजकोट।

२०१/- श्रीमान् प्रकाशचन्द गम्भीरचन्दजी सेमारीवाले, अहमदाबाद; श्रीमती कान्तीदेवी ध.प. ओमप्रकाश कासलीवाल, जयपुर।

१५१/- श्रीमान् रामजीभाई खोड़ाभाई पटेल, राजकोट।

१२१/- श्रीमती निर्मलाबेन किशोरभाई शाह, राजकोट।

१११/- स्व. गुलाबबेन नथुरादास भाई डूँगर, राजकोट।

१०१/- श्रीमान् महावीर कुमार ताराचन्दजी जैन, जयपुर; श्रीमती कमलादेवी सोगानी, जयपुर; श्रीमती शान्ता विमलचन्दजी जैन, इन्दौर; श्रीमान् गोरीचन्द विमला जैन, जोधपुर; श्रीमान् गणेश जयराम भाई पटेल, राजकोट; श्रीमती ज्योतिबेन देसाई, राजकोट; श्रीमती शारदाबेन मेहता, राजकोट; श्रीमान् डी. के. मेहता, राजकोट; प्रो. बिन्दुभाई मेहता, राजकोट; श्रीमती हीराबेन महेशभाई शाह, राजकोट; श्रीमती सरोजबेन पारेख, राजकोट; श्रीमान् डी. पी. शाह, राजकोट; श्रीमती हंसाबेन देसाई, राजकोट; श्रीमान् प्रमोदराय उत्तमचन्द दोशी, राजकोट; श्रीमान् प्रागदास त्रिलोकनभाई शाह, राजकोट; श्रीमती भानुबेन लवजीभाई पटेल, राजकोट; श्रीमान् मनोहरलाल उत्तमचन्द दोशी, राजकोट; श्रीमान् मुकेश विट्ठलदास मणियार, राजकोट; श्रीमती नवलबेन मगनलाल शाह हस्ते ज्योत्स्नाबेन, राजकोट; श्रीमती पुष्पाबेन जमनादास संघवी, राजकोट; श्रीमती शान्ताबेन चन्दुलाल, राजकोट; श्रीमान् चमनलाल प्रेमचन्दभाई शाह, राजकोट; श्रीमान् नानजीभाई पटेल, राजकोट; श्रीमान् रतिलाल रायचन्दभाई दफ्तरी, राजकोट; श्रीमती पुष्पाबेन गोसलिया, राजकोट; श्रीमती कान्ताबेन कामदार, राजकोट; श्रीमती प्राणपतबेन देसाई, राजकोट।

५१/- श्रीमान् हिंमतलाल मोहनदास मेहता, राजकोट।

४३,४३३/- योग

बन्धाधिकार

अथ प्रविशति बंधः।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत् ।
क्रीडंतं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत् ॥
आनंदामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाट्यत् ।
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥ १६३ ॥

(दोहा)

रागादिकतैं कर्मकौं, बन्ध जानि मुनिराय ।
तजैं तिनहिं समभाव करि, नमूँ सदा तिन पाँय ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब बन्ध प्रवेश करता है।' जिसप्रकार नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है; उसीप्रकार रंगभूमि में बन्धतत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है।

उसमें प्रथम ही, सर्व तत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान बन्ध को दूर करता हुआ प्रगट होता है, इस अर्थ का मंगलरूप काव्य कहते हैं –

श्लोकार्थ – [राग-उद्गार-महारसेन सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा] जो (बन्ध) राग के उदयरूपी महारस (मदिरा) के द्वारा समस्त जगत को प्रमत्त (मतवाला) करके, [रस-भाव-निर्भर-महा-नाट्येन क्रीडन्तं बंधं] रस के भाव से (रागरूपी मतवालेपन से) भरे हुए महा नृत्य के द्वारा खेल (नाच) रहा है– ऐसे बन्ध को [धुनत्] (उड़ाता) – दूर करता हुआ, [ज्ञानं] ज्ञान [समुन्मज्जति] उदय को प्राप्त होता है। (वह ज्ञान) [आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि] आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है, [सहज-अवस्थां स्फुटं नाट्यत्] अपनी ज्ञातृक्रियारूप सहज अवस्था को प्रगट नचा रहा है, [धीर-उदारम्] धीर है, उदार है (अर्थात् महान विस्तारवाला,

निश्चल है) [अनाकुलं] अनाकुल है (अर्थात् जिसमें किंचित् भी आकुलता का कारण नहीं है) [निरुपधि] उपाधि रहित है (अर्थात् जो परिग्रह रहित है या जिसमें कोई परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है - ऐसा है।)

भावार्थ – बंधतत्त्व ने रंगभूमि में प्रवेश किया है, उसे दूर करके जो ज्ञान स्वयं प्रगट होकर नृत्य करेगा, उस ज्ञान की महिमा इस काव्य में प्रगट की गई है। ऐसा अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहो ॥ १६३ ॥

हिन्दी मंगलाचरण पर प्रवचन

हिन्दी टीकाकार पण्डित जयचंदजी मंगलाचरण करते हुए कहते हैं कि - पर्याय में जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विकारी भाव होते हैं, उनसे कर्म बन्ध होता है। ये दया-दान, व्रत-नियम, पूजा-भक्ति आदि तथा हिंसा, झूठ आदि के सभी शुभाशुभ भाव बन्ध के भाव हैं।

महाव्रतादि के शुभराग रूप व्यवहारचारित्र के परिणाम भी बन्धनरूप हैं। जो मुनिराज इन शुभ परिणामों को बन्धनरूप जानकर अन्तर में एकाग्रता द्वारा वीतरागभाव को प्रगट करके त्याग देते हैं और मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें हमारा त्रिकाल वन्दन है।

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण आनन्द का नाथ अभेदरूप एक ज्ञायकभावमय वस्तु है। मुनिराज अपने ऐसे निज आत्मद्रव्य में अन्तर एकाग्रता द्वारा स्थिर होकर परम शान्तरूप वीतरागभाव को - साम्यभाव को प्रगट कर लेते हैं और उसके द्वारा राग को - बन्ध को दूर करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

हिन्दी टीकाकार पण्डित जयचंदजी छावड़ा इस मंगलाचरण में ऐसे मुनिराज को सदैव वन्दन करते हैं।

अहा ! शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से जिनको अत्यन्त निर्विकार परिणमन हुआ है तथा कर्मबन्धन टल गया है; उन मुनिराज के चरणकमल में मैं नित्य वंदन करता हूँ।

कलश १६३ पर प्रवचन

जिसतरह कलाकार पात्र का भेष धारण कर रंगमंच पर प्रवेश करता है, उसीतरह यहाँ समयसार नाटक की रंगभूमि में जीव वन्धतत्त्व के भेष में प्रवेश करता है। यहाँ सर्वप्रथम टीकाकार ने सर्वतत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला तथा वंध को वन्धरूप पहचानकर उसे त्याग करनेवाले सम्यग्ज्ञान को स्मरण करते हुए मंगलरूप काव्य कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि बन्ध अर्थात् राग की एकता बुद्धिरूप मदिरा ने जगत के जीवों को प्रमत्त अर्थात् पागल कर दिया है। चाहे अशुभराग हो या शुभराग – दोनों प्रकार के रागभाव आत्मा के स्वरूप नहीं हैं।

देखो ! यह अरहंत भगवान की बात नहीं है, शुद्धपर्यायरूप से परिणमित अरहंत परमात्मा की अपेक्षा यह कथन नहीं है। यह तो शुद्ध चैतन्यस्वभावमय वीतरागस्वभावी त्रैकालिक कारणपरमात्मा, जो सदैव अपने अन्दर विराजता है; उसकी वात है। उसके स्वरूप में शुभाशुभ भाव नहीं हैं।

वात कुछ सूक्ष्म है, परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। अतः स्पष्टीकरण करने के लिए कहते हैं कि राग के एकत्व रूप मदिरा से सारा जगत मतवाला हो रहा है।

अहा ! अपने ही अन्दर तीनलोक का नाथ भगवानस्वरूप निज आत्मा विराज रहा है। पर हमें उसकी पहचान नहीं होने से उसकी महिमा नहीं आती। हम तो राग में ही अटके हैं। मोह की गहलता में रागादिभाव को अपना स्वरूप और शुभभाव को भला मानकर उसी में अटके हुए हैं। हमें अपने स्वरूप और अनंत शक्तियों की कुछ भी सुध-बुध नहीं है। इसतरह सारा जगत मोह के महारस में उन्मत्त हो रहा है।

आगे कहेंगे कि वड़े-वड़े नामधारी पंचमहाव्रतों के धारी द्रव्यलिंगी मुनि भी, जो कि हजारों रानियों और राज्य वैभव का त्याग करके जंगल में वास करते हैं, इस मोह के महारस में प्रमत्त होकर 'ये महाव्रतादि के शुभरागरूप

भाव मेरे हैं' इसप्रकार राग के साथ एकत्व करके उन्मत्त हो रहे हैं। अहा ! कैसी विचित्र स्थिति है ?

सारी दुनिया से निराला वीतरागता का मार्ग तो कोई जुदी ही वस्तु है। वह तो मार्ग ही कोई अलौकिक है। उसमें वाद-विवाद से कहीं पार नहीं पड़ती।

भगवान आत्मा सहज आनन्दस्वरूप प्रभु एक ज्ञायकभावरूप से सदा अपने अन्दर में विराजमान है। उसे भूलकर संसारी जीवों की जो राग में रुचि है, वह मिथ्यात्वभाव है, बंधभाव है। वह मिथ्यात्व का रस – बंध का रस ही संपूर्ण जगत को उन्मत्त करके नृत्य के अखाड़े में नचा रहा है।

अब कहते हैं कि जिस बंध ने संपूर्ण जगत को गहल करके – मोह में मूर्छित करके उन्मत्त कर दिया है; उस बंध को उखाड़ फेंकने वाला सम्यग्ज्ञान उदित होता है। सम्यग्दृष्टि धर्मीपुरुष जो कि रागरहित – बंधरहित – सदा अबंधस्वरूप ज्ञानानन्दमयी भगवान आत्मा का अनुभव करता है; वह बंध का अभाव करता हुआ सम्यग्ज्ञान की ज्योति जलाता है। जिसके ज्ञान में सच्चिदानन्दस्वरूप नित्य अबन्ध भगवान आत्मा आया, उसे आत्मा की उपलब्धि होती है और जिस बंध ने सारे जगत को उन्मत्त बना रखा है, उसे वह आत्मानुभवी आत्मा क्षण भर में नष्ट कर देता है।

अरे ! अज्ञानी ने राग के रस की रुचि के कारण चौरासी के अवतार धारण करते हुए कौआ, कुत्ता, कीड़ा-मकोड़ा और एकेन्द्रियादि निगोद के अवतारों में अनन्त-अनन्तभव धारण किए हैं। अहा ! इस बन्ध ने इस जीव को गाफिल करके चार गतिरूप संसार में राग का नाच नचाया है।

आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि ऐसे बंध को अन्तर में उदित हुए सम्यग्ज्ञान ने उखाड़ दिया है। अहाहा ...... ! मैं तो राग के सम्बन्ध से रहित अबन्धस्वरूप शुद्ध चैतन्यमय त्रिकाली भगवान आत्मा हूँ; जिसको ऐसा ज्ञान हुआ, वह सम्यग्ज्ञानी बंध को उखाड़ फेंकता है।

प्रश्न – क्या इस सम्यग्ज्ञान के प्रगट होने के साथ सामायिक, प्रतिक्रमण व्रत-उपवास करना जरूरी नहीं है ?

उत्तर – भाई ! अज्ञानी को तो सामायिक, प्रतिक्रमण के असली स्वरूप का पता ही नहीं है; हाँ, ज्ञानी इनके सही स्वरूप को जानता है। अत: वह भूमिकानुसार इन्हें करने का प्रयास करता है; पर सम्यग्ज्ञान उदित होते ही इनकी पूर्णता भी प्रकट हो जाये – यह आवश्यक नहीं है। हाँ, इनका आदर और आंशिक प्रारंभ ज्ञानी के हो जाता है।

वास्तव में अन्दर में ज्ञानानंद की मूर्ति प्रभु आत्मा नित्य विराज ही रहा है। जब उसका ज्ञान-श्रद्धान प्रकट हुआ और उसी में आंशिक रूप से जमने लगा तो उस जमने को ही भगवान सामायिक कहते हैं। आत्मा में स्थिरता धीरे-धीरे क्रमश: होती है। जिसमें अतीन्द्रिय आनंद का परम अद्भुत आह्लादकारी समरस प्रगट होता है, उसे सामायिक कहते हैं।

आत्मा आनन्द का रसकंद प्रभु है। उसमें एकाग्र होकर ठहरने पर आनन्द के अमृत का स्वाद प्रगट होता है। यह पुण्य-पाप के रस का स्वाद तो जहर का स्वाद है। इसके स्वाद में सारा जगत पागल हो रहा है। जब यह जीव इस पुण्य-पाप के रस से भिन्न पड़कर अपने शुद्ध चैतन्य रसकंद परमानंद मूर्ति स्वरूप प्रभु आत्मा में दृष्टि करता है, तब उस राग व बंध को उखाड़ देता है। अन्तर्दृष्टि करने पर जो अबंधस्वभावी एक ज्ञायकमात्र आत्मा की प्रतीति व ज्ञान प्रगट होता है, बस उसी का नाम धर्म है।

सम्यग्ज्ञान प्रगट होने पर भगवान आत्मा नित्य ही आनन्दरूप अमृत का भोजन करनेवाला है। पहले अनादि से आत्मा की रागरूप दशा थी, दु:खरूप दशा थी; परन्तु अब राग से, पुण्य-पाप के विकल्प से भेदज्ञान होने पर आत्मा को चिदानन्दरसकन्द स्वरूप अपने भगवान आत्मा का ज्ञान हुआ है, सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है। अत: अब वह नित्य ही आनन्दस्वरूप अमृत का भोजन करता है। भगवान आत्मा सहजानन्दस्वरूप नित्य आनंदस्वरूप है और उसके स्वानुभव द्वारा प्रगट हुआ ज्ञान पर्याय में नित्य आनन्द का भोजन करनेवाला है।

आनन्दरसकन्दमय आत्मप्रभु जैसा स्वभाव से है, वैसा ही अनुभव में आने का नाम अमृत का प्याला है। यह अमृत का प्याला जिसको एकवार भी प्रगट हो जाता है, फिर उसे वह सदैव के लिए भी प्रगट हुए बिना नहीं रहता।

वर्तमान में जहां लोगों के अन्तर में सांसारिक रागादि भावों की होली सुलग रही है, वहाँ तो आनन्दरसकंद प्रगट होना संभव है ही नहीं, पर जहाँ धर्म के नाम पर शुभराग को उपादेय मानने का प्रतिपादन होता हो, वहाँ भी अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद प्राप्त होना संभव नहीं है। जहाँ सत्य सुनने को ही नहीं मिलता, वहाँ सत्य का विचार कैसे आ सकता है ?

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। उसके अनुभव से प्रगट हुआ ज्ञान बंध का छेद करके नित्य आनन्दामृत का भोजन करता है। जिन्हें इन्द्रियों के विपयों में सुख भासित होता है, उन विषयों के भिखारियों को अतीन्द्रिय आनन्द के रस का स्वाद कहाँ से आ सकेगा, अनुपम आनन्द के रस का भोजन कहाँ से प्राप्त होगा ?

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि भी तो इन्द्रियों के विषयों का भोजी होता है, उसे भी तो राग होने से इन्द्रियों के विषय अच्छे लगते हैं; फिर उसे 'आनन्दामृत नित्य भोजि' क्यों कहा गया है ?

समाधान – जिस सम्यग्दृष्टि को आनन्द के नाथ भगवान आत्मा का अनुभव हुआ है, उसे सुखस्वरूप आत्मा की प्रतीति हुई है, इसकारण मुख्य रूप से तो वह नित्य आनन्द का ही भोजी है। उसे उस समय जो किंचित् राग है, उसे यहाँ गौण करके ऐसा कहा है। इस कथन से यह नहीं समझना चाहिए कि वह केवल अतीन्द्रिय आनन्द को ही भोगता है, उसे दुःख होता ही नहीं है। जितना राग है उतना रागजनित लौकिक सुख या दुःख भी है। यहाँ जो उसे नित्य आनन्दभोजी कहा है, वह तो वीतरागता का अंश प्रगट होने की मुख्यता से कहा है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि समकिती को जितना (किंचित्) राग है, उतना दुःख भी है। जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती, तबतक दया, दान, व्रत,

भक्ति इत्यादि के विकल्प उसे होते ही हैं और वे सब रागरूप हैं और इसके कारण दुःख का वेदन भी है। पर यहाँ उसकी मुख्यता न करके अतीन्द्रिय आनन्द की मुख्यता से उसे नित्य आनन्दभोजी कहा है।

अहा ! दृष्टि (दर्शन) निर्विकल्प है तथा उसका विषय नित्यानंद प्रभु अभेद एक निर्विकल्प है। अतः दृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि को नित्य आनन्द का ही अनुभव है – ऐसा कहा है। बाकी दृष्टि के साथ जो ज्ञान प्रगट है, वह तो ऐसा यथार्थ जानता है कि जितना राग शेष है, उतना दुःख का वेदन है तथा उतना बंध भी है, जो कि द्रव्यबंध का कारण बनता है।

जिसतरह सूर्य का संयोग पाते ही हजार पांखुड़ी का सहस्त्रदल कमल खिल उठता है; उसीतरह अन्तर्दृष्टि होते ही, भगवान आत्मा का सान्निध्य पाते ही आत्मा के असंख्य प्रदेशों में समकित का सहस्त्रदल कमल खिल उठता है। जो आनन्द शक्ति अपेक्षा द्रव्य में पड़ा था, वह पर्याय में प्रगट हो जाता है, बाहर में उछल पड़ता है, उल्लसित हो जाता है। बस, इसी का नाम समकिती की निर्जरा है। जो ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दरूपरस का नित्यभोजी होता है, उसे ही निर्जरा होती है।

'सहज-अवस्था स्फुटं नाट्यत्' कहकर उस ज्ञान की विशेषता प्रगट करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'वह ज्ञान अपनी क्रियारूप सहज अवस्था को प्रगट नचा रहा है।'

कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान जाननक्रियारूप सहज अवस्था से नाच रहा है। पहले अज्ञान दशा में जहाँ राग नाचता था, वहीं अब सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर जाननक्रिया मात्र अपनी सहज निर्मल अवस्था को प्राप्त हुई है।

तथा वह ज्ञान 'धीरं उदारं' अर्थात् धीर है, उदार है। अहा ! सम्यग्ज्ञानी के ज्ञान को धीर कहकर आचार्य यह कहना चाहते हैं कि वह ज्ञान अपने स्वरूप में समाकर रहता है। यहाँ-वहाँ के बाह्य कर्तृत्व में नहीं अटकता-भटकता। अनुकूलता-प्रतिकूलता में जहाँ अज्ञानी हर्ष-विषाद करने लगता है, आकुल-व्याकुल हो जाता है; उन्हीं परिस्थितियों में ज्ञानी ज्ञाता-दृष्टा रहकर समताभाव

धारण कर लेता है – खेदखिन्न नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानी का ज्ञान महाधीर है। बस, इसी के कारण वह निरन्तर अन्तःआराधना में लगा रहता है।

वह ज्ञान उदार है। साधक की अनाकुल आनंद की धारा अविरल रूप से वृद्धिंगत होकर परम आनन्द की ओर गमन करती रहती है, प्रवाहित होती रहती है। इसतरह वह अनन्त पुरुषार्थ को जागृत करे – ऐसा उदार है। भीषण प्रतिकूल प्रसंगों में भी अन्दर से धारावाही शान्ति की धारा निकलती ही रहती है – ऐसा उदार है।

वह ज्ञान अनाकुल है। उस ज्ञान में जरा भी आकुलता नहीं होती। ज्ञानी को जरा भी हर्ष-विषाद नहीं होता। उसे जो किंचित् अस्थिरता होती है, वह यहाँ गौण है। वास्तव में तो वह निराकुल आनन्द का भोजन करनेवाला ही है। जिसका केवल जानना मात्र स्वरूप है, उसमें आकुलता कैसी ?

वह ज्ञान राग की उपाधि से रहित है। सम्यग्ज्ञान परिग्रह से रहित है। उसमें कोई भी परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है।

इसप्रकार राग से भिन्न पड़कर भगवान आत्मा में अन्तर एकाग्र होने पर प्रगट हुआ ज्ञान बंध को उखाड़ने वाला, आनन्दामृत का नित्य भोजन करनेवाला, जानन-क्रियारूप सहज अवस्था को नचाता हुआ धीर, उदार, अनाकुल और निरुपाधिस्वरूप है। ऐसा सम्यग्ज्ञान महामंगलरूप है।

कलश १६३ के भावार्थ पर प्रवचन

समयसार को नाटक की उपमा दी है; इसलिए बंधतत्त्व को एक रंगमंच पर पात्र के रूप में प्रस्तुत कराया है। वस्तुतः राग का उपयोग में एकत्व होने का नाम बंधतत्त्व है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। उसके उपयोग में – ज्ञान में विकार का – राग का एकत्व होना बंधतत्त्व है। जड़कर्मों का बन्ध तो बाह्य निमित्त मात्र है।

यहाँ इस कलश में उस सम्यग्ज्ञान की महिमा प्रगट की है, जो उस बंधतत्त्व को नाश करके स्वयं प्रगट होकर आत्मा के उसी रंगमंच पर नृत्य करेगा, जिस पर अभी तक (अज्ञानदशा में) बंध नाच रहा था।

यहाँ कहते हैं कि वह ज्ञान महामहिमावंत है, मंगलमय है; जिसने उपयोग के साथ हुई राग की एकता को तोड़ डाला है तथा जो स्वयं नित्यानंद स्वरूप भगवान आत्मा में आश्रय लेकर स्वरूप में एकत्वपने से परिणमा है।

उपयोग में राग का एकत्व ही मुख्यरूप से बंध है। ऐसे बंध को नाश करके प्रगट होनेवाला ज्ञान निराकुल आनन्द का नृत्य करता है। पहले जो राग के एकत्व में नाचता था, वह ज्ञान अब राग से भिन्न होकर – भेदज्ञान करके निज ज्ञानानन्दस्वभाव में एकत्व स्थापित करके आनन्द का नाच नाचता है। इसी का नाम सम्यग्ज्ञान है तथा वह आनन्द देनेवाला ज्ञान अत्यन्त धीर व उदार होने से महामंगलरूप है।

अब कहते हैं – 'ऐसा अनंतज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहे।'

भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त सामर्थ्य से युक्त अनंत ज्ञानस्वरूप द्रव्य है। इसका ज्ञानस्वभाव अपरिमित है, असीमित है। क्षेत्र से भले ही आत्मा शरीर प्रमाण व असंख्यात प्रदेशी हो, पर इसका स्वभाव तो अनन्त ज्ञानस्वरूप है।

यहाँ कहते हैं कि ऐसा अनन्तज्ञानस्वरूप आत्मा मेरे वर्तमान ज्ञान में सदा प्रगट रहे। वर्तमान में जैसा अनंतज्ञानस्वरूप आत्मा मेरे ज्ञान में झलका है, ऐसा ही अनंतकाल तक झलकता रहे।

अबतक जो पर्यायबुद्धि में विकार के एकत्वरूप परिणमन था, द्रव्यदृष्टि से, स्वभावदृष्टि से उसका नाश करने से प्रगट हुए सम्यग्ज्ञान में अनंतज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञात हुआ है और उस ज्ञान का परिणमन शुद्ध निराकुल निर्मल आनन्दरूप प्रगट हुआ है। वह अनंतज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहे। •

समयसार गाथा २३७ से २४१

जह णाम को वि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहिं वायामं ॥ २३७॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाण मुवघादं ॥ २३८॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किंपच्चयगो दु रयबंधो ॥ २३९॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टं तो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रायादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण ॥ २४१॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥ २३७॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानं करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥ २३८॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चिंत्यतां खलु किंप्रत्ययिकस्तु रजोबंधः ॥ २३९॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २४०॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु ।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥ २४१॥

इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः, स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ स्थितः, शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते। तस्य कतमो बंधहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्ता नामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात्। न शस्त्रव्यायामकर्म, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसंगात्। नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभ्यक्तानामपि तैस्तत्प्रसंगात। न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मिंस्तत्प्रसंगात्। ततो

न्यायबलेनैवैतदायातं, यत्तस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यंगकरणं स बंधहेतुः। एवं मिथ्यादृष्टिः आत्मनि रागादीन् कुर्वाणः, स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, कर्मरजसा बध्यते। तस्य कतमो बंधहेतुः? न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुलो लोकः, सिद्धनामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात्। न कायवाङ्मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसंगात्। नानेकप्रकारकरणानि, केवलज्ञानिनामपि तत्प्रसंगात्। न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, समितितत्पराणामपि तत्प्रसंगात्। ततो न्यायबलेनैवैतदायातं, यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतुः।

अब बन्धतत्त्व के स्वरूप का विचार करते हैं, उसमें पहिले, बन्ध के कारणों को स्पष्टतया बतलाते हैं :-

ज्यों तेल मर्दन कर पुरुष रेणु बहुल स्थान में।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से ॥ २३७॥
तरु ताड़ कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥ २३८॥
बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध किसकारण हुआ ॥ २३९॥
चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥ २४०॥
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि को करते हुए।
सब करमरज से लिप्त होते हैं जगत में अज्ञजन ॥ २४१॥

गाथार्थ :- [यथा नाम] जैसे [कः अपि पुरुषः] कोई पुरुष [स्नेहाभ्यक्तः तु] (अपने शरीर में) तेल आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर [च] और [रेणुबहुले] बहुत-सी धूलिवाले [स्थाने] स्थान में [स्थित्वा] रहकर [शस्त्रैः] शस्त्रों के द्वारा [व्यायामम् करोति] व्यायाम करता है, [तथा] तथा [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] ताड़, तमाल, केल, बाँस, अशोक इत्यादि वृक्षों

को [छिनत्ति] छेदता है [भिनत्ति च] भेदता है, [सचित्ताचित्तानां] सचित्त तथा अचित्त [द्रव्याणाम्] द्रव्यों का [उपघातम्] उपघात (नाश) [करोति] करता है; [नानाविधैः करणैः] इसप्रकार नानाप्रकार के करणों के द्वारा [उपघातं कुर्वतः] उपघात करते हुए [तस्य] उस पुरुष के [रजोबंधः तु] धूलिका बंध (चिपकना) [खलु] वास्तव में [किंप्रत्ययिकः] किस कारण से होता है [निश्चयतः] यह निश्चय से [चिंत्यतां] विचार करो। [तस्मिन् नरे] उस पुरुष में [यः सः स्नेहभावः तु] जो वह तेल आदि की चिकनाहट है [तेन] उससे [तस्य] उसे [रजोबंधः] धूलिका बन्ध होता है (चिपकती है) [निश्चयतः विज्ञेयं] ऐसा निश्चय से जानना चाहिये, [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष शारीरिक चेष्टाओं से [न] नहीं होता। [एवं] इसीप्रकार [बहुविधासु चेष्टासु] बहुत प्रकार की चेष्टाओं में [वर्तमानः] वर्तता हुआ [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [उपयोगे] (अपने) उपयोग में [रागादीन् कुर्वाणः] रागादि भावों को करता हुआ [रजसा] कर्मरूपी रज से [लिप्यते] लिप्त होता है - बँधता है।

टीका – जैसे - इस जगत में वास्तव में कोई पुरुष स्नेह (तेल आदि चिकने पदार्थ) से मर्दनयुक्त हुआ, स्वभावतः ही बहुत-सी धूलिमय भूमि में रहा हुआ, शस्त्रों के व्यायामरूपी कर्म (क्रिया) को करता हुआ अनेक प्रकार के करणों के द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, (उस भूमि की) धूलि से बद्ध होता है - लिप्त होता है। (यहाँ विचार करो कि) इनमें से उस पुरुष के बंध का कारण कौन है ? पहले, जो स्वभाव से ही बहुत-सी धूलि से भरी हुई भूमि है वह धूलिबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है ऐसे उस भूमि में रहे हुए पुरुषों को भी धूलिबंध का प्रसंग आ जाएगा। शस्त्रों का व्यायामरूपी कर्म भी धूलिबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है उनके भी शस्त्र व्यायामरूपी क्रिया के करने से धूलिबंध का प्रसंग आ जाएगा। अनेक प्रकार के करण भी धूलिबंध के कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है उनके भी

अनेक प्रकार के करणों से धूलिबंध का प्रसंग आ जाएगा। सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी धूलिबन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया; उन्हें भी सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करने से धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा।

इसलिए न्याय के बल से ही यह फलित (सिद्ध) हुआ कि, उस पुरुष में तैल का मर्दन करना बंध का कारण है। इसीप्रकार – मिथ्यादृष्टि अपने में रागादिक करता हुआ, स्वभाव से ही जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ है ऐसे लोक में काय-वचन-मन का कर्म (क्रिया) करता हुआ, अनेक प्रकार के करणों के द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, कर्मरूपी रज से बँधता है। (यहाँ विचार करो कि) इनमें से उस पुरुष के बन्ध का कारण कौन है ? प्रथम, स्वभाव से ही जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ है ऐसा लोक बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धों के भी – जो कि लोक में रह रहे हैं – बंध का प्रसंग आ जाएगा। काय-वचन-मन का कर्म (अर्थात् काय-वचन-मन की क्रियास्वरूप योग) भी बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यातसंयमियों के भी (काय-वचन-मन की क्रिया होने से) बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। अनेक प्रकार के *करण भी बन्ध के कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानियों के भी (उन करणों से) बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जो समिति में तत्पर हैं, अर्थात् जो यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं ऐसे साधुओं के भी (सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं के घात से) बंध का प्रसंग आ जाएगा। इसलिए न्यायबल से ही यह फलित हुआ कि, उपयोग में रागादिकरण (अर्थात् उपयोग में रागादि का करना), बंध का कारण है।

भावार्थ – यहाँ निश्चयनय को प्रधान करके कथन है। जहाँ निर्बाध हेतु से सिद्धि होती है, वही निश्चय है। बन्ध का कारण विचार करने पर निर्बाधतया

*करण-इन्द्रियां

यही सिद्ध हुआ कि – मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन रागद्वेषमोहभावों को अपने उपयोग में करता है, वे रागादिक ही बन्ध के कारण हैं। उनके अतिरिक्त अन्य-बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से परिपूर्ण लोक, मन-वचन-काय के योग, अनेक करण तथा चेतन-अचेतन का घात – बंध के कारण नहीं हैं; यदि उनसे बन्ध होता हो तो सिद्धों के, यथाख्यात चारित्रवानों के, केवलज्ञानियों के और समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों के बन्ध का प्रसंग आ-जाएगा। परन्तु उनके तो बंध होता नहीं है। इसलिए इन हेतुओं में (कारणों में) व्यभिचार (दोष) आया। इसलिए यह निश्चय है कि बन्ध के कारण रागादिक ही हैं।

यहाँ समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों का नाम लिया गया है और अविरत, देशविरत का नाम नहीं लिया। इसका यह कारण है कि अविरत तथा देशविरत के बाह्यसमितिरूप प्रवृत्ति नहीं होती; इसलिए चारित्रमोह संबंधी राग से किंचित् बंध होता है। अतः बन्ध के सर्वथा अभाव की अपेक्षा से उनका नाम नहीं लिया। वैसे अतंरङ्ग की अपेक्षा से तो उन्हें भी निर्बंध ही जानना चाहिए।

समयसार गाथा २३७ से २४१ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

यहाँ 'इस जगत में' कहकर जगत की सिद्धि की है। 'तैल से मर्दन युक्त हुआ' कहकर न केवल साधारण रूप से तेल लगाना कहा, बल्कि खूब मालिश करके चिकनाई युक्त हुआ कहा है।

यह तो मात्र उदाहरण है। इसमें ऐसा कुतर्क करना ठीक नहीं है कि देखो ! भूमि में रहा है कि नहीं ? व्यायामरूपी क्रिया करता है कि नहीं ? व्यवहार की क्रिया करता है कि नहीं ?

बापू ! यहाँ यह प्रश्न नहीं है। यहाँ तो इसका दृष्टांत देकर सिद्धान्त समझाना है। यदि कोई दृष्टान्त में ही कुतर्क करके सत्य तथ्य की अवहेलना करे तो इसका क्या उपाय है ?

यहाँ सचित्त-अचित्त के घात करने की जो बात कही है, उससे ऐसा नहीं समझना कि 'कोई किसी का घात नहीं कर सकता' वाले सिद्धान्त का घात

हो रहा है। वह सिद्धान्त तो अपनी जगह अटल है। यह कथन तो केवल उदाहरण है और एकदेश ही लागू पड़ता है। जब कोई जीव किसी पर का घात कर ही नहीं सकता तो हानि-लाभ भी कैसे कर सकता है ?

यहाँ जो यह कहा है कि सचित्त अर्थात् एकेन्द्रियादि प्राणियों का घात करना तथा अचित्त अर्थात् पत्थर आदि के बने पुतले आदि पर द्वेष प्रगट करके उनकी तोड़-फोड़ करना – इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि कोई किसी परपदार्थ का घात या तोड़-फोड़ कर सकता है। यहाँ तो इस कथन से यह सिद्ध करना है कि जीव परजीवों या परवस्तुओं के घात करने का जो भाव करता है, वह भाव ही उसका कर्म है, कार्य है। परवस्तु या परजीव का घात करना जीव का कार्य नहीं है।

हाँ, जब किसी जीव का घात उसके स्वयं के स्वचतुष्टय की योग्यता से जिससमय होता है और कदाचित् उसीसमय किसी अन्य जीव का भाव उसे घात करने में निमित्त होता है, तब व्यवहार से – उपचार से ऐसा कहा जाता है कि अमुक जीव ने अमुक का घात किया।

यहाँ मूल प्रकरण यह है कि शास्त्रों में जो कर्मबन्ध के अनेक कारण कहे हैं, उनमें वस्तुतः बन्ध के कारण क्या हैं ?

उत्तर में रज का दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्वभावतः रज से भरी भूमि व्यायाम करनेवाले पुरुष के रज-बंध में कारण नहीं है; क्योंकि यदि रज को ही रजबंध का कारण माना जाय तो जिसने तेल से मालिश नहीं की, उसे भी रजबन्ध का प्रसंग प्राप्त होगा; जबकि उसे रजबन्ध होता नहीं है। रजबंध तो तेल से मर्दन युक्त देह वाले पुरुष के ही होता है; अन्य के नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि जिसे तेल लगा है, उसे ही रजबंध होता है। अर्थात् तेल की चिकनाई ही रजबंध का कारण है।

दूसरी बात – हथियारों से किया गया व्यायामरूपी कर्म भी रजबन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिसने तेल मर्दन नहीं किया, उसे

केवल शस्त्र के द्वारा व्यायामरूप की गई क्रिया से रजवन्ध होने का प्रसंग प्राप्त होगा; परन्तु ऐसा होता नहीं है। रजवन्ध तो मात्र उसे ही होता है, जिसने तेल लगा रखा है; अन्य के नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि एकमात्र तेल की चिकनाई ही रजवन्ध का कारण है; शस्त्रों की व्यायामरूप क्रिया वंध का कारण नहीं।

तीसरी वात – अन्य अनेक प्रकार के करण भी रजवंध के करण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तेल का मर्दन नहीं किया, उसे भी अनेक प्रकार के करणों से रजवन्ध होने का प्रसंग प्राप्त होगा; परन्तु ऐसा होता नहीं है। रजवंध तो मात्र उन्हें ही होता है, जिन्होंने तेल का मर्दन किया है; अन्य के नहीं।

चौथी वात – सचित्त व अचित्त वस्तुओं का घात भी रजवंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा मानें तो जिसने तेल मर्दन नहीं किया, उसे भी सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं के घात करने से रजवन्ध का प्रसंग प्राप्त होगा; परन्तु ऐसा भी होता नहीं है।

इस सवसे यह स्पष्ट है कि तेल की चिकनाई ही वंध का कारण है, सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात वंध का कारण नहीं है।

अव सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उपर्युक्त दृष्टान्त को सिद्धान्त पर घटित करते हैं – उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि स्वभावतः कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे इस लोक में मन, वचन व काय की क्रिया करते हुए सचित्त व अचित्त वस्तुओं का घात करते हुए मात्र अपने रागादि भावों से कर्मरज से वँधता है। इन सभी करणों के रहते हुए भी वह एकमात्र अपने रागादि भावों से ही कर्मरज से वँधता है। अन्य कोई भी करण कर्मरज के वंध का कारण नहीं है।

अव कहते हैं कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अपने ज्ञानानन्दस्वरूपी अखण्ड एक चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा को न पहचानते हुए वर्तमान अवस्था में जो शुभाशुभ रागादि भाव होते हैं, उन्हें ही अपना स्वरूप मान लेता है। वह पर निमित्तादि [illegible] एवं संयोगीभावों में अटका रहता है। जवकि जड़ द्रव्य तो चैतन्यस्वभाव

से बाह्य हैं ही, रागादि भाव भी शुद्ध-चैतन्य से बाहर ही हैं। उन बाह्य भावों को जो अपना जानता है, मानता है; वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। वह कर्मरज से बँधता है।

अब यहाँ पूछते हैं कि राग से संयुक्त अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहुकर्मयोग्य रजकणों से ठसा-ठस भरे लोक में मन-वचन-काय की क्रिया करता है और अनेक करणों (हस्तादि) के द्वारा सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात करते हुए कर्मरज से बँधता है। तो वहाँ उस अज्ञानी के मूलतः बन्ध का कारण क्या है ?

इस संदर्भ में यह कहा गया है कि प्रथम तो कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा यह लोक बंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो लोकाग्र में स्थित सिद्ध भगवन्तों के भी बंध का प्रसंग प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा है नहीं। लोकाग्र में स्थित सिद्धों को वहाँ विद्यमान कर्मरज कणों से बन्ध नहीं होता। कर्मबंध तो राग से संयुक्त पुरुष के ही होता है। इसलिए उपयोग में राग का संयुक्तपना ही बंध का कारण है।

शुद्ध चैतन्याकार स्वभाव में शुभभाव भला व अशुभभाव बुरा – ऐसे दो भाग नहीं हैं। मिथ्यादृष्टि ने अज्ञान के कारण अपने शुद्ध स्वरूप में ऐसे दो भाग कर रखे हैं, किन्तु यह तो विषमता है और यही विषमता बन्ध का कारण है। भगवान सिद्ध तो पूर्ण समभाव – वीतरागभाव से परिणमते हैं। इसकारण वहाँ कर्म योग्य पुद्गल होते हुए भी उनसे सिद्ध भगवान के बंध नहीं होता।

दूसरे, काय, वचन व मन का कर्म भी बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यात संयमी के भी बन्ध का प्रसंग आयेगा। अकषायी वीतरागी मुनिवरों के भी योग की क्रिया होती है; उन्हें भी बंध होना चाहिए। जबकि ऐसा होता नहीं है। देखो न ! ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान की शुक्लध्यान अवस्था में भी मन का निमित्त तो होता है, मन की क्रिया भी होती है, फिर भी वहाँ कषाय न होने से बन्ध नहीं होता; क्योंकि योग की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है।

तीसरे, अनेक प्रकार के करण भी वंध के कारण नहीं हैं, यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानियों के भी वन्ध का प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि उनके भी करण अर्थात् इन्द्रियाँ हैं। परन्तु इन्द्रियाँ होते हुए भी राग के अभाव में उनके कर्मवन्ध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि अनेक प्रकार के करण अर्थात् इन्द्रियाँ आदि भी वंध के कारण नहीं हैं। एकमात्र राग ही वन्ध का कारण है।

चौथे, सचित्त व अचित्त वस्तुओं का घात भी वंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जो समिति में तत्पर हैं उन्हें भी वंध का प्रसंग प्राप्त होगा। जबकि ऐसा होता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सचित्त व अचित्त वस्तुओं का घात भी वन्ध का कारण नहीं है।

सारांश यह है कि उपयोग में वर्तता राग ही एकमात्र वंध का कारण है।

अहाहा......! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु तो सदा चैतन्य उपयोगस्वरूप है। उसके परिणमन रूप उपयोग ज्ञान में राग की एकता करना वंध का कारण है। अकेले राग का होना भी वन्ध का मुख्य कारण नहीं है। वंध का मुख्य कारण तो राग में एकताबुद्धि है। यहाँ दर्शनशुद्धि की अपेक्षा कथन किया है; क्योंकि यहाँ मिथ्यादृष्टि को जो राग में एकताबुद्धि है, वही वन्ध का कारण है – यह सिद्ध करना है। तथा सम्यग्दृष्टि के जो अल्प राग है और उससे मिथ्यात्व व अनन्तानुवंधी के अतिरिक्त जो अल्पवंध होता है, उसे यहाँ गौण करके ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि का राग वन्ध का कारण ही नहीं है।

समकिती को अस्थिरता संवंधी राग के कारण जो अल्प वंध होता है, उसे मुख्य न करके अर्थात् उसे गौण करके केवल मिथ्यादृष्टि के राग को ही यहाँ वंध का कारण सिद्ध करना है।

११वीं गाथा में जो ऐसा कहा गया है कि 'व्यवहार अभूतार्थ है, असत्यार्थ है' वहाँ ११वीं गाथा में व्यवहार को असत्यार्थ कहकर १२वीं गाथा में ही जो यह कह दिया है कि – 'व्यवहार सत् है, जाना हुआ प्रयोजनवान है' उसे भी नहीं भूलना चाहिए। अतः जहाँ जैसी जो अपेक्षा हो, उसे वरावर समझना चाहिए।

भाई ! इसका अर्थ यह है कि ११वीं गाथा में समकिती को शुद्धनय का आश्रय कराना इष्ट है; क्योंकि उसके बिना आत्मा का आश्रय संभव नहीं है, शुद्धनय के आश्रय से ही वह समकिती है – यह सिद्ध करना है। इसकारण वहाँ व्यवहार को असत्यार्थ कहा है और १२वीं गाथा में व्यवहार को जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है।

इसीकारण तो पण्डित जयचन्दजी ने स्पष्ट किया है कि व्यवहार को जो असत्य सिद्ध किया है, वह गौण करके असत्य सिद्ध किया है; निषेध करके नहीं। बंध के इस प्रकरण में भी ऐसा ही समझना। अन्यथा अभिप्राय ग्रहण करके स्वच्छन्द नहीं होना।

अहा ! आश्रय करने के सम्बन्ध में त्रिकाली ध्रुव द्रव्य ही मुख्य है। इसकारण वहाँ ११वीं गाथा में द्रव्यस्वभाव को मुख्य करके उसे निश्चय कहा है, सत्यार्थ कहा है और पर्याय को व्यवहार कहकर असत् कहा है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यस्वभाव जो कि मुख्य है, उसकी दृष्टि करने पर ही सम्यक्त्व होता है; इसलिए वही सत्यार्थ है। ऐसा कहकर पर्याय को गौण किया है। यद्यपि पर्याय को असत्यार्थ कहा, पर ऐसा कहकर उसका निषेध नहीं किया है।

भाई ! यह तो वीतराग का मार्ग है, अतः यहाँ तो एकमात्र यह प्रयोजन है कि वीतरागता कैसे हो ? अतः सर्वत्र वीतरागता का ही रहस्य प्रगट किया गया है।

पंचास्तिकाय की १७वीं गाथा में आया है कि सब शास्त्रों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता ही है। अहा ! चारों ही अनुयोगों का सार वीतरागता है।

यह वीतरागता पर्याय में प्रगट कैसे हो ? इसके समाधान में कहते हैं कि त्रिकाली, सत्यार्थ, सदा वीतरागस्वभावी, एक भगवान आत्मा का आश्रय करने से ही वीतरागता प्रगट होती है। अतः उस त्रिकाली ध्रुव निज परमात्मा में ही दृष्टि करना। यही चारों अनुयोगों का सार है – ऐसा सिद्ध हुआ।

भाई ! यह हम सबके हित की वात है। हमारा हित कैसे हो ? इस प्रश्न का एकमात्र यही समाधान है कि – परमात्मस्वरूप परमसत्‌स्वरूप

सच्चिदानस्वरूप प्रभु अन्तर में नित्य साक्षात् विराजमान है। ऐसे निज परमात्मस्वभाव के आश्रय से ही पर्याय में निराकुल आनन्दरूप परमात्मपद प्रगट होता है और उसे प्राप्त करना ही हमारा प्रयोजन है। उस परमात्मस्वरूप निजात्मा का आश्रय करने से ही हमें सुख की दशा प्रकट हो जाती है। इसके सिवाय सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

यहाँ यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि उपयोग में राग का करना अर्थात् राग के साथ एकत्वबुद्धि करना ही बन्ध का कारण है। तथा उपयोग में वीतरागस्वरूप को प्रगट करना अबन्ध का कारण है, आनन्द का कारण है, सुख व शान्ति का कारण है। एकमात्र यही सत्य है।

छहढाला में कहा है –

"लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दंद-फंद निज आतम ध्याओ॥"

भाई! तेरा भगवान तेरे ही अन्दर पूर्ण सुख का धाम प्रभुस्वरूप विराजमान है। वहाँ जा न! उसका आश्रय ले न! उसी का पक्षपाती हो जा न! तू राग व पर्याय का पक्षपाती क्यों हो रहा है? यह तो दुःख का ही मार्ग है।

यहाँ सिद्धान्त में यह कहते हैं कि – उपयोग में राग का करना, ज्ञान के साथ राग को मिलाना ही तो बंध का कारण है।

प्रश्न – मिथ्यात्व के जाने के बाद ज्ञानी को जो राग रहता है, वह बंध का कारण है या नहीं?

समाधान – ज्ञानी का यह राग का बन्धन मिथ्यात्व के बन्ध की अपेक्षा अत्यन्त अल्प है। इससे इसे गौण करके ज्ञानी के बन्ध नहीं है – ऐसा कहा है; क्योंकि मुख्य रूप से तो ज्ञान में राग का एकत्व रूप मिथ्यात्व ही बन्ध का कारण है।

दूसरे प्रकार से कहें तो यहाँ यह नहीं कहा गया है कि व्यवहार रत्नत्रय का राग बंध का कारण है, बल्कि यह कहा गया है कि व्यवहार रत्नत्रय का जो शुभराग या शुभोपयोग है, उसका आत्मा के साथ एकत्व करना, उसे आत्मा

के स्वरूप में शामिल कर दोनों को एक मानने रूप मिथ्या अध्यवसाय बंध का कारण है।

इसके सिवाय जहाँ मोक्ष के कारणों की मीमांसा करनी हो, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही मोक्ष का कारण है तथा व्यवहार रत्नत्रय का राग बंध का कारण है। किन्तु यहाँ तो समकिती के मोक्ष के कारण की व बन्ध के कारण की भिन्नता स्पष्ट करना है। तथा मिथ्यादृष्टि को बंध कैसे होता है – यह सिद्ध करना है। इस कारण यहाँ तो यह कहा है कि – 'राग का उपयोग में एकत्व करना बंध का कारण है।'

यहाँ इस प्रसंग में यदि कोई कहे कि यदि हमें संगठन करना हो, सबको साथ लेकर चलना हो तो थोड़ी-थोड़ी सबकी बात माननी चाहिए। अतः ऐसा क्यों न मान लें कि वीतराग भाव से भी धर्म लाभ होता है और शुभराग से भी। ऐसा मानने से दोनों ही पक्ष राजी रह जाएँगे।

उनसे कहते हैं कि भाई ! यह तेरे हित की बात है। राग का या पुण्यभाव का आत्मा में एकत्व करना बंध का कारण है तथा राग को उपयोग से भिन्न करके निर्मल उपयोग करना अबन्ध या मोक्ष का कारण है। यह एक महासिद्धान्त है। इसमें जरा भी ढील नहीं चल सकती। राग से लाभ मानना तो राग व आत्मा का एकत्व करना है। यह मान्यता तो मिथ्यात्व भाव है। समाज के सगंठन के नाम पर मिथ्यात्व का पोषण होने देना कैसे संभव है ? यह तो अनन्त संसार का कारण है। सत्य में समझ होती है; सत्य के साथ समझौता कैसे किया जा सकता है ?

यहाँ कहते हैं कि आत्मा के चैतन्य के व्यापार में राग का एकत्व करना छोड़ दे; क्योंकि उपयोग में – चैतन्य की परिणति में राग का एकत्व करना बंध का कारण है। भाई ! चाहे वह देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का राग हो, चाहे महाव्रतादि का विकल्प हो, चाहे गुण-गुणी के भेद का विकल्प हो; इनमें किसी का भी आत्मा के साथ एकत्व करना मिथ्यात्व है और संसार में भटकने का मूल कारण है।

ध्यान रहे, भक्ति व व्रत आदि के विकल्पों को मिथ्यात्व नहीं कहा, बल्कि इन विकल्पों को व रागादि भावों को उपयोग के साथ एकमेक करने को, मिलाने को; इनमें व आत्मा में एकत्व स्थापित करने को मिथ्यात्व कहा है और इस मिथ्यात्व भाव को ही बंध का – संसार का मूल कारण कहा है।

गाथा २३७ से २४१ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ निश्चयनय प्रधान कथन है अर्थात् यहाँ व्यवहारनय को गौण किया गया है। यद्यपि ज्ञानी के अस्थिरता-जनित राग है, पर उसे यहाँ गौण किया गया है। यहाँ तो निश्चयनय की विषयभूत शुद्ध-चैतन्यस्वरूप वस्तु के उपयोग में राग को मिलाने को, दोनों को एक मानने को बन्ध का कारण कहा है। सम्यग्दर्शन होने के बाद जो अल्पराग होता है और उसके कारण जो अल्प बंध होता है, उसे यहाँ गौण करके निश्चयनय की प्रधानता से कथन किया गया है।

यहाँ निश्चय की व्याख्या करते हुए कहते हैं – जहाँ निर्बाध हेतु से सिद्धि हो, वही निश्चय है। बंध के कारणों का विचार करने पर निर्बाध रूप से यही सिद्ध होता है कि – मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन मोह-राग-द्वेषादिक भावों को अपने उपयोगमय करता है, वे मोह-राग-द्वेषादिक भाव ही बंध के कारण हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद वे रागादि भाव आत्मा से भिन्न हो जाते हैं। यद्यपि अस्थिरता के कारण ज्ञानी की भूमिका में भी उनका अस्तित्व है, पर अब वे रागादि भाव आत्मा के साथ एकमेक नहीं होते; भिन्न ही भासित होते हैं। इसकारण वे मुख्य रूप से बंध के कारण नहीं बनते।

इनके सिवाय यदि कार्माण वर्गणा को बंध का हेतु माना जाए तो सिद्धों को भी बंध होना चाहिए। तथा यदि मन-वचन-काय की क्रिया को बंध का हेतु माना जाए तो यथाख्यात चारित्रवालों के भी तो योग की क्रिया होती है; अतः उनके भी बंध होना चाहिए। और यदि बहु प्रकार के करण अर्थात् इन्द्रियों

को बंध का हेतु माना जाए तो केवली के भी तो इन्द्रियाँ होतीं हैं, अतः उन्हें भी वन्ध होना चाहिए। तथा यदि चेतन-अचेतन की हिंसा से बंध माना जाए तो समिति के धारक मुनिवरों को भी कर्मबंध होना चाहिए। पर इनमें से किन्हीं भी कारणों से बंध नहीं होता। अतः निर्बाधरूप से यही सिद्ध हुआ है कि बंध का कारण एकमात्र रागादिक में अहंबुद्धि ही है।

यहाँ समितिरूप से मुनियों का नाम तो लिया और देशविरत व अविरत सम्यक्दृष्टियों का नाम नहीं लिया। उसका कारण यह है कि अविरत व देशविरत को वाह्य समितिरूप प्रवृत्ति नहीं है, इसकारण चारित्रमोह सम्बन्धी राग से किंचित् बंध होता है। अतः सर्वथा बंध के अभाव की अपेक्षा में उनको नहीं लिया। बाकी, अन्तरंग स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से तो उन्हें आंशिक निर्बन्ध मानना ही चाहिए।

समयसार की १४वीं एवं १५वीं गाथा में तो आया ही है कि जिसने अवद्धस्पृष्ट प्रभु आत्मा को दृष्टि में लिया है, उसे बन्धन है ही नहीं। भगवान आत्मा अन्दर अवन्धस्वरूप है तथा उसे दृष्टि में लेनेवाला परिणाम भी राग एवं पर के सम्बन्ध से रहित अबन्ध ही है।

अहाहा ····· ! जिसने राग से भिन्न पड़कर अन्दर अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा को देखा है, वह बन्धन रहित ही है। ज्ञान की पर्याय में पूर्ण परमात्मस्वरूप अपने निज भगवान आत्मा की भेंट हो गई है न ? भले अभी पर्याय में भगवानपना प्रकट नहीं हुआ है; तथापि पर्याय में भगवान आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान तो आ ही गया है न !

इसके पहले पर्याय में राग की एकता आती थी और अब पर्याय में राग रहित सम्पूर्ण चैतन्य पुंज प्रभु आ गया है। जिसको राग का अभाव होकर पर्याय में पूर्ण द्रव्यस्वभाव जानने में आ गया है, ऐसे स्वभावदृष्टिवंत को भी बंध नहीं; निर्बन्धता है - ऐसा जानना चाहिए।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(पृथ्वी)

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा।
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ॥
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः ।
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणाम् ॥१६४॥

श्लोकार्थ :– [बन्धकृत्] कर्मबन्ध को करनेवाला कारण [न कर्मबहुलं जगत्] न तो बहुकर्मयोग्य पुद्‌गलों से भरा हुआ लोक है, [न चलनात्मकं कर्म वा] न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन–वचन–काय की क्रियारूप योग) है, [न नैककरणानि] न अनेक प्रकार के करण हैं [वा न चिद्अचिद्वधः] और न चेतन–अचेतन का घात है। किन्तु [उपयोगभूः रागादिभिः यद्-ऐक्यम् समुपयाति] 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य को प्राप्त होता है [सः एव केवलं] वही एकमात्र (मात्र रागादिक के साथ एकत्व प्राप्त करना वही–) [किल] वास्तव में [नृणाम् बंधहेतुः भवति] पुरुषों के बन्ध का कारण है।

भावार्थ :– यहाँ निश्चयनय से एकमात्र रागादिको ही बन्ध का कारण कहा है ॥१६४॥

कलश १६४ पर प्रवचन

भगवान आत्मा की भूमिका तो चैतन्य के उपयोगरूप है अर्थात् आत्मा जानने–देखनेरूप उपयोग स्वभाव से त्रिकाल भरपूर है और उसका वर्तमान भी चैतन्यमय उपयोग है। ऐसे चैतन्यमय उपयोग की भूमिका में जो राग का कर्त्ता–भोक्ता नहीं है, वह ज्ञानी निर्बन्ध है। तथा इन रागादि के साथ हुआ एकत्व ही वस्तुतः आत्मा के बन्ध का कारण है। यहाँ समकिती के अस्थिरता–जनित बन्ध को गिनती में नहीं लिया। उसे गौण करके यह कहा है; क्योंकि बन्ध का मुख्य हेतु तो मिथ्यात्व ही है।

जिसप्रकार ११वीं गाथा में त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को मुख्य करके सत्यार्थ निश्चय कहा, उसीप्रकार यहाँ त्रिकाली अबंधस्वरूप ज्ञान के साथ राग की एकता को मुख्य करके संसार कहा है; इसे ही बन्ध का कारण कहा है। •

समयसार गाथा २४२ से २४६

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते ।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥ २४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥ २४३॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥ २४४॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४५॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागादी ण लिप्पदि रएण ॥ २४६॥

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति ।
रेणुबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥ २४२॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥ २४३॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चिंत्यतां खलु किंप्रत्ययिको न रजोबन्धः ॥ २४४॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबन्धः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २४५॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥ २४६॥

यथा स एव पुरुषः, स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति, तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः, तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा न बध्यते, स्नेहाभ्यंगस्य बन्धहेतोरभावात; तथा सम्यग्दृष्टिः, आत्मनि रागादीनकुर्वाणः सन्, तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनः कर्म कुर्वाणः, तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, कर्मरजसा न बध्यते, रागयोगस्य बंधहेतोरभावात्।

सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादि नहीं करता, उपयोग का और रागादि का भेद जानकर रागादि का स्वामी नहीं होता, इसलिये उसे पूर्वोक्त चेष्टा से बन्ध नहीं होता – यह कहते हैं :-

ज्यों तेल मर्दन रहित जन रेणु वहुल स्थान में ।
व्यायाम करता शस्त्र से वहुविध वहुत उत्साह से ॥ २४२॥
तरु ताल कदली वाँस आदिक वनस्पति छेदन करे ।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का वहुत भेदन करे ॥ २४३॥
वहुविध वहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को ।
परमार्थ से चिन्तन करो रजवंध क्यों कर ना हुआ ? ॥ २४४॥
चिकनाई ही रजवंध का कारण कहा जिनराज ने ।
पर काय चेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥ २४५॥
वहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि ना करते हुए ।
वस करमरज से लिप्त होते नहीं जग में विज्ञजन ॥ २४६॥

गाथार्थ :– [यथा पुनः] और जैसे – [सः च एव नरः] वही पुरुष, [सर्वस्मिन् स्नेहे] समस्त तेल आदि स्निग्ध पदार्थ को [अपनीते सति] दूर किए जाने पर, [रेणुवहुले] वहुत धूलिवाले [स्थाने] स्थान में [शस्त्रैः] शस्त्रों के द्वारा [व्यायामम् करोति] व्यायाम करता है, [तथा] और [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] ताड़, तमाल, केल, वाँस और अशोक आदि वृक्षों को [छिनत्ति] छेदता है, [भिनत्ति च] और भेदता है, [सचित्ताचित्तानां] सचित्त तथा अचित्त [द्रव्याणाम्] द्रव्यों का [उपघातम्] उपघात [करोति] करता है; [नानाविधैः करणैः] ऐसे नाना प्रकार के करणों के द्वारा [उपघातं कुर्वतः] उपघात करते हुए [तस्य] उस पुरुष को [रजोवन्धः] धूलिका वन्ध [खलु] वास्तव में [किंप्रत्ययिकः] किस कारण से [न] नहीं होता [निश्चयतः] यह निश्चय से [चिंत्यतां] विचार करो। [तस्मिन् नरे] उस पुरुष में [यः सः स्नेहभावः तु] जो वह तेल आदि की चिकनाई है [तेन] उससे [तस्य] उसके [रजोवन्धः] धूलिका वन्ध होना [निश्चयतः विज्ञेयं] निश्चय से जानना चाहिए, [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष काय की चेष्टाओं से [न] नहीं होता।

(इसलिए उस पुरुष में तेल आदि की चिकनाहट का अभाव होने से ही धूलि इत्यादि नहीं चिपकती।) [एवं] इसप्रकार – [बहुविधेषु योगेषु] बहुत प्रकार के योगों में [वर्तमानः] वर्तता हुआ [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [उपयोगे] उपयोग में [रागादीन् अकुर्वन्] रागादि को न करता हुआ [रजसा] कर्मरज से [न लिप्यते] लिप्त नहीं होता।

टीका :– जैसे वही पुरुष, सम्पूर्ण चिकनाहट को दूर कर देने पर, उसी स्वभाव से ही अत्यधिक धूलि से भरी हुई उसी भूमि में वही शस्त्रव्यायामरूपी कर्म को (क्रिया को) करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों के द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, धूलि से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके धूलि से लिप्त होने का कारण जो तैलादि का मर्दन है उसका अभाव है; इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि, अपने में रागादि को न करता हुआ, उसी स्वभाव से वह कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे हुए लोक में वही मन-वचन-काय की क्रिया करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों के द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, कर्मरूपी रज से नहीं बँधता, क्योंकि उसके बन्ध के कारणभूत राग के योग का (राग में जुड़ने का) अभाव है।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त सर्व सम्बन्ध होने पर भी राग के सम्बन्ध का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता। इसके समर्थन में पहले कहा जा चुका है।

गाथा २४२ से २४६ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

अहाहा ·····! जिसे त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायकभाव परिपूर्ण चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा का ज्ञान, प्रतीति व अनुभव हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्ध चैतन्यदृष्टि निरन्तर होने से वह अपने निर्मल ज्ञानस्वभाव में राग को एकरूप नहीं करता।

अहो ! सम्यग्दर्शन की कोई अचिंत्य महिमा है। दृष्टिवन्त सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने उपयोग में राग का संबंध या जुड़ाव करते ही नहीं हैं। वे उपयोग को राग से अधिक जानकर राग के स्वामी नहीं होते।

शुद्ध उपयोग की दशा में जिसको अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव का भान हुआ है, वह दुःखमयी रागादि भावों का स्वामी क्यों होगा ?

इन पाँच गाथाओं में इसी वात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिसने परिपूर्ण, एक, ज्ञायकस्वभावी, सुखधाम, नित्यानंदप्रभु आत्मा का आश्रय लिया है, वह राग के आश्रय में क्यों रहेगा ? अहो ! धर्मात्मा पुरुष अपने उपयोग में राग के साथ सम्बन्ध ही नहीं करते। सम्यग्दर्शन की ऐसी ही कोई अद्भुत महिमा है।

उक्त गाथाओं में तैल के मर्दन से रहित व्यक्ति का दृष्टान्त देकर यह कहा है कि जिसतरह स्नेह (तैल) की चिकनाई को अच्छी तरह पोंछ कर, साफ कर, धूल भरे अखाड़े में क्रीड़ा करने वाला तैल रहित होने से रजबंध से बंधता नहीं है; ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने में रागादि भावों को एकमेक न करता हुआ कर्मरज से भरे लोक में मन-वचन-काय की क्रिया करते हुए भी तथा सचित्त-अचित्त-वस्तुओं का घात करते हुए भी कर्मरूपी रज से नहीं बंधता; क्योंकि उसे बंध के कारणरूप राग में एकत्व नहीं रहा। उसके ज्ञानस्वभाव में रागादि भावों के एकत्व का अभाव है।

देखो, यह है समकित की महिमा ! जिस स्वभाव की दृष्टि में पूर्णानन्द का नाथ प्रभु आत्मा स्पष्ट दिखाई देता है, वह दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। उसकी महिमा बताते हुए कहते हैं कि – 'सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानस्वभाव में रागादि को एकमेक नहीं करता।' लोगों को समकित की महिमा की खबर नहीं है। जगत तो मात्र बाहर के त्याग को ही महत्त्व देता है। लोक ने तो यह मान रखा है कि जिसने व्रत-नियम ले लिए, उसे समकित तो हो ही गया। उसे क्या पता कि समकित कोई अलौकिक वस्तु है। उसके प्रगट होते ही अतीन्द्रिय आनन्द का झरना झरने लगता है। समकिती तो उसका नाम है जो अपने उपयोग में व्रत-नियम आदि पर्यायों को स्वीकार ही नहीं करता, मिलाता ही नहीं है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी के शुभाशुभ राग का संबंध ही नहीं है; क्योंकि उसके ज्ञान में ज्ञानस्वभाव का जुड़ान है, राग का जुड़ान नहीं है।

देखो, समकिती चक्रवर्ती ९६ हजार रानियों के बीच में रहता हो, युद्ध में लड़ता हुआ दिखाई देता हो तो भी उसे बन्ध नहीं है; क्योंकि उसे उनके प्रति एकत्व-ममत्व नहीं है, रागादि का स्वामित्व नहीं है। जो अस्थिरता का राग है, उसकी यहाँ गिनती नहीं है; उसे गौण कर दिया है। यदि वह चक्रवर्ती रागादिक से एकपना करे, उससे सम्बन्ध स्थापित करे, राग में स्वामित्व करे तो मिथ्यादृष्टि होकर कर्मबन्धन को प्राप्त होता है।

प्रश्न – यदि राग समकिती का नहीं है तो किसका है ? इसे किसके खाते में डाला जाय ? पुद्गल में तो राग होता नहीं है और समकिती उसे अपना मानता नहीं है तो फिर इसे किसका माना जाय ?

समाधान – इसे जड़ के खाते में डालना चाहिए। वह राग चैतन्य प्रभु आत्मा के उपयोग में तो समा नहीं सकता। वस्तुतः राग व आत्मा के मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, एकपने का सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी के व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प होता है; परन्तु वह उसमें अटकता नहीं है, रुकता नहीं है। उसके साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। धर्मी ने तो उस आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त आनन्द आदि अनन्त गुण भरे पड़े हैं। वह अब राग के साथ सम्बन्ध क्यों करे ? अपने अबन्ध स्वभाव में प्रतिबद्ध वह अब बन्धभाव के साथ सम्बन्ध कैसे करे, क्यों करे ?

भाई ! सम्यग्दर्शन वह वस्तु है, जिसने संसार वृक्ष की जड़ उखाड़ दी है। सम्यग्दर्शन होने के बाद अस्थिरता की राग-द्वेषरूपी डालें-टहनियाँ रहें तो भले रहें, उनसे क्या ? वे तो अल्पकाल में सूख ही जाने वालीं हैं। समकिती दो-चार भव में यह अस्थिरता जनित राग-द्वेष सम्पूर्णतया नष्ट कर वीतराग दशा प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करेगा। इसीकारण अस्थिरता के या अल्प रागादिभावों के कारण होने वाले अल्पबंध को यहाँ बन्ध में नहीं गिना है।

इसके पहले १६४वें कलश में "उपयोगभू" शब्द कहा है न ! जिसका अर्थ यह है कि जिसमें जानने-देखने का स्वभाव है, ज्ञान-दर्शन का स्वभाव है – ऐसी उपयोग की भूमिका में धर्मी जीव दया, दान, व्रत आदि के राग को नहीं मिलाता। अहा ! शुद्ध उपयोगस्वरूप का स्वामित्व छोड़कर वह व्रतादि में स्वामित्व नहीं करता। स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब परिवार तो एक ओर रहे; वह तो वहुत दूर की वात है। यहाँ तो यह कह रहे हैं कि – 'ज्ञानी-समकिती तो व्यवहाररत्नत्रय में भी अपना स्वामीपना स्थापित नहीं करता।'

'मेरा राग के साथ जोड़ान नहीं है, इसलिए मुझे विल्कुल बन्ध है ही नहीं' – ऐसा मानकर वह शुभाशुभ भाव में स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं करता। जो स्वच्छन्द होकर विषय-कषायरूप प्रवर्तन करे, वह तो समकिती हो ही नहीं सकता। समकिती की वर्तमान पर्याय में पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण अस्थिरताजनित रागादिक होते हैं – यह वात जुदी है और कोई अज्ञानी कर्ता वनकर स्वछन्द प्रवर्तन करे – यह वात जुदी है।

अहा ! धर्मी का द्रव्यस्वभाव के साथ सम्वन्ध होने से वह रागादि के साथ सम्वन्ध ही स्थापित नहीं करता।

यदि कहीं व्यवहार का प्रकरण हो तो वहाँ ऐसा लिखा मिल जाएगा कि ज्ञानी व्रत पालते हैं, तप करते हैं, अतिचार टालते हैं; परन्तु परमार्थ से देखें तो वे उनके स्वामी नहीं हैं।

जिसका यह स्वामी नहीं हैं, उसका पालन करे या आचरण करें – यह कैसे संभव है ? समयसार परिशिष्ट में ४७ शक्तियों के अधिकार में अन्तिम 'स्व-स्वामीसम्वन्ध' शक्ति कही है। वहाँ कहा है कि आत्मा में 'स्व-स्वामी सम्वन्ध' नाम की शक्ति है। उसका अर्थ है कि अपना भाव-अपना स्व और स्वयं उसका स्वामी – ऐसी 'स्व-स्वामी सम्वन्ध' शक्ति है।

अहा ! स्वयं शुद्ध चैतन्यघन द्रव्य, अपने ही अनन्त गुण तथा उनकी निर्मल पर्यायें – ये सव अपना स्व तथा स्वयं उनका स्वामी। ऐसा अपने में 'स्व-स्वामी सम्वन्ध' गुण है। व्यवहार-रत्नत्रय का राग भगवान आत्मा का स्व नहीं है।

इसकारण आत्मा उसका स्वामी नहीं है। ऐसा स्व-स्वामी सम्बन्ध जिसके निर्मल परिणमा है, वह समकिती पुरुष व्यवहार-रत्नत्रय के राग का स्वामी नहीं है।

शास्त्र में भिन्न साधन-साध्य का कथन आता है। वहाँ कहा है कि व्यवहार-रत्नत्रय से निश्चय-रत्नत्रय होता है। अर्थात् व्यवहार-रत्नत्रय साधन व निश्चय-रत्नत्रय साध्य है। परन्तु भाई ! वहाँ तो मात्र इतना बताने का प्रयोजन है कि व्यवहारनय से भिन्न साधन-साध्य भी होता है। उस कथन का तात्पर्य यह है कि जो शुद्ध सम्यग्दर्शन निश्चयरूप है वह तो स्व के आश्रय से ही प्रगट होता है। तथा उसी समय बाह्य में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा का राग भी होता है। वहाँ निश्चय सम्यक्त्व तो स्वरूप के आश्रय से ही प्रगट हुआ है, राग के कारण नहीं। तथापि देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा के राग को सहचर जानकर व्यवहार से आरोप करके उसे साधन कहने में आता है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग है तो चारित्र का दोष, तो भी उसमें श्रद्धागुण की पर्याय का आरोप करके उसे व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में बहुत अधिक स्पष्ट किया है। जहाँ निश्चय-रत्नत्रय प्रगट है, वहाँ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग को दर्शन, शास्त्रादि श्रवण-मनन को ज्ञान तथा पंचमहाव्रतादि के राग को चारित्र कहा है। ऐसे निश्चय-रत्नत्रय के सहचर शुभराग को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आरोप करके व्यवहार-रत्नत्रय कहा है। किन्तु उससे यह शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय शुद्धरत्नत्रय नहीं बन जाता। तात्पर्य यह है कि परमार्थ से उनमें साधन-साध्य भाव नहीं है।

तथा जहाँ कहा है कि – निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र यही स्वरूप जानना। उसका तात्पर्य यह है कि – जहाँ व्यवहार का कथन हो; वहाँ तो उपचार मात्र आरोपित कथन ही है – ऐसा जानना।

यहाँ कहते हैं कि – सम्यग्दृष्टि को बन्ध के कारणभूत राग का अभाव है। अर्थात् अपने सच्चिदानन्दस्वरूप में उपयोग का जोड़ान होने से आत्मा की

महिमा के सामने राग की महिमा भासती नहीं है। तथा वह राग में जोड़ान करता नहीं है। इसकारण उसे वन्ध भी नहीं होता।

भावार्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि के अन्दर में राग की एकतावुद्धि टूट गई है। शुद्ध चैतन्य-स्वभाव व राग भिन्न-भिन्न रूप से भासित होने से अव उसका राग के साथ सम्वन्ध नहीं रहा। इसकारण वाहर से दिखने वाले सव सम्वन्ध होते हुए भी उसका राग से सम्वन्ध नहीं होने से कर्मवन्ध नहीं होता। पूर्ण मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा के साथ सम्वन्ध होने पर उसका राग के साथ सम्वन्ध टूट गया है व राग के सम्वन्ध के अभाव में उसे कर्मवन्ध नहीं होता।

अव इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत् ।
तान्यस्मिन्करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ॥
रागादींनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं ।
वंधं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥ १६५ ॥

श्लोकार्थ – [कर्मततः लोकः सः अस्तु] इसलिए वह (पूर्वोक्त) वहु कर्मों से (कर्मयोग्य पुद्गलों से) भरा हुआ लोक है सो भले रहो, [परिस्पन्दात्मकं कर्म तत् च अस्तु] वह मन-वचन-काय का चलनस्वरूप कर्म (योग) है सो भी भले रहो, [तानि करणानि अस्मिन् सन्तु] वे (पूर्वोक्त) करण भी उसके भले रहें [च] और [तत् चिद्-अचिद्-व्यापादनं अस्तु] वह चेतन-अचेतन का घात भी भले हो, परन्तु [अहो] अहो ! [अयम् सम्यग्दृग्-आत्मा] यह सम्यग्दृष्टि आत्मा, [रागादीन् उपयोग भूमिम् अनयन्] रागादि को उपयोगभूमि में न लाता हुआ, [केवलं ज्ञानं भवन्] केवल (एक) ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ, [कुतः अपि वन्धम् ध्रुवम न एव उपैति] किसी भी कारण से निश्चयतः वन्ध को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ – यहाँ सम्यग्दृष्टि की अद्‌भुत महिमा बताई है, और यह कहा है कि लोक, योग, करण, चैतन्य-अचैतन्य का घात – वे बन्ध के कारण नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि परजीव की हिंसा से बन्ध का होना नहीं कहा; इसलिए स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी। किन्तु यहाँ यह आशय है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीव का घात भी हो जाए तो उससे बन्ध नहीं होता। किन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवों को मारने के भाव होंगे वहाँ अपने उपयोग में रागादि का अस्तित्व होगा और उससे वहाँ हिंसाजन्य बन्ध होगा ही। जहाँ जीव को जिलाने का अभिप्राय हो वहाँ भी अर्थात् उस अभिप्राय को भी निश्चयनय से मिथ्यात्व कहा है, तब फिर जीव को मारने का अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा ? अवश्य होगा। इसलिए कथन को नयविभाग से यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिए। सर्वथा एकांत मानना मिथ्यात्व है ॥ १६५॥

कलश १६५ पर प्रवचन

देखो, आचार्यदेव ने जो यह कहा कि 'चेतन-अचेतन की हिंसा हो तो भले हो' इसका यह अर्थ नहीं लेना कि समकिती को चेतन-अचेतन की हिंसा इष्ट है। इसका अभिप्राय तो मात्र यह है कि समकिती को सर्व बाह्य वस्तुओं से अत्यन्त उपेक्षा हो गई है। वह बाहर में कहीं भी अटकना या उलझना नहीं चाहता; बाह्य पदार्थों से जुड़ना नहीं चाहता। स्वद्रव्य की अपेक्षा में समस्त परद्रव्यों की उपेक्षा सहज ही हो जाती है। जिस तरह स्व-वस्तु की अपेक्षा से समस्त परवस्तुयें अवस्तु हैं, उसीतरह भगवान ज्ञायक की दृष्टि में समस्त शुभाशुभ राग अवस्तु है। राग का अपने स्वरूप में – रागरूप में अस्तित्व भले हो, पर शुद्ध चैतन्यस्वरूप में राग नहीं है; अतः समकिती विचारता है कि मुझ में राग नहीं है।

इसी संदर्भ में यहाँ कहा जा रहा है कि लोक बहुकर्म प्रदेशों से भरा हो तो भले भरा रहे; अन्य अनन्त आत्माओं के रूप में अनन्त प्रदेश हों तो भले रहें; वे सब अपने-अपने अस्तित्व में हैं; उनसे हमें क्या ? वे मुझ में हैं ही कहाँ ? मेरा उन सब परद्रव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। मन-वचन-काय की

क्रिया हो तो भले हो; वे अपने में हैं तो रहें, वे सब पर पदार्थ अपने-अपने अस्तित्व रूप से हैं; वे कहीं चले थोड़े ही जाएँगे ? किन्तु वे मेरे चैतन्यस्वरूप में नहीं हैं; सब अपने-अपने अस्तित्व से भले रहें, उससे मुझे क्या ?

आगे कहा है कि पंचेन्द्रियों का व्यापार हो तो भले हो, तथा चेतन-अचेतन का घात भी हो तो भले हो; पर मुझे उन सबसे क्या ?

यहाँ किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि यहाँ पंचेन्द्रियों के विषयों के प्रति स्वच्छन्द होने को कहा जा रहा है। अरे भाई ! यहाँ तो इन सभी विषय-कषाय रूप प्रवृत्तियों के प्रति अत्यन्त उपेक्षा का भाव प्रगट किया गया है। पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनेवाले तथा छह काय की रक्षा करनेवाले आचार्य क्या हिंसा करने व स्वच्छन्द होने की बात कहेंगे।

अरे भाई ! यहाँ यह कथन किस अपेक्षा से किया गया है, इस बात को जरा धैर्य से सोचो, समझो। चतुर्थ गुणस्थान की राग वाली भूमिका में जो भी हिंसा वगैरह होती है, उसका उस ज्ञानी को खेद वर्तता है। वह उससे जुड़ता नहीं है; इस कारण उसे उस हिंसा-जनित पाप बन्ध नहीं होता।

जगत तो बाहर-बाहर से देखता है; पर भगवान आत्मा का अपने स्वभाव से संबंध हुआ है, अत: उसका राग से संबंध टूट गया है। उसे तो व्यवहार के सर्व संबंधों के प्रति उपेक्षा ही है। यहाँ यह प्रकरण है - अत: इसी दृष्टिकोण से समझना चाहिए।

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि पुरुष रागादि को अर्थात् पुण्य-पाप के भावों को उपयोगभूमि में नहीं लाता। उपयोगभूमि का अर्थ है जानने-देखनेरूप स्वभावमय चैतन्य उपयोग का आधारभूत आत्मा। इससे धर्मात्मा का राग से सम्बन्ध नहीं होता।

अहा ! धर्मी पुरुष की अन्तरदशा अद्भुत है, अलौकिक है। अहो ! शुद्ध-रत्नत्रय को धारण करनेवाला धर्मात्मा व्यवहार-रत्नत्रय के शुभराग को आत्मा में सम्मिलित नहीं करता।

जो कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय की प्राप्ति हो जायेगी। उनसे कहते हैं कि यद्यपि निश्चय-व्यवहार दोनों साथ रहते हैं, तथापि व्यवहार से निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। जब धर्मात्मा व्यवहार का आलम्बन छोड़कर, व्यवहार रूप शुभराग को छोड़कर स्वरूप का आश्रय लेता है, तब उसे ध्यान में निश्चय-रत्नत्रय रूप वीतराग धर्म प्रगट होता है। तथा उस समय जो राग शेष है, उसे व्यवहार कहते हैं। इसप्रकार मुनिवरों को भी ध्यान में निश्चय-व्यवहार रूप दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग प्राप्त होता है।

अहो ! त्रिलोकीनाथ की अमृतमयी वाणी में ऐसा आया है कि भगवान ! तू तो निर्मलानन्द का नाथ प्रभु अमृत का सागर है; ऐसा अमृत का सागर भगवान आत्मा जिसकी पर्याय में प्रगट हुआ, वह राग के जहर से क्यों व कैसे मिले ? जिसके अन्दर में 'प्रभुत्व शक्ति' प्रगट हुई है, वह अखंडित प्रताप के द्वारा स्वतंत्र व शोभायमान हुआ है। भला वह पामर राग को अपने में क्यों मिलाये ?

आगे कहते हैं कि सचेतन का घात हो तो हो; अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियादि किसी प्राणी का घात हो तो भले हो; उससे क्या ?

इस बात को लेकर कुछ लोगों को ऐसी आशंका होती है कि क्या समकिती के द्वारा भी कभी हिंसा हो सकती है तथा जिसके द्वारा हिंसा हो वह कहीं सम्यग्दृष्टि हो सकती है ?

अरे भाई ! यह वह प्रकरण है, जिसमें यह कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि के उपयोग में राग के सम्बन्ध का अभाव है, इसकारण कदाचित् उसके निमित्त से बाहर में सचित्त का घात हो तो भी उस घात के कारण उसे हिंसा का पाप नहीं लगता, कर्म बंध नहीं होता। यहाँ यह कहाँ कहा कि समकिती हिंसा करता है ? उसके हिंसा करने का तो प्रश्न ही नहीं है, पर उस अविरति की भूमिका में प्रमाद व कषाय का जितना अंश है, उतनी हिंसा भी विद्यमान रहती है और तज्जनित बंध भी होता ही है।

यहाँ कह रहे हैं कि रागादिक को उपयोग में न लाते हुए अर्थात् समस्त शुभाशुभ विभाव भावों को - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह व विषय-

वासना को उपयोग में नहीं लाता। यह तो ठीक; परन्तु वह अहिंसा, दया, दान, भक्ति, पूजा आदि के शुभराग को भी उपयोग में नहीं लाता। अपनी पवित्र उपयोग भूमि में वह किसी भी अपवित्रता को नहीं लाता।

टीकाकार आचार्य ग्रन्थ के अन्तिम कलश में ऐसा कहते हैं कि देखो, यह टीका शब्दों से वनी है, हमसे नहीं। हम तो मात्र ज्ञाता हैं। हमारा उसमें किंचित् भी कर्त्तृत्व नहीं है।

अहा ! देखो तो, आचार्य महाराज को व्यवहार से आया आरोपित कर्त्तृत्व भी नहीं पुसाता। वे उसका भी निषेध कर रहे हैं।

वहाँ कलश टीकाकार श्री राजमलजी ने स्पष्ट किया है कि ग्रन्थ की टीका के क़र्त्ता आचार्य अमृतचन्द्र ही निमित्त रूप से प्रगट प्रसिद्ध हैं; तथापि वे महान हैं, वड़े हैं, संसार से विरक्त हैं, इसकारण उनको ग्रन्थ करने का अभिमान नहीं है। उन्होंने अपनी लघुता और अकर्त्ताभाव प्रगट किया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि उनको ग्रन्थ की टीका के कर्त्तृत्व का अभिप्राय व अभिमान नहीं है।

ऐसा कहकर वे वस्तुस्वातंत्र्य का शंखनाद करना चाहते हैं; अकर्त्तृत्व के सिद्धान्त को समझाना चाहते हैं। यह कोरी लघुता या औपचारिकता मात्र नहीं है। वे ऐसा कहकर वस्तुस्वरूप का परिज्ञान कराना चाहते हैं।

देखो, मुनिराज अमृतचन्द्र सूरि क्या कहते हैं भाई ! इस भाषा को तो भाषा ही करती है। भाषा वर्गणा ही भाषारूप परिणमती है। इस भाषा में मेरा आंशिक प्रवेश भी नहीं हुआ है। यह भाषा भी मुझ में आई नहीं है तो फिर मैं इस भाषा का कर्त्ता कैसे हो सकता हूँ ? अरे ! उस भाषा के काल में मुझमें जो विकल्प उठा मैं तो उस विकल्प का भी कर्त्ता नहीं हूँ, क्योंकि उसको भी मैं अपने उपयोग में जब जैसा लाना चाहूँ, तदनुसार नहीं ला सकता हूँ, अतः वह विकल्प भी मेरा कार्य या कर्त्तव्य नहीं है।

यदि कोई कहे कि फिर टीका की ही क्यों ? इस संदर्भ में उनका तीसरा कलश दृष्टव्य है।

टीका करते हुए मेरी परम विशुद्धि होगी। वहाँ भी यही युक्ति है, सिद्धान्त है कि टीका के काल में मेरा जो अन्तर्मुखदृष्टि का जोर है, वह वृद्धि को प्राप्त हो। क्योंकि टीका के विकल्प को मैं अपने उपयोग स्वभाव में मिलाता नहीं हूँ। जहाँ ऐसा भाव हो, वहाँ विकल्प या राग से लाभ होगा – यह बात ही कहाँ ठहरती है ?

कलश १६५ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ सम्यग्दृष्टि का अद्‌भुत माहात्म्य प्रगट किया है तथा यह कहा है कि कर्मवर्गणा से भरा लोक, योग, करण व चेतन-अचेतन का घात आदि कुछ भी बंध के कारण नहीं हैं।

अहा ! सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं जिसको पर की, निमित्तों की, राग की व एकसमय की पर्याय की रुचि छूट गई है, कर्म के उदय से प्राप्त सामग्री के प्रति जो उदासीन है, निरभिलाष है तथा जिसको ज्ञानानन्द-स्वभावी निज आत्मा की रुचि हुई है। ऐसे समकिती के ज्ञान उपयोग में राग एकत्व को प्राप्त नहीं कर पाता। बस इसीकारण उसे बन्ध नहीं होता। अपने अबद्धस्पृष्ट भगवान का भान होने पर समकिती को बन्ध नहीं होता। अहा ! सम्यग्दर्शन का कोई ऐसा ही विचित्र आश्चर्यकारी माहात्म्य है।

सम्यग्दृष्टि को लोक में भरे कर्म योग्य पुद्‌गल परमाणुओं से बन्ध नहीं होता; क्योंकि वह तो आनन्द के नाथ प्रभुरूप से विराजमान अपने भगवान आत्मा का ही सतत् अवलोकन करता है, वह तो अपने लोक (स्वभाव) को ही अवलोकता है, इसकारण उसे कर्मरज के कारण कर्मबन्ध नहीं होता।

तथा मन-वचन-काय रूप योग से भी समकिती को बन्ध नहीं होता अर्थात् योग भी उसके बन्ध के कारण नहीं हैं, क्योंकि ये सब इसके ज्ञान में परज्ञेय हैं। मन-वचन-काय की क्रिया से समकिती को रुचि नहीं होती। योग की क्रियाओं से उसकी रुचि टूट चुकी है।

चेतन-अचेतन का घात भी समकिती को बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि उनके घात में उसकी रुचि नहीं रही, वह उनके घात के प्रति अत्यन्त उदासीन

हो गया है और उसे अपनी ओर से इस बात की पूर्ण सावधानी वर्तती है कि कहीं उसके निमित्त से किसी भी जीव का घात न हो जाय। इसकारण चेतन-अचेतन की हिंसा हो भी जावे, तो भी वह घात इसको बन्ध का कारण नहीं बनता। वस्तुत: ये सब क्रियायें उसके ज्ञान में परज्ञेय रूप से ही भासित होतीं हैं। वह उनका कर्त्ता नहीं है।

इसके विपरीत अज्ञानी काय व कषाय को अपना मानता है, इसकारण वह भले ही वर्तमान में छह काय की हिंसा में प्रवृत्त दिखाई न दे, तो भी वह छहकाय की हिंसा का कर्त्ता है। जिसने अपने अशरीरी भगवान आत्मा को शरीरी माना है और अकषायी आत्मा को कषाययुक्त माना है, वह भले ही बाह्य में मुनि हो गया हो, हजारों रानियों का परित्याग कर दिया हो; तथा जंगल में रहने लगा हो – वनवासी बन गया हो; तो भी वह हिंसा का करनेवाला ही है; क्योंकि उससे निरन्तर अपने चैतन्य का घात हुआ ही करता है।

अहा ! जिसने कषाय की मन्दता को, दया के भाव को भी अपना माना है; उसने अकषायी चैतन्यस्वरूप आत्मा को रागयुक्त माना है। इसप्रकार उसने स्वरूप का इन्कार करके अपने स्वरूप का ही घात किया है। वह भले ही बाह्य में हिंसा न करता हो तथापि वह हिंसक ही है। तथा जिसकी दृष्टि शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा पर पड़ गई है, भले ही उसके बाह्य में सभी प्रकार के सम्बन्ध हों तो भी वह निर्बन्ध है।

अब कहते हैं कि इस कथन से ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि बाह्य में परजीवों की हिंसा से सर्वथा बन्ध होता ही नहीं है। जो स्वच्छन्दी होकर प्रमादवश बाह्य हिंसा में प्रवृत्ति करेगा, जीवदया नहीं करेगा उसके तो हिंसा जनित बन्ध होगा ही होगा।

यहाँ जो आत्मज्ञानी को निर्बन्ध कहा है उसका अभिप्राय तो यह है कि पूर्ण सावधानी के बावजूद अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीव का घात हो भी जाए तो बन्ध नहीं होता। ज्ञानी जीव बुद्धिपूर्वक कभी परजीवों का घात नहीं करते। उनके हृदय में ऐसी करुणाबुद्धि सहज ही होती है, फिर भी वे उस शुभभाव को धर्म नहीं मानते।

देखो ! ऐसा कहकर यहाँ स्वच्छन्दी होने का निषेध किया है। वुद्धिपूर्वक हिंसा रूप प्रवृत्ति करे और शास्त्र के कथन की आड़ लेकर ऐसा कहे कि ज्ञानी के वन्ध नहीं होता; तो ऐसी स्वच्छन्दता की वात मोक्षमार्ग में चलनेवाली नहीं है।

यह सव कथन तो ज्ञानियों की अपेक्षा से है। जिन्हें राग रहित निर्विकार नित्यानंदस्वरूप आत्मा दृष्टि में आ गया है, उन्हें वुद्धिपूर्वक-रुचिपूर्वक परघात का परिणाम होता ही नहीं है। कदाचित् अवशपने या अनजाने में उनसे परजीव का घात हो जावे तो वह परघात उनको वन्ध का कारण नहीं है। ज्ञानी के द्वारा कदाचित् अनजाने में पंचेन्द्रिय जीव का भी घात हो जावे तो भी ज्ञानी के हिंसा नहीं होती – ऐसा कहा है। परन्तु कोई अज्ञानी अपने को ज्ञानी मानकर रुचिपूर्वक हिंसा में प्रवृत्ति करेगा तो उसे निश्चित ही पापवन्ध होगा। इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

यहाँ 'वुद्धिपूर्वक' का अर्थ है कि 'मैं इसे मारूँ' – ऐसा रुचिपूर्वक जीव को मारने का भाव होना। जिन प्रवृत्तियों में जग जाहिर अनिवार्य त्रसहिंसा या वहुस्थावर हिंसा होती है, उन प्रवृत्तियों को न छोड़ना – जैसे मद्य-मांस-मधु, पाँच उदम्वर फलों का सेवन तथा इसी जाति के, इन्हीं के समकक्ष अन्य प्रवृत्तियों में पड़ना आदि जो भी आगमोक्त हिंसाजनित प्रवृत्तियाँ ज्ञानी की भूमिका में त्याज्य हैं, उस राग का भी त्याग न होना स्वच्छन्द प्रवृत्ति है।

अकषायस्वभावी भगवान आत्मा त्रिकाल पवित्र है। जो इसकी रुचि छोड़कर परप्रवृत्ति की रुचि करे, उसे तो नियम से राग में एकत्ववुद्धि हो ही जाती है और उससे उसे हिंसाजनित वन्ध होता ही है।

ज्ञानी के राग की रुचि छूट चुकी है। उसको जो चारित्र मोह सम्वन्धी राग होता है, वह आत्मा से पृथक् ही रहता है। उसमें उसकी एकत्ववुद्धि नहीं होती। वह उस राग के साथ एकत्व रूप से प्रवृत्ति नहीं करता। वास्तव में तो ज्ञानी के ज्ञान में राग केवल परज्ञेय वनकर ही आता है। वह राग का मात्र ज्ञाता ही रहता है। जवकि अज्ञानी के ज्ञान में रागादि एकमेकपने जाने जाते हैं। मानो

कि वह रागादिमय ही हो – आत्मा व रागादिभावों में उसकी ऐसी अभेदरूप एकत्वबुद्धि रहती है। इसकारण राग की रुचिवाले अज्ञानी पर को मारने-जिलाने का भाव करते ही हैं और उनके तज्जनित हिंसा भी अनिवार्यरूप से होती ही है।

अब यहाँ सिद्धान्त कहते हैं – जहाँ जीवों को जीवित रखने के अभिप्राय को भी मिथ्यात्व कहा हो, वहाँ जीवों के मारने के अभिप्राय को मिथ्यात्व या अधर्म क्यों नहीं माना जायगा ? निश्चयनय की दृष्टि में तो एकमात्र वीतरागता को ही अहिंसामयी धर्म कहा गया है। अतः इस अपेक्षा से तो सम्पूर्ण शुभाशुभ भाव हिंसारूप अधर्म ही है न ? फिर भी मारने का भाव अशुभभाव होने से पापबन्ध का कारण है और बचाने का भाव शुभभाव होने से पुण्यबंध का कारण है। तथा बंध की अपेक्षा दोनों संसार के कारण हैं। अतः मोक्ष अभिलाषियों को एक वीतरागभाव की ही आराधना करने योग्य है।

देखो ! यहाँ अभिप्राय की अपेक्षा को समझाते हुए कह रहे हैं कि जो ऐसा मानता है कि मैं परद्रव्य की पर्याय को कर सकता हूँ या करता हूँ, समाज का भला करता हूँ, कुटुम्ब परिवार का भरण-पोषण करता हूँ, कारखाने चलाकर लोगों को रोजी-रोटी देता हूँ – यह सब अभिप्राय मिथ्यात्व है।

कितने ही लोगों के पास करोड़ों-अरबों रुपयों की सम्पत्ति होती है। फिर भी वे बड़े-बड़े कारखाने और उद्योग-धंधे चलाते रहते हैं। जब उनसे निवृत्ति लेने की बात कहते हैं तो वे उत्तर में कहते हैं कि 'अब हमें उद्योग-धंधों की गरज नहीं है; पर हजारों लोगों का हमारे द्वारा भरण-पोषण होता है, इसकारण कारखाने चलाते हैं, काम-काज करते हैं।'

किन्तु भाई ! उनका यह अभिप्राय ही मिथ्यात्व है। अन्य लोगों को जो आजीविका मिलती है या उनका जो भरण-पोषण होता है, वह किसी पर के कारण नहीं होता। उनके स्वयं के पुण्योदय अनुसार ही सब बनाव बनता है। कोई किसी का कुछ भी भला नहीं कर सकता।

आगे इसी ग्रन्थ की मूल गाथा में आएगा कि जो ऐसा मानता है कि मैं पर को सुखी करता हूँ, आहार, औषधि, वस्त्रादि की सुविधायें प्रदान करता हूँ या दे सकता हूँ; वह मिथ्यादृष्टि है और यही मिथ्या अभिप्राय उसके बन्ध का कारण है।

किसी अन्य को एक रजकण देने की भी सामर्थ्य किसी में नहीं है। कौन-किसको क्या दे सकता है ? जगत के सभी पदार्थ अपनी-अपनी क्रियावती शक्ति से, अपनी-अपनी तत्समय की योग्यता से, क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होते रहते हैं, आते-जाते रहते हैं। जीव के पुण्य-पाप के उदयादि भी तभी उसमें मात्र निमित्त हुआ करते हैं। सचमुच तो पुण्य का उदय भी कोई महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो जीव व पुद्गल की अपनी-अपनी तत्समय की योग्यता ही है, जोकि स्वयं कार्यरूप परिणत होती है। इससे भिन्न पर में कुछ भी कर्तृत्व मानना मिथ्यात्वभाव है।

यहाँ तो यहाँ तक कहा है कि जो स्वयं को अपने रागादि भावों का स्वामी मानता है, वह भी अज्ञानी-मूढ़-मिथ्यादृष्टि है तो पर में स्वामित्व व कर्तृत्व के भाववालों का तो कहना ही क्या है ? वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि आपकी मान्यतानुसार पर को बचाने, रक्षा करने या जीवित रखने के भाव को मिथ्यात्व मान लें तो शास्त्र में जो यह कहा है कि 'पर को बचाने, रक्षा करने या जीवित रखने के भाव दया के परिणाम हैं और दया धर्म का मूल है' – इस कथन का क्या होगा ? क्या वह कथन मिथ्या सिद्ध नहीं हो जायगा ?

इस प्रश्न के समाधान में आचार्य कहते हैं कि दया को जो शास्त्रों में धर्म कहा है, वह कथन तो अपनी जगह जिस अपेक्षा से कहा गया, उस अपेक्षा से सत्य ही है, पर हमें उस अपेक्षा को भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

आगम में दया के अनेक भेद कहे गये हैं। उनमें एक भेद स्वदया व परदया के रूप में भी कहा है। स्वदया अर्थात् अन्तरंग में रागरहित वीतराग निर्विकार

परिणाम की उत्पत्ति। यह स्वदया धर्म है। संसारी जीवों ने पर की दया, जो कि पुण्यभावरूप है, वह तो अनन्तबार की, पर उससे आत्मा का कल्याण नहीं हुआ। यदि कोई एकबार भी अपने पर दया करे तो उसका अनन्त जन्म-मरण का अभाव हो सकता है तथा अनन्त दुःखों से बच सकता है – ऐसी स्वदया ही वस्तुतः धर्म है जो कि वीतरागभावरूप होती है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय के ४४वें श्लोक में कहा है कि निश्चय से रागादिभावों की उत्पत्ति का न होना ही परम अहिंसा है और यही धर्म है। इसे ही स्वदया भी कहते हैं।

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध श्लोक ४४६ में कहा है कि प्राणिमात्र के प्रति वैरभाव छोड़कर निष्कषायभाव हो जाना भी अनुकम्पा का श्रेष्ठ रूप है। द्वेषबुद्धि छोड़कर माध्यस्थ भाव रखना भी दया है।

धवला में भी आया है कि दया जीव का स्वभाव है। पर वह दया कौन-सी होगी जो जीव के स्वभावरूप होती है? वह स्वदया की ही बात है, परदया की नहीं। जिसे ऐसा निश्चयनय का विषयभूत स्वदयारूप धर्म प्रगट हुआ है, उस धर्मात्मा को व्यवहार में परजीवों की रक्षा का भाव आता ही है। उस शुभभाव को भी निश्चय का सहचारी होने से व्यवहार से धर्म कहा जाता है; परन्तु वह परदया का भाव वास्तव में तो पुण्यभाव ही है और पुण्यबंध का ही कारण है; वीतरागभावरूप धर्म नहीं है, बन्ध के अभाव स्वभाववाला धर्म नहीं है। फिर भी यदि कोई उसे धर्म मानकर पर की रक्षा करने का, पर को जीवित रखने का अहंकार करता है – ऐसा मिथ्या अभिप्राय रखता है कि 'मैं चाहूँ तो उसे सुखी या दुःखी कर सकता हूँ अथवा मार सकता हूँ या जीवित रख सकता हूँ' तो उसकी ऐसी मान्यता निश्चित ही अज्ञान है, मिथ्यात्व है और अनन्त संसार का कारण है।

भगवान आत्मा तो पूर्ण आनन्द का नाथ, विज्ञानघनस्वरूप, सदा वीतराग स्वरूप ही है। वह जैसा है, उसे वैसा ही जानने का नाम वास्तविक अहिंसा है तथा वह जैसा है, उसे वैसा ही न मानना, अपूर्ण एवं रागादिरूप मानना,

अल्पज्ञ मानना मिथ्यात्व है, भ्रम है। यही स्वरूप की वास्तविक हिंसा है, निश्चय-हिंसा है।

इसके साथ बाह्य में परघात का होना वह व्यवहार हिंसा है तथा सावधानीपूर्वक परजीवों का घात न होने देना, उनके प्राणों की रक्षा करना व्यवहार अहिंसा है।

अरेरे ! यह जीव अनादि काल से मिथ्यात्व के कारण ही तो ८४ लाख योनियों में भटक रहा है, तथा जन्म-मरण के दुःख उठा रहा है। आजतक इस अज्ञानी-मोही प्राणी ने अपने मरण से उस वियोग में इतनी माताओं को रुलाया है कि यदि उनके उन आँसुओं को इकट्ठा करें तो समुद्र के समुद्र भर जावें। भाई ! तू वह सब भूल गया है; क्योंकि तुझे अपने अनादि-अनन्त निज तत्त्व की खबर नहीं है, अपने निजस्वरूप का विचार नहीं है।

भगवान ! तू अपने इन भूतकाल के भवभ्रमण के सब दुःखों को भूल गया है। तुझे अपने अनादि-अनन्त स्वरूप की खबर नहीं है। भाई ! ये सब भव एकमात्र मिथ्यात्व के कारण होते हैं। मिथ्यात्व ही संसार है, मिथ्यात्व ही आस्रव है और मिथ्यात्व ही भावबंध है। मिथ्यात्व का नाश होने पर जो चारित्रमोह संबंधी राग शेष रहता है, उसे तो यहाँ गिना ही नहीं है; क्योंकि वह तो समय पाकर नियम से निर्जरनेवाला ही है तथा परज्ञेय रूप से रहता है। जिसको राग में एकत्वबुद्धि है मात्र उसे ही राग का सद्भाव है। इसलिए मिथ्या अभिप्राय को छोड़कर अपने पूर्णानन्द के नाथ प्रभु आत्मा की रुचि कर !

अब आगे कहते हैं कि कथन को नयविभाग से यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिए। सर्वथा एकान्त मानना तो मिथ्यात्व है।

पर को मारने का अभिप्राय होते हुए ऐसा नहीं मान लेना कि - 'शास्त्र में ज्ञानी को परघात से बन्ध होने का निषेध है, इसकारण मुझे तो बंध होगा ही नहीं, क्योंकि मैं ज्ञानी हूँ' - ऐसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवाला न तो ज्ञानी है और न उसके पर की हिंसाजनित बंध का अभाव ही है।

वस्तुतः ज्ञानी के तो परजीव को मारने या जिलाने का अभिप्राय ही नहीं होता। उसका अभिप्राय तो ऐसा है कि – मैं तो चैतन्यघन प्रभु पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा हूँ। वह कभी भी राग का व पर का आत्मा के साथ एकत्व नहीं करता।

अहा ! जिसको शुद्ध चैतन्य आत्मा का अवलम्बन हुआ है तथा रागादि का अवलम्बन छूट गया है; वह क्षेत्र की अपेक्षा कहीं भी रहे, पर अभिप्राय में तो वह अपने आत्मा में ही रहता है। कदाचित् वह बाह्य में चक्रवर्ती के वैभव में बैठा दिखाई देता हो तो भी वह आत्मा में ही रहता है। बाहर में वह रहता ही नहीं है।

जो मारने या बचाने का अभिप्राय रखता है, राग में रुचि रखता है, और ऐसा मानता या कहता है कि – 'मुझे परघात से बन्ध नहीं होता; क्योंकि मैं पर को मार ही नहीं सकता या मारता ही नहीं हूँ' – सो यह उसकी सर्वथा एकान्त मिथ्या मान्यता है। उसने वस्तुतः अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का ही नाश कर दिया है। ऐसी स्थिति में उसे स्वरूप की प्राप्ति होना संभव नहीं है।•

अब उपर्युक्त भावार्थ में कथित आशय को प्रगट करने के लिए, व्यवहारनय की प्रवृत्ति कराने के लिए काव्य कहते हैं –

(पृथ्वी)

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां ।
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ॥
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां ।
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥

श्लोकार्थ :– [तथापि] तथापि (अर्थात् लोक आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा और रागादिक से ही बन्ध कहा है तथापि) [ज्ञानिनां निरर्गलं चरितुम् न इष्यते] ज्ञानियों को निरर्गल (स्वच्छन्दतापूर्वक) प्रवर्तना योग्य नहीं है, [सा निरर्गला व्यापृतिः किल तद्-आयतनम् एव] क्योंकि वह निरर्गल प्रवर्तन वास्तव में बन्ध का ही स्थान है। [ज्ञानिनां अकाम-कृत-कर्म

तत् अकारणम् मतम्] ज्ञानियों के वांछारहित कर्म (कार्य) होता है वह बन्ध का कारण नहीं कहा है, क्योंकि [जानाति च करोति] जानता भी है और (कर्म को) करता भी है – [द्वयं किमु न हि विरुध्यते] ये दोनों क्रियाएँ क्या विरोधरूप नहीं हैं ? (करना और जानना निश्चय से विरोधरूप ही हैं।)

भावार्थ :– पहले काव्य में लोक आदि को बन्ध का कारण नहीं कहा इसलिए वहां यह नहीं समझना चाहिए कि बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति का बन्ध के कारणों में सर्वथा ही निषेध किया है; बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति रागादि परिणाम की – बन्ध के कारण की – निमित्तभूत है, उस निमित्तता का यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए। ज्ञानियों के अबुद्धिपूर्वक – वांछा रहित – प्रवृत्ति होती है इसलिए उनके बन्ध नहीं कहा है, उन्हें कहीं स्वच्छन्द होकर प्रवर्तने को नहीं कहा है; क्योंकि मर्यादारहित (निरंकुश) प्रवर्तना तो बन्ध का ही कारण है। जानने में और करने में तो परस्पर विरोध है; ज्ञाता रहेगा तो बन्ध नहीं होगा, कर्त्ता बनेगा तो अवश्य बन्ध होगा ॥ १६६ ॥

श्लोक १६६ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

इस कलश में १६५वें कलश के भावार्थ में कहे गये अभिप्राय को ही विशेष रूप से प्रगट किया गया है।

यद्यपि आगम में लोक आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा, मात्र एक रागादि अशुद्धोपयोग को ही बन्ध का कारण कहा है; तो भी ज्ञानियों को लोक की मर्यादा का उल्लंघन करके स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस लोक में व्याप्त कार्माणवर्गणाओं से मन-वचन-कायरूप योगों की प्रवृत्ति तथा परजीवों के घात वगैरह बाह्य कारणों से बन्ध नहीं होता। मात्र रागादि में एकत्वबुद्धि से ही बन्ध होता है; क्योंकि राग का अस्तित्व तो राग में है, शुद्धचैतन्य में राग का अस्तित्व नहीं है। परन्तु अज्ञानी ने ऐसा न मानकर राग के अस्तित्व को अपने में माना, अपना ही माना – बस यही मिथ्या मान्यता उसके बन्ध का कारण है।

यहाँ कोई आशंका कर सकता है कि इस तरह के कथन से तो लोग व्रत, तप आदि को भी मिथ्यात्व मानकर स्वच्छन्दी हो जायेंगे ?

उसके समाधान में कहते हैं कि अरे प्रभु ! भगवान आत्मा अन्तर में रागरहित चैतन्यघनस्वरूप है। उसमें जाना, उसी में जमना-रमना – यह क्या कुछ करना नहीं है ? क्या व्रतादि का राग करना ही करना है ? भूमिकानुसार व्रतादि के रागरूप भाव भी होते हैं, पर ज्ञानी धर्मात्मा की उस राग में कर्त्तृत्वबुद्धि नहीं है। व्रतादि के समय भी वह तो उस राग से भी पार अंतरंग में विद्यमान ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा के जाननेरूप कर्त्तृत्व के करने को ही अपना कर्त्तव्य मानता है।

बेचारे अज्ञानी को उस कर्त्तव्य का तो पता नहीं; अतः वह उस व्रतादि के राग को ही अपना कर्त्तव्य मान लेता है। अतः उसे समझाने के लिए इस कलश में कहा गया है कि तुम अपने वास्तविक कर्त्तव्य को जानो और इस अनादिकाल से करते आ रहे राग के कर्त्तृत्व की मान्यता को छोड़ो।

ध्यान रहे – यहाँ उस शुभराग को छोड़ने की बात न कहकर उसे अपना 'कर्त्तव्य मानना' छोड़ने की प्रेरणा दी गई है, पर अज्ञानी राग का कर्त्तापना नहीं छोड़ता।

भाई ! यह किसी की मनगढ़ंत कल्पना नहीं है, यह तो जिनेश्वरदेव की वाणी है। भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है कि जो प्राणी भगवान आत्मा में स्वभाव-विभाव को एकरूप करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। 'मैं पर को मारता हूँ' – ऐसे अभिप्राय से जो स्व-पर को एक करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

अहा ! चिदानन्दघन अकृत्रिम भगवान आत्मा में कृत्रिम राग को मिलाना-एकमेक करना मिथ्यात्व है, संसार है। ऐसा मानने से मान्यता में तो वीतरागता व राग दोनों ही एक हो गये, परन्तु वस्तुस्वरूप में कभी ऐसा होगा नहीं।

अरे ! जिसे ज्ञान व राग की भिन्नता भासित हुई है, वह समकिती राग को कभी भी अपनी वस्तु नहीं मानता। उसे तो राग से जुदा तीन लोक का नाथ, अनन्त ज्ञानानन्द का सागर, अपना आत्मा दृष्टि में आ गया है। इसकारण उसे

मन-वचन-काय का योग, इन्द्रियों का व्यापार तथा चेतन-अचेतन का घात आदि बन्धन में कारण नहीं बनते।

अज्ञानी जीव भले ही छहकाय के जीवों को नहीं मारता हो तो भी त्रिकाली स्वभाव में राग के एकत्व के कारण हिंसक है; क्योंकि वह अपने स्वरूप का घात करता है। इस संदर्भ में प्रवचनसार गाथा २३६ की टीका भी द्रष्टव्य है।

यहाँ कहते हैं कि – यद्यपि लोक, मन-वचन-काय का योग, इन्द्रियों का व्यापार तथा चेतन-अचेतन का घात आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा – एक रागादिक से ही बन्ध कहा है; तथापि ज्ञानियों को अनर्गल-प्रमादसहित प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है; क्योंकि उनकी वह निरर्गल प्रवृत्ति वस्तुत: बन्ध का ही कारण है। राग की रुचिपूर्वक काम-भोग की प्रवृत्ति एकान्तत: बन्ध का ही कारण है।

अहाहा ..... ! बुद्धिपूर्वक विषय-कषायों में निरंकुश आचरण बन्ध का ही स्थान है। 'परघात आदि से मुझे बन्ध नहीं होता' – ऐसी कुयुक्ति या कुतर्क करके स्वच्छन्द आचरण तो मिथ्यादृष्टि के ही होता है। ज्ञानियों के तो वांछा के बिना ही कार्य होता है, अरुचिपूर्वक बाह्य प्रवृत्ति होती है, निरभिलाष कर्म होता है; इसकारण वह बन्ध का कारण नहीं है। नोआखाली की घटना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ अत्याचारियों ने माँ-बेटे को और भाई-बहिन को नंगा करके संभोग करने को बाध्य किया, परस्पर अंग से अंग लगाकर जकड़ दिया। तो आप ही सोचिए – क्या उन पवित्र रिश्तों में भी किसी को भोग की भावना हो सकती है ? उन्हें तो इतनी शर्म आती होगी कि यदि धरती फट जावे तो वे मुँह छिपाकर उसमें समा जायें। वह क्यों नहीं फटी, जिसमें वे समा सकें ? ठीक इसीतरह ज्ञानी भी भोगों को पूर्ण अरुचि भाव से ही भोगता है। वह भोगों को भोगता नहीं, बल्कि उसे भोग भुगतने पड़ते हैं। उसे तो वे भोग जहर समान लगते हैं। अत: वह राग में एकत्वबुद्धि कभी नहीं करता।

अब कहते हैं कि ज्ञानी को राग की रुचि के बिना जो योग आदि की क्रिया होती है, उसे बन्ध का कारण नहीं कहा है; क्योंकि जो जानता है, वह करता नहीं है तथा जो करता है, वह जानता नहीं है। दोनों क्रियायें परस्पर विरोधी हैं।

बाह्य में मन-वचन-काय रूप योग की क्रियाएँ, राग की क्रियाएँ, मारने आदि हिंसा की क्रियाएँ अपनी चैतन्य सत्ता में हैं ही कहाँ ? अपनी सत्ता में जब राग ही नहीं है तो अन्य योग वगैरह तथा मारने आदि की क्रियायें तो उसमें होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

'करना' व 'जानना' - ये दोनों क्रियायें निश्चय से परस्पर विरोधी हैं। 'इसे मारूँ, इसे सुखी करूँ, दुःखी करूँ' आदि के भाव तथा 'मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ' - ऐसे भाव, ये दोनों भाव परस्पर विरोधी हैं। जो जानता है, वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है।

कहा भी है -

"करे करम सो ही करतारा, जो जाने सो जाननहारा ।
करम करे जाने नाहिं सोई, जो जाने करता नाहिं होई ॥"

— कविवर बनारसीदास

जो जानता है, सो करता नहीं और जो करता है, सो जानता नहीं; करना तो कर्म का राग है, और जो राग है सो अज्ञान है तथा अज्ञान बन्ध का कारण है।

•

इसी अर्थ का काव्य कहते हैं -

(वसन्ततिलका)

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु ।
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ॥
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु- ।
मिथ्यादृशः स नियतं स च बंधहेतुः ॥ १६७॥

श्लोकार्थ :— [यः जानाति सः न करोति] जो जानता है सो करता नहीं [तु] और [यः करोति अयं खलु जानाति न] जो करता है सो जानता नहीं। [तत् किल कर्मरागः] करना तो वास्तव में कर्म का राग है [तु] और [रागं अबोधमयम् अध्यवसायम् आहुः] राग को (मुनियों ने) अज्ञानमय

अध्यवसाय कहा है; [सः नियतं मिथ्यादृशः] जो कि वह (अज्ञानमय अध्यवसाय) नियम से मिथ्यादृष्टि के होता है [च] और [सः बन्धहेतुः] वह बन्ध का कारण है ॥ १३७॥

कलश १६७ पर प्रवचन

जो जीव अपने शुद्ध-एक-ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानते हैं, अनुभव करते हैं, वे किसी भी परद्रव्य के करने का राग नहीं करते। जब वे अपने में पर के करने का राग या विकल्प ही नहीं करते तो पर में कुछ करने-कराने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अरे भाई ! जिसे विज्ञानघनस्वभाव ज्ञान व आनंदमयी आत्मा का अनुभव हुआ है, वह रागादि के विकल्पों का कर्त्ता नहीं है। जिसे यथार्थ तत्त्वदृष्टि प्रगट हुई है, वह अपनी उस निर्मल तत्त्वदृष्टि की पर्याय का कर्त्ता तो है, पर राग का कर्त्ता नहीं है।

भगवान आत्मा अकेला ज्ञायक-स्वभाव का दल नित्य ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है – ऐसे अपने स्वरूप का भान होने से जिसकी पर्याय में निर्मल रत्नत्रयरूप धर्म प्रगट हुआ है, उस धर्मी जीव को अभी वर्तमान में जबतक पूर्ण वीतराग दशा प्रगट नहीं हुई, तबतक व्यवहार-रत्नत्रय का शुभ विकल्प होता है; परन्तु उस शुभभाव या शुभविकल्प को अपने में नहीं करता, उसे मात्र जानता ही है।

अब कहते हैं कि ठीक इसीप्रकार जो करता है, वह जानता नहीं है और जो जानता है वह करता नहीं है। करना तो कर्म का राग है और राग को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है। हे प्रभु ! जिसको अपने ज्ञानानन्दस्वभाव का भान हुआ, अन्तर्मुख दृष्टि हुई, वह अब क्या करे ? ज्ञान करे या राग करे ? उसके राग का कर्तृत्व तो रहा ही नहीं है। ज्ञान करना – ऐसा कहना भी व्यवहार है; क्योंकि द्रव्य अपनी पर्याय को करता है – ऐसा कहकर जो द्रव्य व पर्याय का भेद डाला, वही व्यवहारनय का विषय है। वस्तु तो अभेद, अखंड, एकरूप हैं, मूलवस्तु में तो भेद है ही नहीं !

ज्ञानी के राग होता अवश्य है, पर वह उस रागरूप पर्याय का मात्र जाननहार है। यह शुद्ध समकित की बलिहारी है।

अज्ञानी की दृष्टि राग पर है, उसके करने-कराने के कर्म का राग है; वह उस राग को अपना कर्त्तव्य मानता है; इसकारण वह अपने आत्मतत्त्व को राग से भिन्न नहीं कर पाता तथा अन्तरंग में पड़े अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को नहीं जान पाता।

धर्म तो त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वभावी चिदानन्दघन प्रभु आत्मा के आश्रय से निर्मल वीतरागी दशा, निर्मल रत्नत्रय की दशा प्रगट करनेरूप है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग धर्म नहीं है; क्योंकि धर्म का स्वरूप वीतरागरूप है, रागरूप नहीं। यद्यपि ये शुभराग के परिणाम व शुभक्रियाएँ ज्ञानी को भूमिकानुसार होतीं अवश्य हैं और होनी भी चाहिए; पर ये कर्त्तव्य नहीं हैं, धर्म नहीं हैं।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि शुभराग व शुभकार्य करते भी हैं और साथ ही हेय भी कहते हैं – ऐसा क्यों ?

उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यहाँ केवल 'कर्मराग' को ही 'करना' कहा गया है। जिन्हें क्षणिक कृत्रिम राग व त्रिकाली सहज अकृत्रिम चैतन्यमय प्रभु आत्मा में भेदज्ञान हो गया है, उनके राग व व्यवहार होते हुए भी उन्हें उनका कर्त्ता नहीं कहा जाता। उनमें उन शुभरागरूप कार्यों के प्रति कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि वह राग को करता ही नहीं है।

भगवान आत्मा सच्चिदानंदरूप अतीन्द्रियज्ञान व आनन्द का कन्द है। उसमें विकार को करने का, विकल्प उत्पन्न करने का कोई गुण ही नहीं है। अहा ! जिसे ऐसे भगवान आत्मा की अन्तर्दृष्टि हुई, वह धर्मी जीव केवल वीतराग-परिणति को ही करता है। जब वह रागादि परिणति का भी कर्त्ता नहीं है तो परद्रव्य के कर्तृत्व का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

यदि इसमें से कोई ऐसा अर्थ निकाले कि कर्म आत्मा में है तथा कर्म के कारण जीव को विकार होता है – सो वस्तुत: ऐसा नहीं है। भाई ! जो विकार होता है, वह अपनी पर्याय में अपने ही अपराध से होता है। भले ही कर्म का

निमित्तपना है, पर विकार अपना ही अपराध है। धर्मी की दृष्टि विकार पर नहीं है, बल्कि चैतन्यस्वभाव पर ही है। इसकारण वह विकार का कर्त्ता नहीं है।

करना 'कर्मराग' है। कर्मराग का अर्थ है रागादि करने की रुचि – अर्थात् रागादि करना मेरा कर्त्तव्य है, मुझे करना चाहिए। ऐसा अभिप्राय अज्ञानभाव है।

अहाहा ! भगवान आत्मा चिदानन्दघन प्रभु एक ज्ञायकस्वभावमय है तथा राग अज्ञानमय है; क्योंकि उसमें ज्ञान का अंश भी नहीं है। इसीकारण 'कर्मराग' को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है। राग के कर्त्तृत्व का अध्यवसाय ही कर्मराग है, अज्ञानमय अध्यवसाय है, मिथ्यादर्शनरूप महापाप है, अनन्त जन्म-मरण के दु:ख में डालनेवाला है।

देखो, तीन ज्ञान के धारी श्री शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ तीनों तीर्थंकर थे, चक्रवर्ती थे, कामदेव थे, उनके शरीर का सौन्दर्य अद्‌भुत था, छह खण्ड का वैभव था, छियानवे हजार रानियाँ थीं; फिर भी वे उनमें रीझे नहीं थे, उन्हें उन सब में एकत्व-ममत्व व कर्त्तृत्वबुद्धि नहीं थी। इन पदार्थों में जो अल्प राग होता भी है तो उसके वे कर्त्ता नहीं होते। मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहकर उन्हें केवल जानते-देखते हैं। अहो ! जिन्हें 'कर्मराग' नहीं होता वे धर्मात्मा ऐसे ही होते हैं।

यद्यपि भूमिकानुसार पर की दया पालने का भाव ज्ञानी-धर्मी पुरुषों को भी आता है, पर उसमें उनकी एकत्व व कर्त्तृत्वबुद्धि नहीं होती। दया, दान, भक्ति आदि में एकत्व व कर्त्तृत्व होना ही कर्मराग है।

वस्तुतः यह कलश अलौकिक है, अद्‌भुत है। इसमें कहा गया है कि धर्मी जीव तो अपनी शुद्ध निर्मल परिणति को भी मात्र जानता ही है और साथ में जो अशुद्ध रागांश है, उसे भी मात्र जानता ही है। जो रागांश होता है, उसे वह करता भी नहीं है और उसे छूता भी नहीं है। ज्ञातापने से उसे मात्र जानता ही है।

'भगवान की वाणी' यह कहना व्यवहार है। निमित्त की मुख्यता से ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः वाणी तो पुद्‌गल की क्रिया है, जड़ है, मूर्तिक है। वाणी

का कर्त्ता जीव कैसे हो सकता है ? यद्यपि जीव का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है, परन्तु वाणी का कर्त्तापना जीव के नहीं है।

देखो, राग को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है। यहाँ 'राग' का अर्थ राग में एकत्वबुद्धि है। राग से लाभ मानना भी राग में एकत्वबुद्धि ही है। जिसे ऐसा अज्ञानमय अध्यवसाय है, वह नियम से मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसकी ऐसी मिथ्या मान्यता है कि 'मैं जीवों की दया का पालन कर सकता हूँ, दूसरों को मार या जिला सकता हूँ।' जबकि वस्तुतः बात इससे सर्वथा जुदी है। ज्ञानी तो अपने राग का भी मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही है। जब वह अपने रागांश का भी कर्त्ता-भोक्ता नहीं है तो पर में कुछ करे – यह तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

अहा ! ज्ञानी को 'कर्मराग' नहीं है, अज्ञानमय अध्यवसाय नहीं है। इसकारण ज्ञानी लड़ाई में गया हो, युद्ध लड़ रहा हो, तो भी उसके राग में रुचि न होने से उसे तज्जनित बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत, अज्ञानी भले ही मुनि हो गया हो, व्यवहार में छहकाय के जीवों की हिंसा में प्रवृत्त न हो तो भी उसके अंतरंग में, अभिप्राय में, राग में एकत्वबुद्धि रूप 'कर्मराग' होने से उसे तज्जनित कर्मबंध होता है। •

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २४७॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २४७॥

परजीवानहं हिनस्मि, परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः।

अब मिथ्यादृष्टि के आशय को गाथा में स्पष्ट कहते हैं :-

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥ २४७॥

गाथार्थ :- [यः] जो [मन्यते] यह मानता है कि [हिनस्मि च] 'मैं पर जीवों को मारता हूँ [परैः सत्वैः हिंस्ये च] और पर जीव मुझे मारते हैं', [सः] वह [मूढः] मूढ़ (मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता) वह [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीका :- 'मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' - ऐसा *अध्यवसाय ध्रुवरूप से (नियम से, निश्चयतः) अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है, वह अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ - 'परजीवों को मैं मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा अभिप्राय अज्ञान है; इसलिए जिसका ऐसा आशय है वह अज्ञानी है - मिथ्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय नहीं है, वह ज्ञानी है - सम्यग्दृष्टि है।

---

* अध्यवसाय = मिथ्या अभिप्राय; आशय।

निश्चयनय से कर्त्ता का स्वरूप यह है – स्वयं स्वाधीनतया जिस भावरूप परिणमित हो उस भाव का स्वयं कर्त्ता कहलाता है। इसलिए परमार्थतः कोई किसी का मरण नहीं करता। जो पर से पर का मरण मानता है, वह अज्ञानी है। निमित्त-नैमित्तिक भाव से कर्त्ता कहना सो व्यवहारनय का कथन है; उसे यथार्थतया (अपेक्षा को समझकर) मानना सो सम्यग्ज्ञान है।

गाथा २४७, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

यह गाथा अत्यन्त सरल है। यहाँ कहते हैं कि जो ऐसा मानता है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी अन्य सशरीरी जीवों को मैं मारता हूँ, मार सकता हूँ, वह नियम से मिथ्यादृष्टि है। दूसरे जीवों को हनन करने का तात्पर्य यह है कि जिन जीवों के पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोछ्वास आदि दस प्राण हैं, उन्हें जुदा करना, नष्ट-भ्रष्ट कर देना। आत्मा तो एक अजर-अमर-अविनाशी-ध्रुव तत्त्व है, उसका तो कभी मरण या नाश होता ही नहीं है। हाँ, इन दस प्राणों का जो संयोग-वियोग होता रहता है, उसे ही जीवित रहने और मरण होने की संज्ञा दी जाती है।

प्राण जड़ हैं व आत्मा चेतन है। दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। जब कोई किसी को छूता ही नहीं है तो फिर आत्मा जड़ प्राणों को जुदा कैसे कर सकता है ?

'मैं पर को मारूँ या पर जीव मुझे मारे' यह कैसे संभव है ? क्योंकि मैं व पर – दोनों ही भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। अतः जो व्यक्ति एक द्रव्य में दूसरे का कर्त्तृत्व माने, वह नियम से मूढ़-मिथ्यादृष्टि है।

अहो ! यह तो तीन लोक के नाथ की उद्घोषणा है कि सर्वद्रव्य स्वतंत्र हैं, कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के अधीन नहीं है।

हाँ, दो द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है, पर निमित्त-नैमित्तिक का अर्थ कर्त्ता-कर्मपना नहीं होता। निमित्त तो मात्र कार्य के काल कार्य के अनुकूल परद्रव्य के अस्तित्व का द्योतक है। वह निमित्तरूप परद्रव्य में सहयोगादि कुछ करता नहीं है।

पिछली गाथाओं में भी कह आये हैं कि मात्र राग में एकत्वबुद्धि ही बंध का कारण है। मन-वचन-काय की क्रिया या चेतन-अचेतन का घात आदि बाह्य क्रियायें बंध का कारण नहीं हैं; क्योंकि कोई भी द्रव्य पर की क्रिया कर ही नहीं सकता।

भाई ! जब जीव का पर की सत्ता में प्रवेश ही संभव नहीं है तो फिर वह पर को मार कैसे सकता है, पर के अस्तित्व का नाश कैसे कर सकता है ? यह जिनागम का महासिद्धान्त है कि कोई भी जीव किसी पर जीव को मार नहीं सकता, जीवित भी नहीं रख सकता। मारने का भाव होता है, पर मार नहीं सकता।

यहाँ कोई कह सकता है कि आप क्या बात करते हो ? अरे ! पण्डित टोडरमलजी को राजा ने हाथी के पैर से कुचल कर मरवाया था या नहीं ? उसका समाधान करते हुए यहाँ कहा गया है कि अरे भाई ! वह तो जिस काल में जो क्रिया होनी थी, वही हुई है। उनकी मृत्यु को समय से पहले करने/कराने वाला अन्य कोई नहीं था। निमित्त की मुख्यता से ऐसा कहा जाना अलग बात है और वास्तविकता कोई जुदी बात है।

पण्डित टोडरमलजी के सामने वह घटना उनकी श्रद्धा की दृढ़ता की चुनौती बनकर आई थी। उन्हें अंतरंग में ऐसी दृढ़ श्रद्धा थी कि मुझे कोई मार नहीं सकता अर्थात् कोई मेरी आयु को मुझ से छीन ही नहीं सकता और इसी निमित्त कारण से मेरी आयु का अंत होना है तो उसे भी कोई टाल नहीं सकता। कौन-किसको मार सकता है या जीवित रख सकता है ? यह तो कोरा भ्रम है कि राजा ने पण्डित टोडरमलजी को मारा। हाँ, मृत्युदण्ड दिया होगा। मृत्युदण्ड देना जुदी बात है और मारना जुदी बात है। इन्हीं विचारों में मग्न रहते हुए अत्यन्त समताभाव से समाधिमरणपूर्वक ही उनकी देह स्वकाल में ही विसर्जित हुई थी। राजा ने उन्हें मारा नहीं था, बल्कि जब वे मरे, तब राजा का उस जाति का विकल्प चल रहा था; इसलिए लोक व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि 'राजा ने उन्हें मरवा दिया।'

लौकिकदृष्टि से – लोकव्यवहार में ऐसा कहना असत्य भी नहीं है। जिसका ऐसा सद् अभिप्राय है, वह ज्ञानी है।

आत्मा तो अजर-अमर है। वह तो कभी मरता ही नहीं है। दस प्राणों के संयोग-वियोग से जो जीवन-मरण का व्यवहार होता है, वह भी पर के हाथ में नहीं है। फिर भी अज्ञानी मारने-बचांने की मिथ्या मान्यता रखता है। अतः यहाँ मारने-बचाने के अभिप्राय को मिथ्या कहा जा रहा है, जो कि बंध का कारण है।

जिसके ऐसा मिथ्या अभिप्राय नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है। जब भी ऐसे ज्ञानियों को कोई मारने के लिए आता है, तब वे ऐसा दृढ़ श्रद्धान रखते हैं कि 'यह व्यक्ति मुझे मार नहीं सकता।' इससे उनके समताभाव प्रगट होता है।

अहा ! प्रत्येक सत्ता अभेद्य है। किसी की सत्ता में अन्य किसी का प्रवेश ही नहीं होता। तब फिर कोई किसी को मारे – यह बात ही कहाँ से लाए ? इसलिए जिसका पर को मारने-बचाने का अभिप्राय हो, वह मिथ्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय न हो, वह सम्यग्दृष्टि है।

दस प्राणों के वियोग का नाम मरण है। जब प्राण ही आत्मा के नहीं हैं तो फिर मैंने इसके प्राण लिये – यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। कोई किसी का मरण करे – यह वस्तु स्थिति ही नहीं है।

हाँ, निमित्त-नैमित्तिक भाव से कर्त्ता कहने का व्यवहार है। उसे यथार्थ रीति से मानना सम्यग्ज्ञान है। व्यवहार से जो यह कहा जाता है कि अमुक ने अमुक को मारा या बचाया, सो यह इस बात का सूचक है कि अमुक व्यक्ति के मरण या जीवित रहने के काल में बाह्य में किसी जीव का मारने या बचाने का भाव निमित्तरूप में था। बस निमित्त-नैमित्तिकता का ज्ञान कराने की दृष्टि से यह सब व्यवहार कथन होता है। वस्तुस्वरूप की ओर से देखा जावे तो कोई किसी को मार सके या बचा सके – ऐसा वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है। इस व्यवहार वचन की अपेक्षा को समझना ही सम्यग्ज्ञान है। •

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् –

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ॥ २४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ॥ २४९॥

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम् ॥ २४८॥
आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तैः ॥ २४९॥

मरणं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मक्षयेणैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्ः, स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य हर्तुं शक्यं, तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य मरणं कुर्यात्। ततो हिनस्मि, हिंस्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।

अब यह प्रश्न होता है कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उसके उत्तर स्वरूप गाथा कहते हैं –

निज आयु क्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं ? ॥ २४८॥
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं ? ॥ २४९॥

गाथार्थ :– (हे भाई ! तू जो यह मानता है कि 'मैं परजीवों को मारता हूँ' सो यह तेरा अज्ञान है।) [जीवानां] जीवों का [मरणं] मरण [आयुःक्षयेण] आयुकर्म के क्षय से होता है ऐसा [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेव ने [प्रज्ञप्तम्] कहा है; [त्वं] तू [आयुः] पर जीवों के आयुकर्म को तो [न हरसि] हरता नहीं है, [त्वया] तो तूने [तेषाम् मरणं] उनका मरण [कथं] कैसे [कृतं] किया ?

(हे भाई ! तू जो यह मानता है कि 'पर जीव मुझे मारते हैं' सो यह तेरा अज्ञान है।) [**जीवानां**] जीवों का [**मरणं**] मरण [**आयुःक्षयेण**] आयुकर्म के क्षय से होता है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनेन्द्रदेव ने [**प्रज्ञप्तम्**] कहा है; पर जीव [**तव आयुः**] तेरे आयुकर्म को तो [**न हरंति**] हरते नहीं हैं, [**तैः**] तो उन्होंने [**ते मरणं**] तेरा मरण [**कथं**] कैसे [**कृतं**] किया ?

टीका :– प्रथम तो, जीवों का मरण वास्तव में अपने आयुकर्म के क्षय से ही होता है, क्योंकि अपने आयुकर्म के क्षय के अभाव में मरण होना अशक्य है; और दूसरे से दूसरे का स्व-आयुकर्म हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (स्व-आयुकर्म) अपने उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है; इसलिये किसी भी प्रकार से कोई दूसरा किसी दूसरे का मरण नहीं कर सकता। इसलिये 'मैं परजीवों को मारता हूँ, और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूप से (नियम से) अज्ञान है।

भावार्थ – जीव की जो मान्यता हो तदनुसार जगत में नहीं बनता हो, तो वह मान्यता अज्ञान है। अपने द्वारा दूसरे का तथा दूसरे से अपना मरण नहीं किया जा सकता, तथापि यह प्राणी व्यर्थ ही ऐसा मानता है सो अज्ञान है। यह कथन निश्चयनय की प्रधानता से है।

व्यवहार इसप्रकार है – परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से पर्याय का जो उत्पाद-व्यय हो उसे जन्म-मरण कहा जाता है; वहाँ जिसके निमित्त से मरण (पर्याय का व्यय) हो उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि 'इसने इसे मारा' यह व्यवहार है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि व्यवहार का सर्वथा निषेध है। जो निश्चय को नहीं जानते, उनका अज्ञान मिटाने के लिए यहाँ कथन किया है। उसे जानने के बाद दोनों नयों को अविरोधरूप से जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिए।

गाथा २४८-२४९ पर प्रवचन

इस गाथा में इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है कि 'मैं किसी को मारता हूँ या मार सकता हूँ' – इस अध्यवसान की तरह ही 'मैं किसी को । हूँ या बचा सकता हूँ' – यह अध्यवसान भी अज्ञान है।

प्रथम तो जीवों का मरण या जीवन वस्तुतः उनके स्वयं के आयु कर्म के क्षय या उदय पर निर्भर करता है। कोई अन्य किसी अन्य को मार सकता है या जीवित रख सकता है – ऐसा है ही नहीं।

जीव की आयु पूरी होने पर ही उसका मरण संभव है। जिस समय व जिस क्षेत्र में आयु पूरी होती है, उसी समय व उसी क्षेत्र में देह छूट जाती है – यह बात न केवल कुन्दकुन्द की है, बल्कि जिनेश्वर देव की है – ऐसा स्वयं कुन्दकुन्द कहते हैं। मूल गाथा में 'जिणवरेहिं पण्णत्तं' – ऐसा कहकर कुन्दकुन्द ने जिनेन्द्र की छाप लगाई है।

यहाँ इस प्रकरण में किसी को यह शंका हो सकती है कि जब आयु कर्म का क्षय होगा तभी देह छूट सकेगी न ? तथा जबतक आयुकर्म हो तबतक ही तो जीव देह में रह सकता है न ?

यहाँ शंकाकार को यह भ्रम है कि जीव का व देह का संबंध रहना – न रहना कर्माधीन है।

इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि अरे भाई ! जब देह छूटने का काल हो, देह तभी छूट जाती है तथा जबतक जीव का देह में रहने का काल हो तबतक वह देह में रहता है। जीव की व देह की – दोनों की जुदी-जुदी कुछ ऐसी ही स्वतंत्र योग्यता है। दोनों अपनी-अपनी योग्यता से अपने-अपने कारण साथ-साथ रहते हैं और अपनी-अपनी स्वतंत्र योग्यता से अपने-अपने स्वचतुष्टय के अनुसार अलग-अलग हो जाते हैं। उनके रहने व अलग होने में जो आयुकर्म का उदय व क्षय निमित्त रूप में होता है, उसकी भी अपनी स्वतंत्र योग्यता है; तीनों का मात्र समकाल है। कोई किसी के आधीन नहीं है।

भाई ! आयु कर्म तो जड़ है व जीव चेतन है, दोनों पूर्ण स्वतंत्र हैं। जड़कर्म जीव का कुछ नहीं करता। आयुकर्म के क्षय से जीव का मरण होने की बात कही गई है, उसका प्रयोजन तो यह है कि जीव के मरणकाल में आयुकर्म का क्षय नियम से निमित्त है।

अहा ! 'कोई एक-दूसरे का मरण कर सकता है' ऐसी मिथ्या मान्यता का निषेध करने तथा मरणकाल में आयुकर्म के क्षय की नियमरूप निमित्तता का ज्ञान कराने की मुख्यता से ही यह गाथा रची गई है।

आचार्य यहाँ कहते हैं कि प्रथम तो जीवों का मरण वस्तुतः अपने-अपने आयुकर्म के क्षय से ही होता है, क्योंकि अपने-अपने आयुकर्म के क्षय के अभाव में जीवों का मरण अशक्य है। अर्थात् कोई जीव किसी अन्य को मार ही नहीं सकता; क्योंकि कोई अन्य अपने आयु कर्म को हर नहीं सकता - यह अकाट्य सिद्धान्त है।

इसीप्रकार कोई किसी मरते हुए जीव को जीवित नहीं रख सकता; क्योंकि वह उसे अपना आयुकर्म नहीं दे सकता।

यहाँ जड़ आयुकर्म को भोगने की बात नहीं है, बल्कि उस जीव की वहाँ उस पर्याय में रहने की योग्यता ही उतने काल की थी। जड़ आयुकर्म तो उसमें निमित्त मात्र होता है। तथा जिनवाणी में निमित्त की मुख्यता से ऐसा कथन करने की रीति भी व्यवहारनय से है।

अब अन्त में निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि - 'मैं पर जीव को मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं, मार सकते हैं' - ऐसा अध्यवसाय ध्रुवपने (निश्चय से) अज्ञान है और ऐसी मान्यता मिथ्यात्वरूप होने से अनन्त संसार का कारण है।

गाथा २४८-२४९ के भावार्थ पर प्रवचन

लोक में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से जो क्रिया होती है, उसे व्यवहारनय से निमित्त से हुई कही जाती है। किन्तु निश्चय से - वास्तविकरूप में ऐसा नहीं है। जो वस्तु के निश्चयपक्ष को - सत्यार्थस्वरूप को नहीं जानते, वे अज्ञानी हैं। इस अज्ञान का नाश करने के लिए ही यहाँ निश्चय प्रधान कथन किया गया है।

वास्तव में तो परद्रव्य की क्रिया – पर को मारने या बचाने की क्रिया आत्मा के अधिकार की बात ही नहीं है। यह वस्तुस्थिति है। तथापि द्रव्यों में जो क्रियायें होतीं हैं, वे सब परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से होतीं हैं। अतः निमित्त का यथार्थ ज्ञान भी आवश्यक है। क्योंकि किस निमित्त से कौनसी क्रिया हुई या होती है – यह जाने बिना निमित्त का – व्यवहार का यथार्थ ज्ञान नहीं होता और निश्चय-व्यवहार के जाने बिना जिनवाणी का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अतः निश्चय व व्यवहार – दोनों नयों को अविरोधी जानकर-एक को दूसरे का पूरक मानकर वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना – ऐसा कहा है।

जीवों का मरण अर्थात् उनके द्रव्यप्राणों का वियोग तो उनके स्वकाल में ही हुआ है। तथा बाह्य-परपदार्थों का निमित्तपना भी अपने-अपने कारणों से सहज बना है। ऐसा ज्ञानी यथार्थ मानते हैं, जानते हैं।

ज्ञानी को यह श्रद्धान बराबर है कि किसी अन्य जीव के मारने या बचाने में हमारा कोई कर्तृत्व नहीं है। हाँ, मेरी स्वरूप स्थिरता नहीं है, इसकारण प्रमादवश पर की रक्षा का या परघात का विकल्प आया है। परन्तु मैं वस्तुतः किसी को मार नहीं सकता तथा मरनेवाले को जीवित भी नहीं रख सकता। सभी प्राणी अपने-अपने आयुकर्म के कारण जीवित रहते हैं और आयुकर्म के क्षय होने पर मरण को प्राप्त होते हैं। मैं या मेरा विकल्प तो उनके मरने व जीवित रहने में निमित्त मात्र होता है। मुझे जो मारने या जीवित रखने का भाव आया – विकल्प हुआ, वह मेरी अस्थिरताजनित चारित्र की कमजोरी का दोष है, मिथ्यात्व का दोष नहीं है। जबकि अज्ञानी ऐसा मानता है कि – 'यह मेरा कार्य है, यह मैंने किया है, मैं इस कार्य को कर सकता हूँ।' उसका ऐसा विपरीत अभिप्राय है, इसकारण वह निमित्तकर्त्ता कहलाता है। •

समयसार गाथा २५०

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्तेति चेत्–

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये च परैः सत्त्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २५०॥

परजीवानहं जीवयामि, परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ।

अब पुनः प्रश्न होता है कि '(मरण का अध्यवसाय अज्ञान है यह कहा सो जान लिया; किन्तु अब) मरण के अध्यवसाय का प्रतिपक्षी जो जीवन का अध्यवसाय है उसका क्या हाल है ?' उसका उत्तर कहते हैं –

मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ! ॥ २५०॥

गाथार्थ :– [यः] जो जीव [मन्यते] यह मानता है कि [जीवयामि] मैं पर जीवों को जिलाता हूँ [च] और [परैः सत्त्वैः] पर जीव [जीव्ये च] मुझे जिलाते हैं, [सः] वह [मूढः] मूढ़ (मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता किन्तु इससे उल्टा मानता है) वह [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीका – 'परजीवों को मैं जिलाता हूँ, और परजीव मुझे जिलाते हैं' इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से (अत्यन्त निश्चित रूप से) अज्ञान है। जिसके यह अध्यवसाय है वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ – यह मानना अज्ञान है कि 'परजीव मुझे जिलाता है और मैं पर को जिलाता हूँ'। जिसके यह अज्ञान है, वह मिथ्यादृष्टि है तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि है।

गाथा २५० की टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि किसी को मारने-बचाने का भाव ध्रुवपने अज्ञानमय अध्यवसाय है तो फिर दीन-दु:खियों पर दया करनी चाहिए या नहीं ?

उसकी इस शंका का समाधान यह है कि वस्तुत: तो जब कोई किसी को मार या बचा नहीं सकता तो कौन किस पर दया करे ? परन्तु, पर की दया का भाव तो ज्ञानियों को भी आता है, पर उनकी दया से किसी मरते हुए जीव को जीवनदान नहीं मिल सकता; क्योंकि जिसकी आयु समाप्त हो गई, उसे कोई दया करके अपनी आयु नहीं दे सकता – यह अकाट्य सिद्धान्त है।

पिछली गाथा में ज्ञानी की बात कही थी कि – जब ज्ञानीजीव स्वरूप में लीन होकर ध्यान दशा में होता है, तब उसे ऐसा विकल्प ही नहीं होता कि – मैं किसी जीव की रक्षा करूँ, बचाऊँ; किन्तु जब वह ध्यान में से बाहर आता है – तब प्रमादवश यदा-कदा ऐसे निरर्थक विकल्प करने लगता है कि 'मैंने अमुक को जीवनदान दिया।' परन्तु उस समय भी उसकी श्रद्धा बराबर यही रहती है कि मैं किसी जीव को मार या बचा नहीं सकता। मारने या बचाने के विकल्पों के समय भी उसकी ऐसी ही मान्यता है कि इन जीवों की आयु शेष होगी तो ही बचेंगे और आयु पूर्ण हो चुकी होगी तो ही मरेंगे। मैं या मेरा विकल्प तो निमित्त मात्र होगा।

यद्यपि ज्ञानियों को भी पर को बचाने, जीवनदान देने, उनकी रक्षा करने का भाव आता है। अंतरंग से ऐसे विकल्प उठते हैं। मुनिराजों को भी छहकाय के जीवों की रक्षा का विकल्प होता है, परन्तु ये विकल्प चारित्रमोहजनित अस्थिरता के कारण होते हैं; पर वे ऐसा नहीं मानते कि ये जीव मेरे कारण जीवित रहेंगे। जीवों का जीवन-मरण तो उनकी अपनी समय-समय की स्वतंत्र योग्यता से होता है और ज्ञानियों एवं मुनिराजों को जो विकल्प आता है, वह उनकी स्थिति में या जीवित रहने में निमित्त मात्र है।

अहा ! 'मैं पर जीवों का जीवनदाता, पालनहार, रक्षक एवं पर जीव डॉक्टर आदि मेरे जीवनदाता हैं' - ऐसा अध्यवसाय निश्चितरूप से अज्ञान है। जो वैद्य व डॉक्टर तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ होते हैं, वे भले ऐसा मानें; पर तत्त्वज्ञानी-आत्मज्ञानी व्यक्ति ऐसा नहीं मानते। भाई ! यह वस्तुस्वरूप है। ऐसा नहीं है कि डॉक्टर, वैद्य या औषधियाँ आदि किसी मरते प्राणी को बचा सकें।

प्रश्न – जीवदया और अहिंसा तो जीव का कर्त्तव्य है, धर्म है; अतः परजीवों की रक्षा तो हमें करनी ही चाहिए न ? इसके विना हमारे दया-धर्म का पालन कैसे होगा ?

उत्तर – भाई ! जीवदया - अहिंसा जीव का स्वभाव है, धर्म है; यह तो बराबर है। पर अहिंसा का अर्थ क्या ? जीवदया का अर्थ क्या ? अहिंसा अर्थात् स्व के आश्रय से अपने में राग की उत्पत्ति ही न होने देना तथा वीतराग पर्याय की उत्पत्ति करना। इसका नाम अहिंसा है और यही वस्तुतः स्वदया है, जीव दया है। अहिंसा धर्म है, वह आत्मस्वरूप है, राग रूप नहीं। दया भी धर्म है, पर जव वह स्वदयारूप हो।

पर की रक्षा का भाव एवं पर के ऊपर करुणाबुद्धि – ये रागरूप होने से पुण्य बन्ध के कारण तो हैं, पर धर्म नहीं। धर्म तो एकमात्र वीतराग स्वभावरूप ही होता है। अनादि काल से 'स्व' पर अनंत क्रोध किया; अनंत द्वेष किया। तभी तो अपनी बात भी आज तक न सुनी, न समझी। अरे ! अपने आत्मा की रुचि ही सच्ची स्वदया है और वही दया वस्तुतः धर्म है।

वाकी, पर की दया तो इस जीव ने अनंतवार की और उसके फल में अनेक वार स्वर्गादि गति भी पाई, पर उससे आत्मा का कल्याण नहीं हुआ। आत्मा स्वयं शुद्ध चिदानन्दघनस्वरूप प्रभु, अखण्ड, एक, ज्ञायकभावस्वभावी-वीतरागस्वभावी त्रिकाली ध्रुव है। उसका आश्रय करके उसी में स्थिर रहने-ठहरने-रमने का नाम ही स्वदया एवं निश्चय अंहिसा है और यही परमधर्म है।

स्वदया करना तो आत्मा का स्वभाव है, परन्तु पर की दया पालना आत्मा का स्वभाव नहीं है। जीव की आयु जो कि स्पष्ट पर है, उसे स्वयं का कर्तृत्व

मानना महा विपरीतता हुई। पर को अपना मानना तथा उसे जीवित रखने या रक्षा करने के शुभराग को अपना स्वभाव मानने में तो अपने त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का निषेध हो जाता है और यह वस्तुतः हिंसा ही है।

अहा ! जीव स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है, उसे वैसा न मानकर तथा राग को अपना स्वभाव मानना – यह सब हिंसा है; क्योंकि ऐसी मान्यता में अपना घात होता है। अरे ! मैं पर की रक्षा करता हूँ – ऐसे अभिप्राय का सेवन करके अज्ञानी ने अनादि से आत्मघात ही किया है।

एकमात्र वीतरागी अहिंसा ही मुक्ति का मार्ग है। मैं पर को बचा सकता हूँ, पर की रक्षा कर सकता हूँ, पर को जीवनदान देना मेरा धर्म है – ऐसा जो मानता है, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि पर को मारना या बचाना, सुखी या दुःखी करना, किसी के हाथ में है ही नहीं। सभी जीव अपने-अपने पुण्य-पापानुसार या ज्ञान-अज्ञान के अनुसार सुखी-दुःखी होते हैं। तथा अपने आयु कर्म के निमित्त से जीते-मरते हैं।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो दयाधर्म क्या है ?

उत्तर – अहा ! आत्मा का स्वभाव तो त्रिकाल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी, वीतराग-स्वभावी व दयास्वभावी ही है और उसमें अन्तर्दृष्टि करने से पर्याय में भी राग की उत्पत्ति न होने से चैतन्य की जो निर्मल परिणति-वीतराग परिणति की उत्पत्ति होती है, वस्तुतः तो वही दयाधर्म है। परन्तु ऐसा दयाधर्म सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी धर्मात्मा जीवों के होता है, अज्ञानी के नहीं।

हाँ, विकल्प के कारण सम्यग्दृष्टियों को पर की रक्षा का भाव भी होता है; तथापि उनकी श्रद्धा में ऐसा भाव नहीं होता कि – मैं पर की रक्षा कर सकता हूँ। अर्थात् ऐसा अहं भाव नहीं होता कि मैं किसी अन्य को बचा या मार सकता हूँ या सुखी-दुःखी कर सकता हूँ। उन्हें तो ऐसा पक्का श्रद्धान है कि पर जीव का जीवन-मरण तो उसकी योग्यता से, उसकी आयु के उदय या क्षय के कारण होता है; उसमें मेरा कोई कर्त्तृत्व नहीं है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ।

अहा ! धर्मी पुरुष को पर के दुःख व मरण को देखकर मन में जो उनकी दया का विकल्प हुआ एवं तत्समय जो रक्षा करने रूप वचन व काय की क्रिया हुई, वह तो उसका भी मात्र दृष्टा रहता है, कर्त्ता नहीं बनता। ऐसी स्थिति में वह पर के जीवन-मरण का कर्तृत्व कैसे स्वीकार कर सकता है ? पर की दया पालने का अभिप्राय तो स्पष्ट मिथ्यात्व है। वीतरागमार्ग की ऐसी अद्भुत बात सर्वज्ञ परमेश्वर के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

मैं स्वयं निर्मलानन्द का नाथ अनन्त शक्तियों का भंडार सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान हूँ; पर अनादिकाल से अपने उस निज स्वरूप को भूलकर मैंने स्वयं को अनन्त दुःखों में डाल रखा है। अपने स्वरूप की पहचान कर, निजात्मा की प्रतीति कर, उसी में एकाग्र होना ही स्वदया का सच्चा स्वरूप है। निज भगवान आत्मा को भवसागर से निकालने का उपर्युक्त उपाय करना ही वस्तुतः स्वदया है। यह दया ही सच्चे सुख की खान है। ऐसी दया धारण करके ही अनन्त जीव मुक्त हुए हैं। शुभोपयोगरूप परदया से आज तक न कोई मुक्ति को प्राप्त हुआ है न कभी होगा।

भाई ! पर जीव की पर्याय को कौन उत्पन्न कर सकता है ? उसे कौन टाल सकता है ? उसका कौन व्यय कर सकता है ? जब उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का अपना स्वभाव ही है तो फिर पर का जीवन-मरण कौन कर सकता है ?

देखो, अहिंसा महाव्रत में मुनिराजों को भी पर जीवों की रक्षा का विकल्प आता है, तभी तो वे समितियों का पालन करते हैं। ज्ञानी धर्मात्मा जब-जब अपने स्वरूप में स्थिर नहीं होते; तब-तब प्रमादवश अस्थिरता के कारण भूमिकानुसार परजीवों की रक्षा का विकल्प भी आता है – यह जुदी बात है। परन्तु वे इन शुभ विकल्पों को अपना कर्त्तव्य नहीं मानते; बल्कि पुरुषार्थ की कमजोरी मानते हैं। इसकारण वे जब अपने इन विकल्पों के भी कर्त्ता नहीं बनते तो पर के जीवन-मरण एवं सुख-दुःख के कर्त्ता बनने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रश्न – आपका यह कहना ठीक है, पर वे निमित्त तो हुए न ?

उत्तर – अरे भाई ! निमित्त होने का यहाँ प्रश्न ही कहाँ है ? जब उपादान की योग्यता से प्रत्येक पर्याय अपने से अपने में ही होती है तब समीपस्थ जीवों का जो/जैसा विकल्प होता है, उसे निमित्त कहा जाता है। दोनों के होने का मात्र समकाल है। जब इस जीव की आयु शेष होती है, तभी समीपस्थ जीव को ऐसी 'परदयारूप' भावना होती है; ऐसा ही शुभ विकल्प होता है कि 'मैं इसे बचा लूँ, मरने न दूँ। यह मेरे पैर के नीचे न आ जावे। आदि ……।'

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसके शुभ विकल्प से ही अमुक जीव बचा है, अन्यथा मर ही जाता। ऐसे बचाने के विचार द्वारा निमित्त बनने की चेष्टा करना तो कर्त्तापने की मान्यतारूप अज्ञान ही है।

अहा ! शैली तो देखो ! राग रहित वीतराग परिणतिरूप अंहिसा ही परमधर्म है। इसके सिवाय परजीव की दया के रागरूप विकल्प को वास्तविक अहिंसाधर्म मानना मिथ्यात्व है।

सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव को जब पर की ओर लक्ष्य जाता है तब ऐसा भाव आता है कि 'मैं पर को बचाऊँ, रक्षा करूँ, अभयदान दूँ।' पर उसी समय उसके अन्तरंग में ऐसा दृढ़ निश्चय रहता है कि मैं किसी का जीवनदाता, सुख-दुःखदाता नहीं हूँ। मैं पर को अभयदान दे ही नहीं सकता। इनका जीवन तो इन्हीं के कारण है। मेरा विकल्प तो उनकी रक्षा में निमित्त मात्र है, कर्त्ता नहीं।' जो ऐसा यथार्थ जानता है, वह सम्यक्दृष्टि है।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् -

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं ॥ २५१॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हु ।
आउं च ण दिति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ॥ २५२॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषाम् ॥ २५१॥
आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददति तव कथं नु ते- जीवितं कृतं तैः ॥ २५२॥

जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदंभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायुः कर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात्। अतो जीवयामि, जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।

अब यह प्रश्न होता है कि यह (जीव का) अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ?

इसका उत्तर कहते हैं :-

सब आयु से जीवित रहें – यह बात जिनवर ने कही ।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं ? ॥ २५१॥
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही ।
कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं ? ॥ २५१॥

गाथार्थ :- [जीवः] जीव [आयुरुदेन] आयुकर्मके उदय से [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भणंति] कहते हैं; [त्वं] तू [आयुः च] पर जीवों का आयुकर्म तो [न ददासि] नहीं देता [त्वया] तो (हे भाई !) तूने [तेषाम् जीवितं] उनका जीवन (जीवित रहना) [कथं कृतं] कैसे किया ?

[जीवः] जीव [आयुरुदये] आयुकर्म के उदय से [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भणंति] कहते हैं; पर जीव [तव] तुझे

[आयुः च] आयुकर्म तो [न ददति] देते नहीं हैं [तैः] तो (हे भाई !) उन्होंने [ते जीवितं] तेरा जीवन (जीवित रहना) [कथं नु कृतं] कैसे किया ?

टीका – प्रथम तो, जीवों का जीवित रहना (जीवन) वास्तव में अपने आयुकर्म के उदय से ही है; क्योंकि अपने आयुकर्म के उदय के अभाव में जीवित रहना अशक्य है और अपना आयुकर्म दूसरे से दूसरे को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना आयुकर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से कोई दूसरे का जीवन नहीं कर सकता। इसलिए 'मैं पर को जिलाता हूँ और पर मुझे जिलाता है' इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से (नियतरूप से) अज्ञान है।

भावार्थ – पहले मरण के अध्यवसाय के सम्बन्ध में कहा था, इसीप्रकार यहाँ भी जानना।

गाथा २५१-२५२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

टीका के प्रारंभिक बोल में जो यह लिखा है कि 'जीवों का जीवित रहना वस्तुतः अपने-अपने आयुकर्म के उदय से ही होता है' इस कथन में से लौकिकजन प्रायः यह अर्थ निकालते हैं कि देखो ! शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि जीव आयुकर्म से ही जीवित रहता है' ।

इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य यहाँ कहते हैं कि अरे भाई! यह तो निमित्त की अपेक्षा किया गया कथन है। वस्तुतः तो दूसरा कोई द्रव्य किसी को जीवित रखे – ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। यहाँ इन गाथाओं में यही वस्तु का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न है। आयुकर्म की निमित्तता का ज्ञान कराकर यह सिद्ध किया है कि 'अन्य जीव तो किसी अन्य के प्राण हरण करने में यथार्थ निमित्त भी नहीं है।' अतः यह मानना छोड़ दे कि मैं किसी को मार सकता हूँ या बचा सकता हूँ।

वस्तुस्वरूप की ओर से देखा जाये तो आयुकर्म भी जड़ है, वह भी जीवों को जीवित रखने में अकिंचित्कर ही है। जब दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में

अत्यन्ताभाव पड़ा है तो एक-दूसरे में क्या कर सकते हैं ? जब दोनों वस्तुएँ ही भिन्न-भिन्न हैं तो कर्म जीव का क्या करे, कैसे करे; आखिर करे भी क्यों?

जीव को इस जड़ शरीर में रहना है, पर इसका शरीर में रहना भी अपनी स्वतन्त्र योग्यता से होता है, शरीर या कर्म के कारण नहीं। आयुकर्म के कारण रहता है – ऐसा जो शास्त्रों में कहा है सो वह तो निमित्त की मुख्यता से किया गया व्यवहार का कथन है।

जीव को वह समझना पड़ेगा कि वस्तु का स्वरूप क्या है, स्वयं कौन है, यह कारण-कार्य व्यवस्था कैसी है, तथा जिनवाणी में कथन के विभिन्न प्रयोग किस-किस प्रकार के होते हैं ?

भगवान ! तू तो चिदानंदघन प्रभु एक चैतन्य स्वरूप है न ? शुद्ध चैतन्य प्राणों से सदा जीवित चैतन्य का पिण्ड प्रभु है न ? सर्वसत्तासम्पन्न आत्मप्रभु को अन्य कौन जीवित रखे ?

जो क्षुद्रप्राणी ऐसा अहंकार करते हैं कि 'हमने बचाया या हम मार सकते हैं' उनका यह अहंकार तोड़ने के उद्देश्य से जिनवाणी में ऐसा कथन आता है कि 'जब तू किसी को आयु दे नहीं सकता तो तूने जीवनदान कैसे दिया? और जब तू किसी का आयुकर्म छीन नहीं सकता तो तूने किसी को कैसे मारा ? जीव के जीवन व मरण में तथा सुखी-दु:खी होने में तो स्वयं जीव के आयुकर्म व साता-असाता कर्म निमित्त हैं। तू तो निमित्त भी नहीं है। अत: तेरा अहंकार मिथ्या है'।

यहाँ निमित्त से कथन करके निमित्त का कर्त्तृत्व सिद्ध नहीं करना है, बल्कि अन्य कोई जीव, कर्म या नोकर्म किसी को मार/बचा नहीं सकता, सुखी/दु:खी नहीं कर सकता – ऐसा पर के अहंकार-ममकार व कर्त्तृत्व छुड़ाने के पवित्र उद्देश्य से यह निमित्त का कथन किया है।

देखो, कैसी गजब की शैली है। कहा है कि 'जीवों का जीवन वास्तव में अपने आयुकर्म के उदय से ही है।' इस शैली के अभिप्राय को यथार्थ समझे

बिना अज्ञानी जीव भ्रमित हो जाते हैं, अतः अपने पूर्व आग्रह को छोड़कर अत्यन्त जिज्ञासा से कथन के यथार्थ भाव को ग्रहण करना चाहिए।

देखो, 'अपना आयुर्कर्म' इसका अर्थ क्या ? क्या आयुकर्म जीव का है ? आयुकर्म तो स्पष्ट जड़रूप है। फिर भी अपना जो कहा, उसका प्रयोजन तो केवल संयोग का व निमित्त का कथन करना है। तथा 'आयुकर्म के उदय से ही' - ऐसा जो कहा है, उसका यह अर्थ कदापि ग्रहण नहीं करना कि सुख-दुःखादि कर्म से ही होते हैं। भाई ! इस कथन से बस इतना समझना कि जब भी जीवन-मरण होगा या सुख-दुःख होगा तब आयु कर्म का उदय आदि ही नियम से निमित्त रूप होता है। अन्य किसी प्रकार के निमित्त होने का नियम नहीं है। आत्मा या जीव तो अपनी योग्यता से ही देह में रहता है। आयुकर्म तो मात्र निमित्त है।

अहा ! 'मैं अन्य जीवों को जीवित रख सकता हूँ, उनका पालन-पोषण करता हूँ, उनका जीवन-निर्वाह करता हूँ, स्त्री-पुत्र परिवार आदि सबका जीवनदाता, संरक्षक आदि हूँ' - ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है, अज्ञान है। यह सिद्धकरने के लिए यह कहा है कि जीवों का जीवन वस्तुतः अपने-अपने आयुकर्म के उदय के कारण ही है।

आगे कहा है कि 'अपने आयुकर्म के उदय के अभाव में जीवित रखना भी असंभव है' यदि अपना आयुकर्म शेष न हो, क्षीण हो गया हो तो अन्य कोई बड़े से बड़े वैद्य-डॉक्टर जीवित रखने में समर्थ नहीं है। जबतक अपना आयुकर्म हो, तभी तक हम जीवित रह सकते हैं।

यद्यपि आयुकर्म जड़ है फिर भी इसे जीव का कहा सो यह सब कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा है।

अब आगे कहते हैं कि 'तथा अपना आयुकर्म एक से दूसरे को दिया नहीं जा सकता; क्योंकि अपना-अपना आयुकर्म अपने-अपने परिणामों से ही उपार्जित होता।' लौकिक लोकोक्तियों में जो आयु देने की बातें प्रचलित हैं, वे तो बालकथाएं हैं जो बालकों को सन्मार्ग पर लगाने के प्रयोजनवश

कथाकारों द्वारा कल्पित कथाओं के रूप में लिख दी जाती हैं। उन्हें अक्षरश: सत्य नहीं समझना चाहिए। कथाओं का तो स्वरूप ही कल्पित होता है। उन्हें तो प्रयोजन पुरता ही सत्य कहा जाता है। अपना आयुकर्म तो कोई किसी को दे ही नहीं सकता।

जड़ आयुकर्म जो वँधता है, वह तो जड़ पुद्गल का परिणाम है और उसमें उसकाल में जीव का परिणाम निमित्त होता है। इस भव के पहले पूर्वभव में जो आयुकर्म वँधा वह अपने-अपने परिणाम से ही वँधा है।

भगवान ! तू तो आत्मा है न ? प्रभु ! तेरे जो परिणाम आयुकर्म के वँधने में निमित्त होते हैं, वे परिणाम भी वस्तुत: तेरी (चैतन्य की) जाति के नहीं है; क्योंकि वे वंध के परिणाम हैं।

आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु है; पर इसने अज्ञानपने में जो विकारी परिणाम किए, उनके निमित्त से आयुकर्म की स्थिति वँधी - ऐसा दोनों में सहज निमित्त - नैमित्तिक सम्वन्ध है। आयु कर्म के वंध के योग्य अपने जो परिणाम हुए वे निमित्त और आयुकर्म जो वँधा, वह नैमित्तिक है। इसप्रकार निमित्त के सम्वन्ध से हुई दशा-पर्याय को नैमित्तिक कहते हैं। 'निमित्त से नैमित्तक हुआ', यह कहना व्यवहार कथन है।

जो नयविभाग नहीं समझते और अपनी हठ करते हैं, उनकी तो होनहार ही खोटी है; उनसे क्या चर्चा की जाए ? शास्त्रों में तो कदम-कदम पर व्यवहार का कथन आता है कि जहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध का ऐसा व्यवहार कथन हो, उस कथन की अपेक्षा को अच्छी तरह समझना चाहिए। उसका अभिप्राय समझे विना सत्य समझना संभव नहीं है।

निश्चय की अपेक्षा जव वस्तुस्वरूप का विचार करते हैं तो वास्तविकता यह है कि कर्म आत्मा के नहीं हैं और जीव के परिणामों में से कर्म उत्पन्न नहीं होते।

भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग कोई अलौकिक है। जिसको नय का वास्तविक ज्ञान न हो, उसे यह बात नहीं बैठ सकती। यद्यपि शास्त्रों में सब प्रमाण मौजूद हैं, पर उनका वहाँ क्या प्रयोजन है ? यह बराबर समझना चाहिए।

प्रश्न – 'अपना आयुकर्म अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है' यह कह कर क्या सिद्ध करना चाहते हैं ?

उत्तर – इस कथन का यह प्रयोजन है कि एक दूसरे को अपना आयुकर्म नहीं दे सकता अर्थात् किसी भी प्रकार कोई किसी को - एक-दूसरे को जीवित नहीं रख सकता; क्योंकि आयुकर्म का बंध अपने परिणाम से ही होता है।

इससे सिद्ध है कि पर को बचाने-मारने का अध्यवसान-मिथ्याअभिप्राय निश्चित रूप से अज्ञान है। यहाँ अध्यवसान का अर्थ केवल राग नहीं लेना, बल्कि राग की एकताबुद्धिवाला मिथ्या अभिप्राय लेना। वह अध्यवसान ही संसार का कारण है, बंध का कारण है।

भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी है। राग का एवं पर का कर्तृत्व उसके स्वभाव में है ही नहीं। जिसे अपने इस ज्ञानानन्दस्वभाव का भान हुआ, वह धर्मीजीव पर की क्रिया को पररूप जानता है। 'पर की क्रिया मैं कर सकता हूँ' - ऐसा नहीं मानता। स्वयं में जो शुभाशुभ भाव होते हैं, उनमें भी वह अपना कर्तृत्व नहीं मानता। मात्र उनका ज्ञाता रहता है; क्योंकि ज्ञाता-दृष्टा (अकर्त्ता) रहना ही आत्मा का स्वभाव है और वह अपने स्वभाव का अवलम्बन लिए रहता है। यद्यपि ज्ञानी के भी प्रमादवश दूसरों को मारने-बचाने के विकल्प तो हुआ करते हैं; परन्तु उनके अभिप्राय में दूसरों को मार सकने व बचा सकने का मिथ्या अहंकार नहीं होता। जो विकल्प आते हैं, उनका भी वह ज्ञाता-दृष्टा रहता है। उसे ऐसी अटूट श्रद्धा होती है कि 'जबतक जीवों की आयु शेष है व साता का उदय है तबतक उन्हें कोई मार नहीं सकता, दुःखी नहीं कर सकता।'

भाई ! ज्ञानी जीव बस यही सिद्धान्त लक्ष्य में रखता है कि 'प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने क्रमवद्ध रूप से स्वस्थान में होती है।' इससे उसके सम्पूर्ण कर्त्तृत्व का मिथ्या अभिमान नष्ट हो जाता है और समता व शान्ति का अनुभव होता है। बस यही धर्म है, यही समाधि है।

पहले जिसप्रकार मरण के अध्यवसाय के सम्बन्ध में कहा है, उसीप्रकार जीवन के सम्बन्ध में व सुख-दु:ख के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। वस्तुत: कोई किसी को न मार सकता है, न बचा सकता है, न रक्षा कर सकता है; फिर भी ऐसा मानना कि 'मैंने रक्षा की, पालन-पोपण किया, अथवा मैं चाहूँ तो सुखी-दु:खी कर सकता हूँ' यह अज्ञान है; मिथ्या अध्यवसाय है।

हाँ, अमुक के द्वारा मारा गया, रक्षित किया गया, सुखी या दु:खी किया गया - ऐसा व्यवहार का कथन निमित्त का ज्ञान कराने की अपेक्षा तो सत्य है, पर ऐसा मानना मिथ्यात्व है। यह यथार्थ समझना चाहिए।

दुःखसुखकरणाध्यवसायस्यापि एषैव गति –

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५३ ॥
य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २५३ ॥

परजीवानहं दुःखितान् सुखितांश्च करोमि, परजीवैर्दुःखितः सुखितश्च क्रियेऽहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः।

अब यह कहते हैं कि दुःख-सुख करने के अध्यवसाय की भी यही गति है –

मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो ? ॥ २५३ ॥

गाथार्थ – [यः] जो [इति मन्यते] यह मानना है कि [आत्मना तु] अपने द्वारा [सत्त्वान्] मैं (पर) जीवोंको [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि] करता हूँ, [सः] वह [मूढः] मूढ (मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] जो इससे विपरीत है वह [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीका – 'परजीवों को मैं दुःखी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी तथा सुखी करते हैं' इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है, वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ – यह मानना अज्ञान है कि 'मैं परजीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी या सुखी करते हैं।' जिसे यह अज्ञान है, वह मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अज्ञान नहीं है, वह ज्ञानी है – सम्यग्दृष्टि है।

गाथा २५३ पर प्रवचन

इस गाथा में मुख्यतः पर को सुखी-दुःखी करने-कराने के मिथ्या अहंकार करने वालों को अज्ञानी ठहराया है। आचार्य कहते हैं कि जो ऐसा मानता है कि 'मैं पर जीवों को प्रतिकूल संयोग जुटाकर दुःखी कर सकता हूँ और अनुकूल संयोग मिला कर सुखी कर सकता हूँ' वह अज्ञानी है, मूढ़ है।

प्रश्न – यदि यह सब अज्ञान है तो फिर अपनी बेटियों के लिए अच्छे घर-वर का चुनाव करना कि नहीं ? गरीबों को आर्थिक योगदान देना कि नहीं ? बीमारों के लिए अस्पताल एवं दवाई की व्यवस्था करनी-करानी कि नहीं ? ऐसे और भी अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनकी क्या समाधान है ?

उत्तर – अरे भाई ! कौन किसको देता है या दे सकता है ? हम-तुम तो केवल विकल्प मात्र करते हैं। जो भी आदान-प्रदान होता है, वह सब अपनी-अपनी तत्समय योग्यता से होता है। अपने-अपने कारण से लेना-देना होता है। भाई! तेरी यह मान्यता ही मिथ्या है कि 'मैं देता हूँ या दे सकता हूँ।'

भाई ! सभी जीवों के अपने-अपने अन्तरंग पुण्य-पाप के निमित्त से अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री मिलती है। कोई किसी को कुछ दे सके – यह बात त्रिकाल में कभी संभव ही नहीं है; क्योंकि ऐसी वस्तु की स्थिति ही नहीं है।

प्रश्न – क्या ऐसी कोई परोक्ष-अदृश्य ईश्वरीय शक्ति है जो जीवों को उनके कर्मों के अनुसार सुख-दुःख देने की व्यवस्था करती हो ?

उत्तर – भाई ! जैनदर्शन के अनुसार तो ऐसी कोई अदृश्य (ईश्वरीय) शक्ति या व्यवस्थापक नहीं है जो यह सब करता हो। जैनदर्शन तो परमाणु को भी सर्वशक्ति सम्पन्न मानता है। प्रत्येक परमाणु में एक सम्प्रदान नाम का गुण है, जिसके कारण वह स्वयं ही स्वयं को देता है और स्वयं ही स्वयं से स्वयं के लिए लेता भी है। भाई! तत्त्वदृष्टि बहुत सूक्ष्म है। इन पौद्गलिक परमाणुओं में भी कर्त्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरण (षट्कारक) रूप शक्ति है। अहा ! प्रत्येक पदार्थ में जो समय-समय पर्याय होती है, वह उसके

स्वयं के षट्कारक से ही होती है। पर से न परमाणु की कोई क्रिया होती है और न जीवों की ही कोई क्रिया पर के कारण होती है।

प्रश्न – परमाणुओं को तो कुछ ज्ञान ही नहीं है। वे तो जड़ है, अचेतन हैं; वे स्वतः परिणमन कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर – अरे भाई ! परिणमन करने के लिए ज्ञान की क्या जरूरत है ? परिणमन करना-कराना तो पदार्थ की क्रियावती शक्ति का काम है। क्रियावती शक्ति के कारण प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय परिणमन हुआ ही करता है। चाहे वह चेतन हो या अचेतन। परिणमन करना तो प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है।

उपर्युक्त कथन से दो सिद्धान्त फलित होते हैं। प्रथम तो यह कि 'जीवों के सम्पर्क में आये हुए प्रत्येक परमाणु में जिस काल में जो परिणमन होना था, वही हुआ और स्वयं के कारण से ही हुआ।' ऐसा निर्णय होने से 'मैं परजीवों को अनुकूल-प्रतिकूल साम्रगी देता हूँ व सुखी-दुःखी करता हूँ '– ऐसा अध्यवसाय या अज्ञानभाव समाप्त हो जाता है। और दूसरा यह कि 'मुझे जो मेरे सम्पर्क में आये जीवों को सुखी-दुःखी करने का विकल्प हुआ, वह विकल्प भी अपने काल में होना ही था; वह अपने क्रमबद्ध में स्वयं से ही हुआ है। ' ऐसा निर्णय होने पर अपनी दृष्टि सहज ही भगवान ज्ञायक आत्मा पर चली जाती है और स्वभाव का आश्रय होकर सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है।

यद्यपि उस समय रागभाव भी रहता है, पर उस राग का कर्तापना समाप्त हो जाता है तथा स्वयं में मात्र ज्ञाता-दृष्टापना रह जाता है। इसप्रकार निम्नांकित दो सिद्धान्त फलित हुए।

एक तो यह कि 'वस्तु में प्रत्येक परिणमन अपने स्वकाल में क्रमबद्ध ही होता है।' तथा दूसरा यह कि – 'स्व के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है।' भाई ! यही वस्तुकी स्थिति है।

अहा ! यहाँ कहते हैं कि परजीवों के प्रतिकूल सामग्री देकर दुःखी करता हूँ – यह मान्यता अज्ञान है, मिथ्यात्व है; क्योंकि प्रतिकूल सामग्री तो जीवों के अभ्यन्तर (अन्तरंग) पापकर्म के उदय से आती है। यद्यपि यह भी निमित्त

का ही कथन है; क्योंकि पापकर्म भिन्न वस्तु है और प्रतिकूल सामग्री भिन्न वस्तु है। दोनों भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है ही। अतः कर्म की अपेक्षा यह व्यवहार जिनागम में सर्वत्र मिलता है।

देखो, एक ओर पाप का उदय और उसी समय दूसरी ओर प्रतिकूल सामग्री का अपनी स्वचतुष्टय की स्वतंत्र योग्यता से आना होता है; फिर भी दोनों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यह देखकर ऐसा कहा जाता है कि 'पाप के उदय के कारण जीवों के प्रतिकूल सामग्री का योग मिलता है।'

इसीप्रकार यह अध्यवसान भी अज्ञान है कि मैं अन्य जीवों को आहार, पानी, औषधि आदि देकर सुखी करता हूँ; क्योंकि अनुकूल सामग्री तो पुण्योदय से आती है और अज्ञानी यह मानता है कि मैंने सुखी किया।

भाई ! 'अनुकूल सामग्री तो पुण्य के उदय से आती है' - यह कहना भी निमित्त का कथन है; क्योंकि पुण्य का उदय व अनुकूल सामग्री दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। हाँ, इतना सम्बन्ध अवश्य है कि जब जीव के पुण्य का उदय होता है, उसीकाल में अनुकूल सामग्री का आना भी होता है। यद्यपि दोनों अपने-अपने स्व-चतुष्टय की योग्यता से होते हैं; फिर भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो हैं ही। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखकर व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि 'पुण्योदय से अनुकूलता मिली, सुख हुआ।'

अहा ! वीतराग का निरालम्बी तत्त्व कैसा तर्कसंगत है। पर यह जिनवाणी का रहस्य अन्तरंग पुरुषार्थ से ही प्राप्त हो सकता है।

अहा ! ज्ञानी के द्रव्यदृष्टि है। अतः उसे यह दृढ़ निश्चय है कि 'मैं स्वयं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान हूँ।' तथा ज्ञानी को अपने ऐसे शुद्धस्वरूप का आश्रय वर्तता है। जब वह ध्यान दशा में होता है, तब तो उसे अन्य कोई विकल्प होता ही नहीं है; परन्तु जब अन्तर ध्यान में नहीं होता तब उसे प्रमादवश स्वरूप की अस्थिरता के कारण शुभाशुभ विकल्प भी आता है। ऐसी स्थिति में वह सोचता है कि 'मैं अमुक को सुखी या दुःखी करूँ'

परन्तु उसे उस समय भी ऐसा अध्यवसान-अज्ञान नहीं है कि 'मैं किसी को सुखी-दु:खी कर सकता हूँ।' दूसरों को सुखी-दु:खी करने का मात्र विकल्प आता है; परन्तु उसकी ऐसी मान्यता नहीं है। बस ज्ञानी व अज्ञानी की मान्यता में यही तो सबसे बड़ा अन्तर है।

ज्ञानी को जो पुण्य-पाप का परिणाम आता है। यद्यपि उसके निमित्त से उसको भी किंचित् पुण्य-पाप बँधता है। परन्तु वस्तुत: तो ये जो विकल्प आते हैं और उनसे जो पुण्य-पाप बँधता है, ज्ञानी उनका भी ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है; वह उनका स्वामी नहीं बनता, दोनों को परज्ञेय रूप ही जानता है।

आचार्य अज्ञानी से पूछते हैं कि जो तेरी यह मान्यता है कि 'मैं अहार-पानी दे सकता हूँ, औषधि आदि देकर दूसरों को सुखी कर सकता हूँ, सो तू यह बता कि क्या ये अहारादि पदार्थ तेरे चैतन्य स्वरूप में हैं ? क्या तू इन जड़ पदार्थों का स्वामी है, जो तू इन्हें दूसरों को दे सके ? अरे भाई ! तू जुदा है और ये पदार्थ तुझसे सर्वथा जुदे हैं तथा इन पदार्थों को लेने वाला जीव भी तुम दोनों से जुदा है। जब सब जुदे-जुदे हैं तो कौन किसको देवे और कौन किससे लेवे ?

प्रश्न – आपकी यह बात सिद्धान्तरूप से तो सत्य प्रतीत होती है, पर व्यवहार में कम से कम दु:खी जीवों के, गरीबों के आँसू तो पोंछना चाहिए न ?

उत्तर – अरे भाई ! आँसू पोंछने का विकल्प तो ज्ञानी को भी हो सकता है, पर उसे यह विवेक भी उसी समय है कि 'कौन किसके आँसू पोंछ सकता है ? परद्रव्य में कोई क्या कर सकता है ?' यद्यपि यह बात अति सूक्ष्म है, पर ज्ञानी की दृष्टि से ओझल नहीं है। वह जानता है कि जब परमाणु-परमाणु अपने स्वकाल में पलटकर अपनी नियत पर्यायरूप से स्वयं परिणमित है, वहाँ दूसरा कोई क्या कर सकता है?

भाई ! तत्त्व का विषय अतिसूक्ष्म है। अज्ञानी की स्थूल दृष्टि में यह तत्त्व की बात बैठना बहुत कठिन है। अज्ञानी की दृष्टि निमित्ताधीन होती है:

अतः वह सब जगह कर्म पर ही बल देता है। वह कहता है जो भी होता है, कर्म से होता है, निमित्त से होता है। उसे ध्यान में रखकर यहाँ आचार्य कहते हैं कि ऐसा अध्यवसाय जिसे है, वह अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है? तथा जिसे ऐसा मिथ्या अध्यवसाय नहीं रहा, वह जीव ज्ञानीपन के कारण सम्यग्दृष्टि है। जगत में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की मुख्यता से भले ही ऐसा बोला जाता है कि दूसरों को सुखी करना चाहिए, परोपकार करना चाहिए आदि। परन्तु ऐसा होना अर्थात् दूसरों को सुखी-दुःखी करना किसी के हाथ की बात नहीं है। इसकारण ज्ञानी को ऐसा मिथ्या अध्यवसाय नहीं होता।

अहा ! धर्मी-ज्ञानी की दृष्टि शुद्ध चैतन्यतत्त्व पर होती है। उसने अपने एक ज्ञायकभाव, अकेले ज्ञानरस के कन्दस्वरूप आत्मा को अपना ध्येय बनाया है। उसे न तो पर का आलंबन है और न राग का ही आलंबन रहा है। इसकारण अब उसे ऐसा अध्यवसाय नहीं रहा कि 'मैं किसी अन्य को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ या अन्य कोई मुझे सुखी-दुःखी कर सकता है।'

परमाणु में भी प्रतिसमय जो पर्याय होती है, वह उसका जन्मक्षण है। प्रवचनसार के ज्ञेयअधिकार की १००वीं गाथा में यह बात आती है। वहाँ ऐसा कहा है कि जगत में जीव-अजीव आदि जितने ज्ञेय हैं, उनकी समय-समय जो पर्यायें होती हैं, वही उनका जन्मलक्षण है, उन पर्यायों की उत्पत्ति का वही स्वकाल है। वे पर्यायें किसी अन्य के कारण नहीं हुई हैं। पूर्व की पर्याय के कारण तो वे हुईं ही नहीं हैं, किन्तु वे स्वयं के द्रव्य व गुण के कारण भी नहीं होतीं। ऐसी स्थिति में पर के कारण होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

जगत में जाति अपेक्षा छः द्रव्य सर्वज्ञ भगवान ने देखे हैं; जो कि संख्या की अपेक्षा अनंत हैं। जीव अनंत, पुद्गल अनन्तानन्त, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश व असंख्यात कालाणु। उन अनंत द्रव्यों की जब जो अपने-अपने स्वसमय में पर्यायें होती हैं, वही उनका जन्मक्षण है। वही उनकी उत्पत्ति का काल है। इन्हें अन्य कोई उत्पन्न नहीं करता।

गाथा २५३ के भावार्थ पर प्रवचन

'मैं परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं'' - ऐसा मानना अज्ञान है। अहा! यह मिथ्या मान्यता ही संसार में रखड़ने का मूलभूत कारण है।

पंचास्तिकाय गाथा १३६ में आता है कि 'जन्मार्णव में रखड़ते हुए प्राणियों को भूख-प्यास आदि से पीड़ित देखकर ज्ञानियों को करुणापूर्वक ऐसा खेद होता है कि अरे ! यह जीव मिथ्यात्व के कारण भवार्णव में रखड़ता है।'

उससमय ज्ञानी अपनी भूमिकानुसार उसकी भूख-प्यास आदि को मिटाने की कोशिश तो करता है, पर अधीर नहीं होता; क्योंकि वह जानता है कि बाह्यक्रिया अपने आधीन नहीं है; अपने अधिकार में नहीं है। जबकि अज्ञानी ऐसा माने बैठा है कि 'मैं ऐसा कर सकता हूँ, वैसा कर सकता हूँ' वह ऐसी अज्ञानमय इच्छा द्वारा आकुलित होता है। अज्ञानी परद्रव्य की क्रिया में अपने कर्तृत्व की मान्यता से आकुलित होता है।

प्रवचनसार गाथा ८५ में अज्ञान के तीन बोल आये हैं। एक - पदार्थ जैसे हैं उनको वैसा न मानकर पदार्थों का सत्यस्वरूप न मानकर उनके विषय में अन्यथा समझ; दूसरे - तिर्यंचों तथा मनुष्यों के प्रति करुणा भाव तथा तीसरे - विषयों की संगति॥ (इष्ट विषयों में प्रीति व अनिष्ट विषयों में अप्रीति) - यही सब मोह के लक्षण हैं।

अहा ! तिर्यंच व मनुष्य मात्र प्रेक्षा योग्य हैं - केवल जानने-देखने के विषयभूत ज्ञेय हैं - ऐसा न मानकर; मैं उनकी दया कर सकता हूँ - ऐसे तन्मयपने से दया का भाव-करुणा का भाव अज्ञान है, मिथ्यात्व है। मैं तिर्यंच व मनुष्य के प्रति दया कर सकता हूँ, उन्हें सुखी-दुःखी कर सकता हूँ - ऐसी मान्यता अज्ञान है।

जिन्हें ऐसा अज्ञान है, वे मिथ्यादृष्टि हैं तथा जिन्हें ऐसा अज्ञान नहीं है; वे ज्ञानी हैं, सम्यग्दृष्टि हैं - ऐसा जानना।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते ॥ २५४ ॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥ २५५ ॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥ २५६ ॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥ २५४ ॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददति तव कृतोऽसि कथं दुःखितस्तैः ॥ २५५॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददति तव कथं त्वं सुखितः कृतस्तै ॥ २५६ ॥

सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात्; स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य सुखदुःखे कुर्यात्। अतः सुखितदुःखितान् करोमि, सुखितदुःखितः क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।

यहाँ प्रश्न है कि अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उसका उत्तर कहते हैं -

हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
तू कर्म दे सकता न जब सुख-दुःख दे किस भाँति तब ॥ २५४ ॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
दुष्कर्म दे सकते न जब दुःख दर्द दें किस भाँति तब ? ॥ २५५ ॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
सत्कर्म दे सकते न जब सुख-शांति दें किस भाँति तब ? ॥ २५६ ॥

गाथार्थ :- [यदि] यदि [सर्वे जीवाः] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्म के उदय से [दुखितसुखिताः] दुःखी-सुखी [भवंति] होते हैं, [च] और

[त्वं] तू [कर्म] उन्हें कर्म तो [न ददासि] देता नहीं है, तो (हे भाई !) तूने [ते] उन्हें [दुःखित-सुखिताः] दुःखी-सुखी [कथं कृताः] कैसे किया ?

[यदि] यदि [सर्वे जीवाः] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्म के उदय से [दुःखितसुखिताः] दुःखी-सुखी [भवंति] होते हैं, [च] और वे [तव] तुझे [कर्म] कर्म तो [न ददति] नहीं देते, तो (हे भाई !) [तैः] उन्होंने [दुःखित] तुझको दुःखी [कथं कृतःअसि] कैसे किया ?

[यदि] यदि [सर्वे जीवाः] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्म के उदय से [दुःखितसुखिताः] दुःखी-सुखी [भवंति] होते हैं, [च] और वे [तव] तुझे [कर्म] कर्म तो [न ददति] नहीं देते, तो (हे भाई) [तैः] उन्होंने [त्वं] तुझको [सुखितः] सुखी [कथं कृतः] कैसे किया ?

टीका - प्रथम तो, जीवों को सुख-दुःख वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में सुख-दुःख होना अशक्य है; और अपना कर्म दूसरे के द्वारा दूसरे को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना कर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से एक-दूसरे को सुख-दुःख नहीं कर सकता। इसलिए यह अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है कि 'मैं परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ और पर जीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं'।

भावार्थ - जीव का जैसा आशय हो तदनुसार जगत में कार्य न होते हों तो वह आशय अज्ञान है। इसलिए, सभी जीव अपने-अपने कर्मोदेय से सुखी-दुःखी होते हैं। वहाँ यह मानना कि 'मैं पर को सुखी-दुःखी करता हूँ और पर मुझे सुखी-दुःखी करता है,' सो अज्ञान है। निमित्तनैमित्तिक भाव के आश्रय से (किसी को किसी के) सुख-दुःख का करनेवाला कहना सो व्यवहार है; जो कि निश्चय की दृष्टि में गौण है।

गाथा २५४ से २५६ पर प्रवचन

यहाँ प्रश्न है कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ही ये गाथायें कही गईं हैं। यहाँ कहते हैं कि 'जीवों को सुख-दुःख वास्तव में अपने-अपने कर्मोदय से ही होता है; क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में सुख-दुःख होना अशक्य है।'

जगत में अधिकांश जीव ऐसे हैं जो अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को ही मानते हैं। इस कारण वे दूसरों पर तोष-रोष प्रगट किया करते हैं। उनके इस अज्ञान को दूर करने के लिए तथा दूसरों के प्रति कषायें न करने के उद्देश्य से यहाँ यह कहा गया है कि 'हमारे सुख-दुःख के कारण पर नहीं, बल्कि अपना कर्मोदय ही है।' यहाँ यह सिद्ध करना है कि जीवों को अन्य कोई सुखी-दुःखी नहीं कर सकता। यह सिद्ध करने के लिए कहा है कि अपने कर्म के उदय से जीव सुखी-दुःखी होते हैं, पर के कारण नहीं। पर से उपयोग हटाकर कर्म पर लाए हैं। वस्तुतः देखा जाए तो हमारा सुख-दुःख कर्मकृत भी नहीं है; क्योंकि कर्म तो जड़ है। क्या जड़ से भी जीवों को सुख-दुःख होता है ?

सुख के साधन के रूप में जीवों को जो धन-धान्य आदि अनुकूल सामग्री मिलती है, वह सब तो अपने-अपने स्वचतुष्टय की योग्यता से, अपने कारण व अपने काल में मिलती है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसी समय निमित्तरूप में वहाँ सातावेदनीय आदि पुण्य-कर्म का उदय भी अपने स्वचतुष्टय की योग्यता से उपस्थित रहता ही है। बस इतने समकाल रूप सम्बन्ध के कारण व्यवहार से ऐसा कथन किया जाता है कि 'कर्म के उदय से बाह्य सामग्री मिली है।' बस्तुतः कर्म का उदय धन-धान्य आदि सामग्री का स्वामी नहीं है, जो धन्य-धान्य लावे।

यहाँ सुख-दुःख से तात्पर्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलने से है जो कि अपने उपादान की तत्समय की योग्यता से आते हैं और उनमें पूर्वकर्म निमित्त होता है। अनुकूलता में पुण्य कर्म का उदय निमित्त है और प्रतिकूलता में पापकर्म का उदय निमित्त है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक भाव जानकर यहाँ कहा है कि जीवों को वास्तव में अपने-अपने कर्म के उदय से ही

सुख-दु:ख होता है। मूलत: यहाँ सिद्ध यह करना है कि कोई किसी अन्य जीव को सुख-दु:ख नहीं दे सकता। देखो, कैसी सूक्ष्म वात कही है ? अहो ! दिगम्वर सन्तों ने गजव का काम किया है। तत्त्व की एक-एक पर्त खोलकर रख दी हैं।

अव कहते हैं कि 'अपना कर्म दूसरे के द्वारा दूसरे को नहीं दिया जा सकता; क्योंकि वह अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है।'

यहाँ 'अपना कर्म' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि इस कर्म का सम्वन्ध दूसरे के साथ नहीं है। वस यह वताने के लिए - 'अपना कर्म' कहा है। वस्तुत: कर्म तो जड़ हैं। कर्म आत्मा के कहाँ हैं ? वे तो मात्र आत्मा के परिणामों के निमित्त से उत्पन्न हुए हैं; इसकारण व्यवहार से उन्हें आत्मा का कहते हैं।

अपने कर्म दूसरों को दिये नहीं जा सकते तथा दूसरा कोई 'अपने कर्म' किसी अन्य को दे देवे और दूसरों को सुखी-दु:खी कर दे - ऐसा वन नहीं सकता। अहा! अपने कर्म के उदय से ही अनुकूल व प्रतिकूल संयोग मिलते हैं।

आजकल यह वात वहुत जोरों से चलती है कि 'जो कुछ होता है, वह सव कर्म के कारण ही होता है। जैसे कि ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को रोकता है, आदि .....।'

पर यह जो कथन शास्त्रों में आता है वह तो निमित्त की प्रधानता से किया गया कथन है। वस्तुत : क्या जड़ कर्म कहीं आत्मा की रुकावट वन सकते हैं ? अरे ! आत्मा व कर्मों के वीच तो अत्यन्ताभाव की वज्र जैसी दीवाल खड़ी है। जहाँ अत्यन्ताभाव होता है, वहाँ कर्म जीव का कर ही क्या सकता है ? वात तो ऐसी हो कि जव-जव जीव स्वयं ही अपनी उपादान योग्यता से अत्यन्त हीनपने परिणमित होता है, तव स्वयं ही अपना घात करता है, किंतु उस समय निमित्त रूप में कर्म का उदय भी होता ही है। वस उस सहज निमित्त-नैमित्तिक को देखकर व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि 'ज्ञानावरणी ने ज्ञान को रोका आदि !' भाई ! यदि कोई एक तत्त्व को दूसरे में मिलाने का असफल

प्रयत्न करेगा तो वह तो मिलेगा नहीं; पर तेरी मान्यता औंधी होने से तुझे मिथ्यात्वजनित आकुलता अवश्य मिलेगी।

इसलिए यह कहा गया है कि पर को सुखी-दुःखी करने की मान्यता रूप अध्यवसाय निश्चित रूप से अज्ञान है, मिथ्यात्व है; मिथ्यादृष्टियों को ही ऐसा अध्यवसाय होता है और उन्हें वह अनन्त संसार का कारण बनता है।

श्री जयसेनाचार्य की टीका में काय, मन, वचन और शस्त्र - इन चारों बोलों से यही बात कही गई है। वे कहते हैं कि 'काया से मैं अन्य जीवों को सुखी-दुःखी कर सकूँ, मन से दूसरों को सुखी-दुःखी कर सकूँ, वाणी से मैं दूसरों को सुखी-दुःखी कर सकूँ और शस्त्र या हथियारों से मैं दूसरों को सुखी-दुःखी कर सकूँ, मारकाट करके उन्हें पीड़ित कर सकूँ आदि' - ऐसा अभिप्राय - अध्यवसाय मिथ्यात्वभाव है; क्योंकि जीव तो अपने कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होता है, उसमें दूसरा क्या करे ?

अरे भाई ! शस्त्र को जब तू छूता ही नहीं है, उसका स्पर्श ही जब तू नहीं करता तो तू फिर शस्त्र को चला कैसे सकता है ? भगवान तो ऐसा कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय का ही चुम्बन करता है, परद्रव्य को तो कोई द्रव्य छूता ही नहीं है। जब दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में अत्यन्ताभाव है, तो फिर मन-वचन-काय व शस्त्र आदि जड़ पदार्थों से तू दूसरों को सुखी-दुःखी कैसे कर सकता है ? फिर भी तू ऐसा माने कि मैं सुखी-दुःखी कर सकता हूँ तो तेरी यह मान्यता मिथ्या है।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(वसन्ततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसोख्यम् ॥ १६८ ॥

श्लोकार्थ – [इह] इस जगत में [मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्] जीवों के मरण, जीवन, दुःख, सुख – [सर्वं सदैव नियतं स्वकीय-कर्मोदयात् भवति] सब सदैव नियम से [–निश्चित रूप से] अपने कर्मोदय से होता है; [परः पुमान् परस्य मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम् कुर्यात्] दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुःख, सुख को करता है [यत् तु] ऐसा जो मानना [एतत् अज्ञानम्] वह तो अज्ञान है ॥ १६८ ॥

कलश १६८ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि जीवों को जो जीवन-मरण और उन्हें जो सुख-दुःख के संयोग मिलते हैं, वे सब हमेशा नियम से अपने कर्म के उदय से ही मिलते हैं। कोई एक-दूसरे को जीवन-मरण व सुख-दुःख देता ही नहीं है, दे ही नहीं सकता। फिर भी जो दूसरों को सुखी-दुःखी करना मानता है – उसका ऐसा मानना अज्ञान है।

एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता माने या ईश्वर को समस्त सृष्टि का कर्त्ता माने – ये दोनों ही मान्यताएँ एक जैसी अज्ञानमय हैं।

पुन : इसी अर्थ को दृढ़ करने वाला और आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं –

(वसन्ततिलका)

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकिर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ॥ १६९ ॥

श्लोकार्थ – [एतत् अज्ञानम् अधिगम्य] इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञान को प्राप्त करके [**ये परात् परस्य मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम् पश्यन्ति**] जो पुरुष पर से पर के मरण, जीवन, दुःख, सुख को देखते हैं अर्थात् मानते हैं, [ते] वे पुरुष – [**अहंकृतिरसेन कर्माणि चिकीर्षवः**] जो कि इसप्रकार अहंकाररस से कर्मों को करने के इच्छुक हैं (मैं इन कर्मों को करता हूँ, ऐसे अहंकाररूपी रस से जो कर्म करने की – मारने-जिलाने की, सुखी-दुःखी करने की – वांछा करने वाले हैं) वे – [**नियतम्**] नियम से [**मिथ्यादृशः आत्महनः भवन्ति**] मिथ्यादृष्टि हैं, अपने आत्मा का घात करने वाले हैं।

भावार्थ – जो पर को मारने-जिलाने का तथा सुखी-दुःखी करने का अभिप्राय रखते हैं, मित्यादृष्टि हैं। वे अपने स्वरूप से च्युत होते हुए रागी, द्वेषी, मोही होकर स्वतः ही अपना घात करते हैं, इसलिये वे हिंसक हैं ॥ २६९ ॥

कलश १६९ पर प्रवचन

यहाँ इस कलश में उपर्युक्त अर्थ को दृढ़ करते हुए आगामी गाथा का सूचक कथन किया है। आचार्य कहते हैं कि जो पुरुष ऐसा मानते हैं कि हम पर के इन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयु व श्वासोच्छ्वास आदि प्राणों को हर सकते हैं, रक्षा कर सकते हैं एवं अन्य को इष्ट-अनिष्ट संयोग मिला सकते हैं, सुखी-दुःखी कर सकते हैं; वे अज्ञानी हैं – मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसी मान्यता वाले अहंकाररूपी रस से कर्म करने की वांछा वाले हैं।

इस प्रकरण से कुछ व्यक्ति उल्टा अर्थ निकालते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि दूसरों का काम तो करो, किंतु उसका अहंकार मत करो, अहंकार का निषेध है, न कि काम करने का; परंतु उनकी यह मान्यता या उनका यह सोचना भी अज्ञान है – विपरीत मान्यता है।

यदि कोई पर का कुछ भला-बुरा कर सके तो फिर उसका अहंकार या गौरव आने में क्या दोष है? जब हमने कोई भला काम किया है या कर सकते हैं तो उसका गौरव हमें क्यों न हो ? होना ही चाहिए।

पर भाई ! वास्तविकता तो यह है कि हम किसी का भला-बुरा न करते हैं और न कर सकते हैं; फिर भी झूठा अहंकार करते हैं। यही तो मिथ्या अध्यवसाय है; मिथ्यात्व का दोष है।

आत्मा दूसरों को आहार, पानी, औषधि, वस्त्र आदि कुछ भी नहीं दे सकता। दूसरों का जीवन-मरण नहीं कर सकता – यह मूल सिद्धान्त है। जीवों को जो भी अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, वे सब अपने-अपने पुण्य-पाप के उदय अनुसार मिलते हैं। पर अज्ञानीजन तो ऐसा मानते हैं कि अपने को परस्पर एक-दूसरे की मदद करनी चाहिए; एक-दूसरे के काम आना चाहिए; ये अपने कर्त्तव्य हैं; परंतु भाई ! त्रिलोकनाथ की आज्ञा में तो यह आया है कि आत्मा पर का कोई भी कार्य नहीं करता और न कर ही सकता है।

प्रश्न – जीवों के मन में जो शत्रु आदि को जहर देकर या शस्त्रादि से मारने का भाव आता है, कौनसा भाव है ?

उत्तर – यह भाव मिथ्यात्वभाव है; क्योंकि पर को मारने-बचाने का अभिप्राय मिथ्यात्वभाव है। जब कोई किसी को मार ही नहीं सकता और न मरते हुए को जीवित ही रख सकता है; तो फिर उसका यह सोचना तत्त्वज्ञान विषयक अज्ञान हुआ कि नहीं ? और अज्ञान भरी मान्यता ही तो मिथ्यात्व है।

जीवों का मरना-जीना तो उनके आयुकर्म के कारण होता है। आयु का उदय हो तो लाखों प्रयत्न करने पर भी मारा नहीं जा सकता और आयुकर्म

का क्षय हो गया हो तो लाखों प्रयत्न करने पर भी बचाया नहीं जा सकता। यहाँ इतना विशेष जानना है कि जीव आयुकर्म के उदय में जीवित रहता है और आयुकर्म के क्षय हो जाने पर मरण को प्राप्त होता है।

वास्तव में तो जीव की जिस देह में रहने की जितनी योग्यता है, उतने काल तक उस देह में रहता है और आयुकर्म का उदय नियम से उसमें निमित्त है। इस कारण आयुकर्म से जीवित है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। इसीप्रकार स्थिति पूरी होने पर जब देह छूटती है, तब व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि आयुकर्म के क्षय से मरण हुआ।

यह वस्तुस्थिति है। ऐसा होते हुए भी जो इस वस्तुस्थिति को नहीं समझता और पर से पर का जीवन-मरण, सुख-दुःख मानता है, वह अंहकार रस से भरा हुआ होने से कर्म करने का इच्छुक है। आचार्यदेव ने मूल पाठ में भी कहा है – 'अहंकृतिरसेन कर्माणि चिकीर्षव:'।

पण्डित जयचन्दजी छावड़ा ने इसका बहुत ही उत्तम अर्थ किया है। वे लिखते हैं –

"पर का कार्य तो करना, परन्तु उसका अहंकार नहीं करना, ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। बल्कि जो ऐसा मानता है कि 'मैं पर कार्य करता हूँ, कर सकता हूँ' – ऐसे अहंकार रस से भरा, पर का कार्य करने की इच्छावाला जीव मूढ़ है, अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है। 'मैं पर का कार्य करता हूँ, कर सकता हूँ' – यह मान्यता ही अहंकार रस युक्त मिथ्यात्व है।"

घर में दस-बीस व्यक्ति हों और उनमें घर के मुखिया एक-दो कमाने वाले हों तो वे ऐसा मानते हैं कि हम ही सब घर भर का भरण-पोषण करते हैं; परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यहाँ यह कहते हैं कि तू दूसरों का पालन-पोषण कर ही नहीं सकता। 'मैं सबका पालन-पोषण करता हूँ' – ऐसा अहंकार करके तू अपने मिथ्यात्व व कषाय का ही पोषण करता है।

घर में महिलाएँ प्रतिदिन स्वादिष्ट और गरम-गरम भोजन बनाकर प्रेमपूर्वक परोसती हैं और ऐसा मानती है कि मेरी यह सुन्दर व्यवस्था मेरी

चतुराई से चलती है। मैं ही यह सब करती हूँ। एक दिन भी यह सब न करूं तो सारे घर भर को पता चल जाएगा कि व्यवस्था कैसे की जाती है; परन्तु उन महिलाओं की ऐसी मान्यता मिथ्या है। भाई ! बात सुनने में भले ही अटपटी लगे और मातायें-बहिनें भी माने या न मानें; परंतु बात वस्तुतः यह है कि रोटी आदि का बनाना माता-बहिनों का काम नहीं है। अरे ! पुद्गल के रजकण अपने स्वयं के कारण, अपनी तत्समय की योग्यता से रोटी रूप परिणमित होते हैं; महिलाएँ तो उसमें निमित्त मात्र हैं। फिर भी जो मातायें ऐसा मानती हैं कि मैं करती हूँ तो उनकी यह मान्यता मिथ्यात्व है; क्योंकि कोई किसी अन्य का कार्य तो कभी कर ही नहीं सकता।

प्रश्न – अमुक कार्य मैंने किया या मैं कर सकता हूँ – ऐसा माने तो क्या उसकी यह मान्यता मिथ्या नहीं है ?

उत्तर – यह मन्दिर मैंने बनाया और इसके अन्दर अमुक प्रतिमा की स्थापना मैंने की इत्यादि पर की क्रिया 'मैंने की' – ऐसा जो मानते हैं, वे अहंकार रस से भरे हुए पर का कर्म करने की वांछा वाले होने से आत्मघाती हैं। आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा है। उसे वैसा न मानकर पर का कर्म करनेवाला माना; इससे अपने स्वभाव का घात हुआ, स्वभाव की हिंसा हुई।

प्रश्न – अनासक्तिभाव से पर का कार्य करने का जो उपदेश दिया जाता है, उसका क्या तात्पर्य है ? जैसे कि 'भरतजी घर में ही वैरागी'। ऐसा अनासक्त रहकर अन्य का कार्य करे तो क्या बाधा है ?

उत्तर – अरे भाई ! पर का कार्य करने का विकल्प आना और निमित्त-नैमित्तिक भाव से वैसी प्रवृत्ति दिखाई देना जुदी बात है, और 'मैं पर का कार्य कर सकता हूँ' – ऐसी मान्यता जुदी बात है। पर के कार्य करने का विकल्प होना व तदनुरूप सहज प्रवृत्ति होना संभव है, जबकि पर में फेरबदल करने का अभिप्राय व मान्यता मिथ्यात्व है ।

'करना' व 'अनासक्ति' – ये दो बातें एक साथ हो ही नहीं सकतीं। अन्य मत में ऐसा उपदेश है कि अनासक्त भाव से पर का काम करो, पर की सेवा

करो। वीतरागी शासन में तो यह कहा है कि पर का मैं कर सकता हूँ– यह मान्यता ही आसक्ति है, मिथ्यात्वभाव है।

अहा ! मैं पर का भला–वुरा करता हूँ, कर सकता हूँ – अज्ञानी ऐसा अभिमान करता है। जवकि आत्मा में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है कि वह पर का, शरीर का, धन–धान्यादि उपार्जन करने का और अन्य जीवों का कोई भी कार्य कर सके। प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कार्य करने में समर्थ है।

प्रश्न – चरणानुयोग के शास्त्रों में मुनि को आहारदान देने की महिमा के प्रकरण में तो साफ–साफ लिखा है कि जिन श्रावकों ने मुनिराज को आहार दान दिया, उन्होंने मानो मुनिराजों को मोक्षमार्ग ही दिया है। जव एक द्रव्य दूसरे का कुछ कर ही नहीं सकता, दूसरे को कुछ दे ले ही नहीं सकता; तो फिर इस उपर्युक्त कथन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर – भाई ! यह तो निमित्त की अपेक्षा से किया गया व्यवहार का कथन है। इस कथन में तो मात्र निमित्त–नैमित्तिक सम्वन्ध का ज्ञान कराया है। इस कथन में यह सिद्ध करना उद्देश्य नहीं है कि श्रावक मुनिराज को दान दे सकता है, उन्हें मोक्षमार्ग दे सकता है। मुनिराज तो स्वयं अपनी आत्मसाधना व स्वरूप आराधना के अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा मोक्षमार्ग में स्थित ही हैं, उन्हें कोई क्या मोक्षमार्ग देगा ? वहाँ तो मात्र इतना वताना है कि मोक्षमार्ग में स्थित मुनिराज को जिसकाल में आहार लेने का विकल्प आता है, उसी काल में श्रावक को आहारदान देने का विकल्प आता है और उसी समय आहार देने की क्रिया जिस रूप में सम्पन्न होने की योग्यता हो, वह भी उसीसमय उसी रूप में अपनी योग्यतानुसार सहज सम्पन्न होती ही है। तव व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि श्रावक ने मुनिराज को आहारदान दिया। ऐसी ही वस्तुव्यवस्था है। वाकी, परद्रव्य की क्रिया आत्मा करे – ऐसा तो त्रिकाल में संभव ही नहीं है।

भाई ! मोक्षमार्ग तो अन्तर साधना की चीज है। यह शुद्ध अन्तस्तत्व तो एक ज्ञायकस्वभावी आत्मा के अन्तर अवलम्वन से प्रगट होता है। इसे अन्य

कोई अन्य किसी को कैसे दे सकता है ? जहाँ तक दान देने की बात है सो भाई ! वहाँ दान अधिकार के प्रकरण में तो यह सिद्ध करना है कि धर्मी श्रावकों को अपनी भूमिका में साधुओं को आहारदान देने का परिणाम होता ही है। ऐसा कह कर दान की महिमा प्रगट की है। बाकी यह सब उपचार कथन जानना।

यहाँ कहते हैं कि इस जड़ शरीर और इन्द्रियों द्वारा मैं अन्य जीवों को तथा स्त्री-पुत्र-परिवार आदि को भोगादि सुख दे सकता हूँ – ऐसी मान्यता अहंकार रस से भरी है और मिथ्यात्व है क्योंकि शरीर-इन्द्रियादि जड़ की क्रिया तथा परजीवों के सुख-दुःख की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। शरीर आदि की क्रिया स्वयं तत्सम्बन्धी पुद्गल परमाणुओं द्वारा होती है तथा अन्य जीव सब अपने-अपने भावों से ही सुखी-दुःखी होते हैं।

भाई ! यह तो जैन परमेश्वर के द्वारा कहा गया वस्तुस्वरूप है। जैन नामधारी होकर भी चिदानन्दरस को छोड़कर अहंकार रस को पोषते हैं – यह आश्चर्य की बात है। जो ऐसा मानते हैं कि दुकान पर समय पर जाने से और जम कर बैठने से ही धंधा-व्यापार अच्छा चलता है। मैं यह सब कारोबार इसीप्रकार चलाता हूँ, तब कहीं पैसे का मुँह देखने को मिलता है। ऐसा मानने वालों से आचार्य कहते हैं कि भाई ! तेरा यह अहंकार मिथ्या है; क्योंकि एक-एक परमाणु की प्रति समय होनेवाली एक-एक पर्याय स्वयं अपने-अपने स्वतंत्र परमाणुओं से होती है। परमाणु की क्रिया को मैं करता हूँ – ऐसा कहने वाला अहंकार रस भरा होने से नियम से मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न – यदि हम ऐसा मानें कि पर की रक्षा तो करना चाहिए, पर उसका अहंकार नहीं करना चाहिए तो इसमें क्या दोष है ?

उत्तर – अरे भाई ! जब कोई किसी की रक्षा कर ही नहीं सकता तो फिर कोई किसी की रक्षा करेगा कैसे ?

सेठों को ऐसा बहुत अभिमान होता है कि हम अपने उद्योग-धंधे द्वारा सैकड़ों को आजीविका देते हैं, पर यह उनका कोरा भ्रम है। कोई किसी का

भला-बुरा, पालन-पोषण या आजीविका आदि देने अथवा छीनने का काम कर ही नहीं सकता। मैं पर का कुछ करूँ - ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है, अज्ञान है। आत्मा में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है।

निश्चय से पर का जीवन-मरण मैं करता हूँ या कर सकता हूँ एवं पर को सुख-दुःख मैं देता हूँ या दे सकता हूँ - ऐसा मानने वाला मिथ्या अहंकार रस से भरा हुआ पर का काम करने की इच्छा वाला मूढ़-मिथ्यादृष्टि है और आत्मा का घात करने वाला है। यद्यपि आत्मा तो त्रिकाल ध्रुव वस्तु है, वह तो जैसी है वैसी ही है; मूलतः उसका घात तो होता नहीं है; परंतु पर्याय में जो उसकी शान्ति भंग होती है, उसे ही यहाँ आत्मघात होना कहा है। यह मान्यता आत्मा के वीतराजी परिणाम को प्रगट नहीं होने देती।

वे मिथ्यादृष्टि आत्मा का हनन करने वाले हैं - ऐसा कह कर आचार्य-देव ने गज़ब किया है। वस्तुत : पर को कोई मार ही नहीं सकता; फिर भी 'पर को मार सकता हूँ' - ऐसी मान्यता से वह स्वयं का घात कर रहा है। पर की रक्षा भी नहीं कर सकता है; फिर भी 'पर की रक्षा करता हूँ' - ऐसी मान्यता से अपने स्वयं के जीवन का घात करता है। स्वयं भी पर को सुखी-दुःखी कर नहीं सकता है, आहार-औषधि द्वारा पर का उपचार कर नहीं सकता; तथापि 'पर को सुखी-दुःखी करता हूँ, पर का उपचार कर सकता हूँ' - ऐसी मान्यता से अपना आत्मघात हो जाता है। इसलिए कहते हैं कि 'पर का कार्य मैं करता हूँ' - ऐसी मान्यता से अहंकार करनेवाले मिथ्यादृष्टि आत्मघाती महापापी ही हैं।

कलश १६९ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, पर को मारने, रक्षा करने अथवा जीवित रखने का जिसका अभिप्राय है, वह मिथ्यादृष्टि है तथा पर को सुखी-दुःखी कर सकने का भी जिसके मन में अभिप्राय होता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है।

जो ऐसा मानतो है कि - 'मैं पर जीवों की रक्षा कर सकता हूँ, पर जीवों को मार सकता हूँ तथा उनको अनुकूल-प्रतिकूल संयोग जुटाकर

सुखी-दुःखी कर सकता हूँ' – ऐसा मानने वाले अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप से भ्रष्ट होकर तथा रागी-द्वेषी-मोही होकर अपने द्वारा ही अपने आत्मा का घात करते हैं। बस इसी कारण वे हिंसक हैं। ऐसी मान्यता वालों ने अपने शुद्ध, अखण्ड, एक ज्ञानान्दस्वभावी आत्मा का ही निषेध कर दिया। उन्होंने अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्यप्राणों की रक्षा नहीं की; अतः वे आत्मघाती होने से हिंसक ही हैं।

आत्मा सदैव – तीनोंकाल अपने चैतन्य प्राणों से – ज्ञान-दर्शन आदि प्राणों से जीवित रहता है। यही उसका वास्तविक जीवन है। किंतु जो इसे भूलकर, इससे भ्रष्ट होकर - 'मैं पर को जीवनदान देता हूँ, पर की रक्षा करता हूँ' – ऐसा अभिप्राय रखता है, वह अपने शुद्ध प्राणों का घात करने वाला अपना ही घातक होने से हिंसक है।

प्रश्न – पर की दया पालना तो जीव का स्वभाव है न ?

उत्तर – अरे भाई ! जीव का स्वभाव तो एकमात्र ज्ञान है। भगवान आत्मा तो ज्ञानमात्र है। उसके स्वभाव में पर की दया आदि करने जैसा कोई धर्म नहीं है। पर की दया पालने के अभिप्राय को तो यहाँ मिथ्यात्व कहा है। भाई ! जहाँ दया को जीव का स्वभाव कहा है, वहाँ स्वदया की बात है। आत्मा जैसा स्वभाव से रागरहित-वीतराग एक ज्ञानस्वभावी है, वैसा ही पर्याय में प्रसिद्ध करने का नाम वास्तविक दया एवं अहिंसा है और वही आत्मा का स्वभाव है। गजब बात है भाई ! जन्म-मरण से रहित होने का मार्ग सम्पूर्ण जगत से जुदा है, निराला है। पर को मारने, जिन्दा रखने का अभिप्राय स्वरूप से च्युत होने रूप विपरीत भाव है। यह अभिप्राय आत्मा को स्वरूप का घातक है। अहा ! ऐसी बात भाग्यशालियों को ही सुनने-समझने को मिलती है और इसको समझे बिना आत्मा का उद्धार भी संभव नहीं है।

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदएण सो सव्वो ।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥ २५७ ॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदएण चेव खलु ।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥ २५८ ॥

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः ।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५७॥
यो न म्रियते न दुःखितः सोऽपि च कर्मोदयेन चैव खलु ।
तस्मान्न मारितो नो दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५८॥

यो हि म्रियते जीवति वा, दुःखितो भवति सुखितो भवति वा, स खलु स्वकर्मोदयेनैव तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात्। ततः मयायं मारितः, अयं जीवितः, अयं दुःखितः, कृतः, अयं सुखितः कृतः इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः ।

अब इसी अर्थ को गाथाओं द्वारा कहते हैं -

जो मरे या जो दुखी हों वे सब करम के उदय से ।
'मैं दुखी करता-मारता' - यह बात क्यों मिथ्या न हो ? ॥ २५७॥
जो ना मरे या दुखी ना हो सब करम के उदय से ।
'ना दुखी करता मारता' - यह बात क्यों मिथ्या न हो ? ॥ २५८॥

गाथार्थ - [यः म्रियतो] जो मरता है [च] और [यः दुःखितः जायते] जो दुःखी होता है [सः सर्वः] वह सब [कर्मोदयेन] कर्मोदय से होता है; [तस्मात् तु] इसलिये [मारितःच दुःखितः] 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' [इति] ऐसा [ते] तेरा अभिप्राय [न खलु मिथ्या] क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

[च] और [यः न म्रितये] जो न मरता है [च] और [नः दुःखितः] न दुःखी होती है [सः अपि] वह भी [खलु] वास्तव में [कर्मोदयेन च एव] कर्मोदय से ही होता है; [तस्मात्] इसलिये [न मारितः च न दुःखितः] 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुःखी नहीं किया' [इति] ऐसा तेरा अभिप्राय [न खलुमिथ्या] क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

टीका – जो मरता है या जीता है, दुःखी होता है या सुखी होता है, यह वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में उसका वैसा होना (मरना, जीना, दुःखी या सुखी होना) अशक्य है। इसलिये ऐसा देखनेवाला अर्थात् माननेवाला कि मैंने इसे मारा, इसे जिलाया, इसे दुःखी किया, इसे सुखी किया मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थ – कोई किसी के मारे नहीं मरता और जिलाए नहीं जीता तथा किसी के सुखी-दुःखी किये सुखी-दुःखी नहीं होता; इसलिये जो मारने, जिलाने आदि का अभिप्राय करता है वह मिथ्यादृष्टि ही है – यह निश्चय का वचन है। यहां व्यवहारनय गौण है।

गाथा २५७-२५८ एवं उनकी टीका तथा भावार्थ पर प्रवचन

प्रश्न – आत्मा तो अनादि-अनन्त है और वह सदा अपने शुद्ध चैतन्य प्राणों से जीवित है । वह तो कभी मरता ही नहीं है – ऐसा अमर तत्त्व है तो फिर ऐसा क्यों कहा कि जीव मरता है या जीवित रहता है ?

उत्तर – अरे भाई ! जो बाह्य दस प्राणों के वियोग होने से देह से देहान्तर रूप क्रिया होती है, उसे मरण कहा जाता है और जो जीव पाँच इन्द्रिय, तीन वल एवं आयु व श्वासोच्छवास रूप दस प्राणों के संयोग रहते हैं, उन्हें जीवित कहा जाता है। इसीप्रकार जो लोक में अनुकूल साधनों के संयोग में हैं, वे सुखी और जो प्रतिकूल साधनों के संयोग में हैं, वे दुःखी कहे जाते हैं।

इसी अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि जो लोक में मरते हैं अथवा जीवित रहते हैं अथवा सुखी-दुःखी होते हैं, वे सब वस्तुतः अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार ही होते हैं – इस कथन का तात्पर्य यह है कि कोई किसी को मार या जीवित नहीं कर सकता तथा कोई किसी को संसार में सुखी-दुःखी भी नहीं कर सकता। जो मरते हैं, वे वस्तुतः अपने स्वकाल में अपने स्वचतुष्टय की तत्समय की योग्यता से एवं अंतरंग निमित्त रूप से कहें तो अपने आयुकर्म के क्षय से ही मरते हैं। कोई किसी के मारे मरता ही नहीं है; तथा जो जीवित रहते हैं वे भी वस्तुतः अपने स्वचतुष्टय की तत्समय की योग्यता से एवं

आयुकर्म के उदय से ही जीवित रहते हैं। कोई किसी को जीवित रख सके – ऐसा भी नहीं है ।

इसीप्रकार जो आहार, वस्त्र, पात्र, धन आदि बाह्य अनुकूल सामग्री के निमित्त से सुखी होते हैं, वे भी वस्तुतः अपनी तत्समय की योग्यता एवं सातावेदनीय के उदय से ही सुखी होते हैं तथा जो प्रतिकूलता के कारण दुःखी होते हैं, वे असाता वेदनीय के उदय के कारण दुःखी होते हैं। इन्हें कोई अन्य सुखी-दुःखी नहीं करता। ऐसी ही वस्तु व्यवस्था है।

यहाँ कर्म के उदय की अपेक्षा जो सुखी-दुःखी होने की बात कही है, उसका प्रजोजन परद्रव्य पर जो राग-द्वेष होता था, वह न हो। वस इतना ही है। तथा अपने स्वचतुष्टय को असली कारण कहने का प्रयेजन कर्मोदय पर से भी इष्टानिष्ट कल्पना का नाश करना है।

जिनवाणी में किये गए प्रत्येक कथन का प्रयोजन व अपेक्षा जुदी-जुदी होती है, जिसे जानना अति आवश्यक है। इसे यथार्थ जाने विना आत्मा सुखी नहीं हो सकता।

देखो भाई ! जब भी सुख-दुःख या जीवन-मरण रूप कोई कार्य सम्पन्न होता है तो उसमें तीन प्रकार के कारण बनते हैं – एक बहिरंग निमित्त कारण में वाह्य अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री, दूसरा अन्तरंग निमित्त कारण में कर्मोदय एवं तीसरा उपादान कारण में तत्समय की योग्यता। इनमें से तीसरा कारण जो तत्समय की योग्यता रूप उपदान कारण है, वही वास्तविक कारण है। आयुकर्म के उदय व क्षय से जीवन-मरण एवं साता-असाता कर्म के उदय से सुख-दुःख कहना तो निमित्त का ज्ञान कराने वाला व्यवहार का कथन है।

वाहर के संयोगों में प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल रजकण अपने-अपने स्वचतुष्टय की योग्यता से आता है। जिससमय जिन रजकणों के आने की योग्यता होती है, वे ही आते हैं और उस काल में साता या असाता का निमित्तपना भी सहजरूप से स्वतः ही होता है। वस्तुतः न कर्मरूप निमित्त के कारण संयोग आते हैं और न आयु कर्म के कारण कोई जीता-मरता है। लोक में कहावत प्रसिद्ध है न कि दाने-दाने पर खाने वाले का नाम लिखा है। तात्पर्य

यह है कि जो रजकण जब जिसके संयोग में आनेवाले होते हैं, वे निश्चितरूप से स्वसमय में उसके संयोग में आते ही हैं। कोई किसी पर कृपा करके या क्रोध करके अनुकूल संयोग न दे सकता है, न छीन सकता है।

जो आहार, औषधि आदि के परमाणु जिस काल में जिस विधि से आने वाले होते हैं, वे उस काल में अपनी-अपनी तत्समय की योग्यता से ही संयोग में आते हैं और उनमें जीव के साता कर्म का निमित्त होता है। कोई किसी को सुख-दु:ख या संयोगी वस्तु देता-लेता नहीं है। यही बात यहाँ कही जा रही है कि जीवों को उनके कर्मोदय के अभाव में कोई सुखी-दु:खी नहीं कर सकता, उन्हें जीवन-मरण नहीं दे सकता। जिनागम के अनुसार जीवों के द्वारा एक-दूसरे का काम करना शक्य ही नहीं है।

इसलिए यहाँ कह रहे हैं कि मैंने अमुक को मारा या जीवित रखा, मरने नहीं दिया, अमुक को सुखी किया, अमुक को दु:खी किया – ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है, मूढ़ है, अज्ञानी है

जीवों का जीवन-मरण, सुख-दु:ख अपने-अपने कर्म के उदय से ही होता है। ऐसी वस्तुव्यवस्था होते हुए भी जो ऐसा मानते हैं कि मैंने इसे हथियार से मार डाला या मैं इसे विष से या हथियार से मार सकता हूँ, वे मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि आयुकर्म के उदय के बिना किसी का जीवन टिक ही नहीं सकता व आयुकर्म को क्षय होने पर कोई किसी के जीवन को अधिक काल तक रख भी नहीं सकता। इसीप्रकार सुखी-दु:खी करने/कराने के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

पर को सुखी-दु:खी कर सकने या जीवन-मरण दे सकने की मान्यता वाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं, मूढ़ हैं। उनको यह मिथ्या अहंकार नहीं करना चाहिए। उनकी यह मान्यता सही है।

'हम किसी पर का उपकार कर सकते हैं' – यह अभिप्राय ही अपने आप में अहंकाररूप मिथ्याभाव है और ऐसे अभिप्राय वाला जीव मिथ्यादृष्टि है। उसे सत्य की खबर नहीं है।

समयसार नाटक में श्री बनारसीदास ने ऐसा कहा है कि -

करै करम सोई करतारा, जो जाने सो जाननहारा ।
जो करता नहिं जाने सोई, जाने सो करता नहिं होई ॥

जो पर के लेन-देन का, जीवन-मरण का और सुख-दु:ख के कार्यों का कर्त्ता बनता है वह अज्ञानी है। जो पर के कार्यों को करने का अभिप्राय रखता है, वह ज्ञाता-दृष्टा नहीं रह सकता। जो अभिप्राय में पर का कर्त्ता नहीं बनता, वही ज्ञाता-दृष्टा रहता है और वही ज्ञानी है। जो पर का मात्र ज्ञातादृष्टा रह कर ऐसा परिणमन करता है कि 'मैं तो साक्षी रूप से मात्र पर का जाननहार हूँ - वही ज्ञानी है।

आत्मा तो स्वभाव से सदा निर्मलानंद ज्ञानानंदस्वभावी भगवान है। पर्याय में उस अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का उपाय एकमात्र यही श्रद्धा ज्ञान है कि मैं पर की क्रिया कर ही नहीं सकता, पर का जीवन-मरण या सुख-दु:ख कर ही नहीं सकता; पर के कार्य पर से ही होते हैं। मैं तो उनका मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ। इसप्रकार मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहकर परिणमना ही अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति का सच्चा उपाय है। भाई ! करने-कराने का अभिप्राय रखना तो एक नये दु:ख को पैदा करना है और ज्ञाता रहने में निराकुल आनंद है। ज्ञानी सदैव निराकुल आनंद की मौज में रहते हैं।

(अनुष्टुभ)

अब आगे के कथन का सूचक श्लेक कहते हैं-

मिथ्यादृष्टेः से एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥ १७० ॥

श्लोकार्थ :- [अस्य मिथ्यादृष्टेः] मिथ्यादृष्टि के [य एव अयम् अज्ञानात्मा अध्यवसायः दृश्यते] जो यह अज्ञानस्वरूप अध्यवसाय दिखाई देता है [सः एव] वह अध्यवसाय ही [विपर्ययात्] विपर्ययस्वरूप (मिथ्या) होने से [अस्य बन्धहेतुः] उस मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण है।

भावार्थ – मिथ्या अभिप्राय ही मिथ्यात्व है और वही बंध का कारण है – ऐसा जानना चाहिए ॥ १७० ॥

कलश १७० पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि ऐसा अभिप्राय रखता है कि मैंने अपने कुटुम्ब परिवार का भरण-पोषण किया, पाल-पोसकर बड़ा किया, पढाया-लिखाया; अच्छे-अच्छे संस्कार देकर धर्म में लगाया; परंतु भाई ! उसका यह मिथ्या अभिप्राय है, अज्ञान रूप अध्यवसाय है।

देखो, जो परिणाम मिथ्या अभिप्राय सहित हों, स्व-पर के एकत्व के अभिप्राय वाले हों अथवा वैभाविक हों; उन परिणामों के लिए यहाँ अध्यवसाय शब्द का प्रयोग किया है। वैसे अध्यवसाय शब्द का एक अन्य अर्थ 'भाव' भी होता है। इसप्रकार अध्यवसाय शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है एक – 'मिथ्या अभिप्राय' और दूसरा 'भाव'। यहां मिथ्या अभिप्राय के अर्थ में प्रयोग है।

प्रवचनसार गाथा २५५ में जो यह कथन आता है कि 'रागो पसत्थभूदो'; उसका आशय यह है कि – "तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि प्रशस्त पद सम्यग्दृष्टि को प्रशस्त रागस्वरूप शुभोपयोग से मिलते हैं।"

अज्ञानी इस कथन से ऐसा अर्थ निकालते हैं कि प्रशस्त राग से प्रशस्त पद मिलते हैं और इन पदों से मोक्ष होता है। इसलिए प्रशस्त राग बंध का कारण नहीं है; परंतु भाई ! इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि प्रशस्तराग भी है तो बंध का ही कारण। यहाँ सम्यग्दृष्टि के प्रसंग में यह कथन गौण है – यह बात जुदी है।

तथा कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि समयसार के पुण्य-पाप अधिकार की गाथा १४७ में जो शुभाशुभ कर्म के साथ राग और संसर्ग का निषेध किया गया है। उनसे कहते हैं कि वहाँ वह कथन जड़कर्म की अपेक्षा से है। शुभाशुभ भावों के साथ राग व संसर्ग होने का निषेध नहीं किया है।

अरे भाई ! समयसार गाथा १५३ की टीका में आचार्य अमृतचंद्र ने कर्म शब्द का अर्थ करते हुए व्रत, नियम, शील, तप वगैरह सभी को कर्म कहा

है। तथा प्रशस्तराग के – हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय – ऐसे चार भेदों का निषेध करके शुभाशुभ कर्म एक ही है – ऐसा सिद्ध किया है। इसप्रकार शुभाशुभ परिणाम भी कर्म कहलाता है और इसके बंधन को भी कर्म ही कहा जाता है।

भाई ! शास्त्र को अभिप्राय के साथ अपनी दृष्टि का मिलान होना चाहिए। अपनी दृष्टि से शास्त्र का औंधा अर्थ करना तो जिनवाणी के साथ महाविपरीतता है, अन्याय है ।

जिनवाणी में अध्यवसाय का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह किया गया है कि जो परिणाम स्व-पर के एकत्व के अभिप्राय सहित हो अथवा वैभाविक हो, उस परिणाम को अध्यवसाय शब्द से अभिहित किया जाता है।

इसप्रकार मुख्य रूप से तो स्व-पर की एकत्वबुद्धि सहित अज्ञानमय परिणाम को – मिथ्या अभिप्राय को ही अध्यवसाय कहा है। परंतु कहीं अकेले (स्व-पर की एकत्वबुद्धि रहित) परिणाम को भी अध्यवसाय कहा गया है और कहीं निर्मल शुद्ध परिणाम के अर्थ में भी अध्यवसाय शब्द उपयोग में लिया गया है। अतः अपेक्षा को ध्यान में रखकर ही अर्थ करना चाहिए।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जो यह अज्ञानस्वरूप अध्यवसाय देखने में आता है, वह अध्यवसाय विपर्यय स्वरूप होने से – मिथ्या होने से मिथ्यादृष्टि के लिए बंध का कारण है।

भाई ! ऐसा मानना कि 'मैं पर को मार या जिला सकता हूँ, अथवा सुखी-दुःखी कर सकता हूँ, सुख-दुःख के साधन जुटा सकता हूँ' यह सब आत्मा के ज्ञानस्वभाव से सर्वथा विपरीत मान्यता है। यह मान्यता आत्मा के भाव से विरुद्ध भाव होने से विभाव परिणाम या अध्यवसाय नाम से कही जाती है। यह अध्यवसाय ही मिथ्यादृष्टि के बंध का कारण है।

भाई !'मैं पर को जीवित रखता हूँ' – ऐसा अध्यवसाय जो तू करता है, वह मिथ्या है; क्योंकि तू ऐसा तीनकाल में नहीं कर सकता। उस जीव की आयु

हो तो ही वह जीवित रहेगा और आयु शेष न हो तो जीवित नहीं रहेगा। तेरे जिवाये वह न आज तक कभी जीवित रहा, न भविष्य में कभी रहेगा। कोई किसी को जिलाता भी नहीं है; क्योंकि जगत की प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है।

भगवान ! तू सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु अखंड एक ज्ञानमात्र वस्तु स्वतंत्र है। तू शाश्वत ज्ञान व आनंद का भंडार तथा सदा शाश्वत परमात्मस्वरूप से विराजमान है। अहा ! तेरे आनन्दसुख की प्राप्ति तेरे से ही होती है। यदि तू ऐसा मानता है कि कोई दूसरा मुझे सुखी करेगा या मैं पर को सुखी करता हूँ, सहयोग करता हूँ – तो तेरा यह मानना सर्वथा मिथ्या है, बंध का कारण है। •

समयसार गाथा २५९

अब, यह कहते हैं कि यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बंध का कारण है -

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति ।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥ २५९ ॥

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।
एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥ २५९ ॥

परजीवानहं हिनस्मि, न हिनस्मि, दुःखयामि सुखयामि 'इति य एवायमज्ञानमयोऽध्यवसायो मिथ्यादृष्टेः, स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबंधहेतुः।

मैं सुखी करता दुखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता ही मूढ़मति शुभ-अशुभ का बंधन करे ॥ २५९॥

गाथार्थ - [ते] तेरी [एषा या मतिः तु] यह जो बुद्धि है कि मैं [सत्त्वान्] जीवों को [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि इत] करता हूँ, [एषा ते मूढमतिः] यही तेरी मूढबुद्धि ही (मोहस्वरूप बुद्धि ही) [शुभाशुभं कर्म] शुभाशुभ कर्म को [बध्नाति] बाँधती है ।

टीका - 'मैं परजीवों को मारता हूँ, नहीं मारता हूँ, दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसा जो यह अज्ञानमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि के है, वही (अर्थात् वह अध्यवसाय ही) स्वयं रागादिरूप होने से उसे (- मिथ्यादृष्टि को) शुभाशुभ बन्ध का कारण है।

भावार्थ - मिथ्या अध्यवसाय बन्ध का कारण है।

गाथा २५९ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय से स्वतंत्र है। अन्यद्रव्य के गुण-पर्यायों को परिणमन कराने की शक्ति किसी द्रव्य में नहीं है। तथा किसी अन्य के पुण्य-पाप के उदय को करने या बदलने की शक्ति किसी में नहीं है। यह

वस्तुस्थिति है। ऐसा होने पर भी यदि कोई ऐसा माने कि 'मैं पर को मार या बचा सकता हूँ' तो यह उसका अज्ञान है।

अरे भाई ! पर को मारने, बचाने या सुखी-दुःखी करने की तेरी शक्ति ही नहीं है। पर का कार्य करना तेरे अधिकार में ही नहीं है। फिर भी तू जो ये सब विकल्प करता है, वे मिथ्या हैं, बंध के कारण हैं।

बात कुछ कठिन है; क्योंकि इसमें हमारे वे भाव भी सम्मिलित हैं, जिन्हें हम दया-धर्म कहते हैं और ऐसा करके अपने को धन्य मानते हैं। नंगों को वस्त्र देकर, भूखों को भोजन देकर, रोगी को औषधि देकर जो हम ऐसा मानते हैं कि 'मैंने इनका दुःख दूर किया' यह अभिप्राय मिथ्या है; क्योंकि वे जो सुखी हुए हैं या उनका जो दुःख दूर हुआ है, वह तुम्हारे कारण नहीं, बल्कि उनके अपने पुण्योदय से हुआ है।

अरे भाई ! अपनी सत्ता का कार्य अपनी सत्ता से है या अपनी सत्ता का कार्य अन्य की सत्ता करती है ? क्या अन्य की सत्ता अपने में मिल जाती है, जो वह हमें सुखी, दुःखी कर सके ? ऐसा तो वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है। अपनी-अपनी सत्ता में अपना-अपना कर्त्तागुण है, जो अपने कार्य का कर्त्ता है। कर्म नाम का गुण भी आत्मा में स्वतंत्ररूप से है जो कर्मरूप परिणमता है।

यहाँ कोई ऐसी शंका कर सकता है कि पर के बचाने का एकत्वबुद्धि रूप अध्यवसाय तो बंध का कारण है, परंतु पर को बचाने का भाव बंध का कारण नहीं है, उसके उत्तर में कहते हैं कि अरे भाई ! तू यह क्या कहता है ? यहाँ कोई बाहर के पाण्डित्य से काम नहीं चलेगा, कुतर्क काम नहीं आयेगा। इससे तो तुझे उल्टी हानि ही होगी। यह तो यहाँ स्पष्ट करते ही आ रहे हैं कि यह जो अज्ञानमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टियों के ही होता है, वह स्वयं रागादि रूप होने से शुभाशुभ रूप बंध का कारण है। बचाने का शुभभाव भी बंध का कारण है ।

अहा ! आत्मा तो चिन्मात्र एक पूर्ण परमानंद स्वरूप प्रभु है। वह पर से क्या ग्रहण करे और क्यों करें ? वह तो स्वयं परिपूर्ण पदार्थ है तथा पर भी अपने में परिपूर्ण है। सभी पदार्थों में एक त्यागोपादनशून्यत्व शक्ति पड़ी है, जिसके कारण आत्मा न पर का कुछ ग्रहण करता है और न त्याग ही करता है।

परंतु अपने ऐसे परिपूर्ण परमात्मपद के भान बिना अज्ञानी जीव अनादि से पराधीन हो रहा है। स्वयं चैतन्यचक्रवर्ती होने पर भी अपनी प्रभुता के ज्ञान बिना भिखारी की भांति दीन-हीन हो रहा है। भोगों से, विषयों से एवं धन-दौलत आदि से सुख की अपेक्षा रखता है।

प्रभु ! तू तो अनन्त-अनन्त गुणों का धाम है। अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है। जिसप्रकार मिश्री का स्वभाव मीठा है, उसीतरह तेरा स्वभाव ज्ञान व आनन्द है। इसमें से तू जितना चाहे, जैसा चाहे, जो चाहे, जब चाहे प्रगट कर सकता है। तुझे कभी आनन्द की कमी नहीं आयेगी। तुझमें ऐसा असीमित सुख का भंडार है। ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूपलक्ष्मी का अटूट भंडार होते हुए भी तू इस नश्वर देह में, दुःखमय रागादि भावों में एवं इन्द्रियों के क्षणिक विषयों में कहाँ भटक गया है ? उस भटकन को छोड़ और अपने निज वैभव को देख।

मैं जीवों की दया करता हूँ तथा दीन-दुःखी जीवों को दान देता हूँ, दूसरों की भक्ति करता हूँ – ऐसे अज्ञानमय रागभाव का अभिप्राय छोड़ दे तथा अपने आत्मा पर दयाकर । इसे अनन्त दुःखों से बचाने का उद्यम कर ।

अहा ! यद्यपि अशुभ से बचने के लिए भूमिकानुसार दया, दान, भक्ति इत्यादि शुभराग आता है; परंतु इससे आत्मा का कल्याण होना मानना अज्ञान है।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि मैं पर को बचाता हूँ, बचा सकता हूँ, या मारता हूँ – मार सकता हूँ; सुखी-दुःखी कर सकता हूँ इत्यादि जो अध्यवसाय है, वह अध्यवसाय स्वयं पुण्य-पाप के भावरूप, रागादिरूप होने से शुभाशुभ बंध का कारण है। ऐसा अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि के होता है और उसके लिए वह बंध का ही कारण है।

ज्ञानी को भी ये भाव अपनी भूमिकानुसार आते हैं, पर वह इन पुण्य-पाप के भावों का स्वामी व कर्त्ता नहीं होता। वह तो इन सबका ज्ञायक ही रहता है।

अथाध्यवसायं बंधहेतुत्वेनावधारयति -

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६१॥

दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥२६०॥
मारयामि जीवयामि वा सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥२६१॥

य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोऽध्यवसायः स एव बंधहेतुः इत्यवधारणीयम्। न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वाद्बन्धस्य तद्धेत्वंतरमन्वेष्टव्यं; एकेनैवानेनाध्यवसायेन दुःखयामि मारयामि इति, सुखयामि जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहंकाररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बंध-हेतुत्वस्याविरोधात्।

अब, अध्यवसाय को बन्ध के कारण के रूप में भलीभाँति निश्चित करते हैं (अर्थात् मिथ्या अध्यवसाय ही नियम से बन्ध का कारण है - ऐसा कहते हैं) -

'मैं सुखी करता दुखी करता' यही अध्यवसान सब ।
पुण्य एवं पाप के बंधक कहे हैं सूत्र में ॥२६०॥
'मैं मारता मैं बचाता हूँ' यही अध्यवसान सब ।
पाप एवं पुण्य के बंधक कहे हैं सूत्र में ॥२६१॥

गाथार्थ :- '[सत्त्वान्] जीवों को मैं [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि] करता हूँ' [एवम्] ऐसा [यत् ते अध्यवसितं] जो तेरा

*अध्यवसान, [तत्] वही [पापबन्धकं वा] पाप का बन्धक [पुण्यस्य बंधकं वा] अथवा पुण्य का वन्धक [भवति] होता है।

'[सत्त्वान्] जीवों को मैं [मारयामि व जीवयामि] मारता हूँ और जिलाता हूँ' [एवम्] ऐसा [यत् ते अध्यवसितं] जो तेरा अध्यवसान, [तत्] वही [पापबन्धकं वा] पाप का बन्धक [पुण्यस्य बंधकं वा] अथवा पुण्य का वन्धक [भवति] होता है।

टीका – मिथ्यादृष्टि के इस अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला रागमय अध्यवसाय ही वन्ध का कारण है – यह भलीभाँति निश्चित करना चाहिए और पुण्य-पापरूप से वन्ध का द्वित्व (दो-पना) होने से वन्ध के कारण का भेद नहीं ढूंढ़ना चाहिए (अर्थात् यह नहीं मानना चाहिए कि पुण्यवन्ध का कारण दूसरा है और पापवन्ध का कारण कोई दूसरा है), क्योंकि यह एक ही अध्यवसाय 'दु:खी करता हूँ, मारता हूँ' इसप्रकार और 'सुखी करता हूँ, जिलाता हूँ' यों दो प्रकार से शुभ-अशुभ अहंकार रस से परिपूर्णता के द्वारा पुण्य और पाप - दोनों के वन्ध के कारण होने में अविरोध है। अर्थात् एक ही अध्यवसाय से पुण्य और पाप - दोनों का वन्ध होने में कोई विरोध नहीं है।

भावार्थ – यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही वन्ध का कारण है। उसमें, 'मैं जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसे शुभ अहंकार से भरा हुआ वह शुभ अध्यवसाय है और 'मैं मारता हूँ, दु:खी करता हूँ' ऐसे अशुभ अहंकार से भरा हुआ वह अशुभ अध्यवसाय है। अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनों में है; इसलिए अज्ञानमयता से दोनों अध्यवसाय एक ही हैं। अत: यह न मानना चाहिए कि पुण्य का कारण दूसरा है और पाप का कारण कोई अन्य अज्ञानमय अध्यवसान ही दोनों का कारण है।

जो परिणमन मिथ्या अभिप्राय सहित हो (स्वपर के एकत्व के अभिप्राय से युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणमन के लिए 'अध्यवसान' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्राय करने के अर्थ में भी 'अध्यवसान' शब्द प्रयुक्त होता है।

गाथा २६०-२६१ एवं टीका पर प्रवचन

अब इन गाथाओं में यह नक्की कर रहे हैं कि अध्यवसान ही बन्ध के कारण के रूप में माने गये हैं। अर्थात् मिथ्या अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है।

यदि कोई कहेगा कि शुभराग से पुण्य तो बंधता है न ? जो कि पाप की अपेक्षा तो भला ही है। तो, उसका समाधान यह है कि जब पर को बचाने या मारने का अभिप्राय ही मिथ्यात्व है तो भले ही बचाने के अभिप्राय से मिथ्यादृष्टि को पुण्य बन्ध होता है; तो भी मिथ्यात्व की भूमिका में जो पुण्यबन्ध होता है, वह वस्तुतः तो पाप ही है।

भाई ! यह शरीर तो हाड़-मांस व चमड़े का पिण्ड है। यह कहीं आत्मा नहीं है। यह तो एक दिन श्मशान में धधकती हुई अग्नि में जलकर भस्म हो जाएगा और आत्मा तो अनादि अनन्त अविनाशी वस्तु है। उस चिन्मात्र एक अपने आत्मा को जाने बिना सारी धर्म क्रियाएँ संसार खाते में ही जातीं हैं। इनसे संसार का परिभ्रमण नहीं मिटता।

लाखों रुपए खर्च करके जो मन्दिर बनाता है, प्रतिमा स्थापित करता है; उसका वह भाव शुभभाव है, उससे पुण्य बंधता है। अशुभ से बचने के लिए ऐसे शुभभाव भूमिकानुसार होते हैं; परन्तु यदि इन्हें कोई धर्म मान ले तो उसकी वह मान्यता मिथ्या है।

देखो ! भगवान् आत्मा तो शुद्धचिन्मात्रवस्तु है। उसमें तो राग-विकार है नहीं; फिर भी राग-विकार के साथ एकत्व मानना अज्ञानजनित रागमय अध्यवसाय ही है और वही बन्ध का कारण है – ऐसा नक्की करना। यह तो सामान्य कथन हुआ।

अब विशेष कहते हैं कि बन्ध में पुण्य-पापरूप दोपना होने से बन्ध के कारणों में भेद नहीं खोजना। ऐसा नहीं मानना कि पुण्यबन्ध का कारण कोई अन्य है और पापबन्ध का कारण कोई अन्य है।

प्रश्न – जिनको राग में एकत्वबुद्धि नहीं है, उन्हें तो इन शुभ भावों से लोक में प्रशस्त पद मिलते हैं न ?

उत्तर – अरे भगवान ! यह तुम क्या कहते हो ? देवादि के पद, जिन्हें लोग प्रशस्त पद कहते हैं, वे वस्तुतः प्रशस्त हैं ही नहीं। भाई! ये सब तो धूलधानी हैं। ज्ञानी तो इन्हें जीर्णतृणवत् गिनते हैं। जिनको राग में एकत्व बुद्धि नहीं है, उन समकितियों को पुण्य की इच्छा भी नहीं होती। समकिती संसार में किसी पद की इच्छा नहीं करते। अज्ञानी ही इन पदों की इच्छा करते हैं। ज्ञानी को पुण्य-पाप का भाव होता तो है, पर उन्हें उनकी इच्छा नहीं होती।

खूबी तो देखो ! आचार्य कहते हैं कि दूसरों को सुखी करूँ, बचाऊँ - ऐसा अध्यवसाय पुण्यबंध का कारण है और उन्हें दुःखी करूँ या मारूँ – ऐसा अध्यवसाय पापबन्ध का कारण है। पर इन दोनों में कारण भेद नहीं मानना। दोनों में जो रागमय अध्यवसाय है, एक वही बन्ध का कारण है। दोनों में दो जुदे-जुदे कारण नहीं हैं। यही बात अब कारण सहित स्पष्ट करते हैं – -

'मैं दूसरों को बचाऊँ या मारूँ, सुखी करूँ या दुःखी करूँ' – ऐसा जो अहंकार रस से भरा अज्ञानमय अध्यवसाय है, एक उस से ही पुण्य व पाप के बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है, अविरोध है। 'मैं बचाऊँ या सुखी करूँ' ऐसा राग का परिणाम तथा 'मैं मारूँ या दुःखी करूँ' – ऐसा द्वेष का परिणाम – दोनों एक ही अज्ञानमय अध्यवसाय हैं। भले ही वे दोनों पुण्य-पाप के बन्ध के कारण होते हों, पर हैं तो दोनों ही बन्ध स्वरूप ही न ?

जो पुण्यबंध को अच्छा मानते हैं, उन्हें इस दृष्टि से सोचना चाहिए कि सदा अबद्धस्वरूप आनन्द का धाम भगवान आत्मा का बन्धन में पड़ना अच्छा कैसे हो सकता है ? भले ही पुण्य से बंधे; पर है तो बन्धन ही न ? यदि पाप लोहे की बेड़ी है तो पुण्य सोने की बेड़ी है; पर हैं तो दोनों बन्धन ही न ? वस्तुतः देखा जाए तो पुण्योदय में भी आकुलता जनित दुःख तो रहता ही है। सच्चा सुख तो निराकुलता में ही है, अतः पुण्यबंध भी पापवत् हेय ही है।

भाई ! मुक्ति का मार्ग वीतरागता का ही मार्ग है; अतः यहाँ सभी प्रकार के राग का निषेध किया गया है।

गाथा २६०-२६१ के भावार्थ पर प्रवचन

'यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है।' देखो, यहाँ 'पुण्य-पाप' शब्द न लेकर 'मैं जीवों को बचाता हूँ या मारता हूँ, दु:खी करता हूँ या सुखी करता हूँ - ऐसे जो अज्ञानमय अध्यवसाय हैं; वे ही बन्ध के कारण हैं' - ऐसा कहा है।

फिर आगे कहा है कि 'बचाऊँ , सुखी करूँ' यह शुभ अहंकार से भरा हुआ राग भाव शुभ अध्यवसाय है और 'मारूँ, दु:खी करूँ' - यह अशुभ अहंकार से भरा हुआ द्वेषभाव अशुभ अध्यवसाय है। अहंकाररूप मिथ्यात्वभाव तो दोनों में है। इसकारण दोनों अज्ञानरूप अध्यवसाय एक जैसे ही हैं। अज्ञानपने की अपेक्षा से शुभ व अशुभ दोनों एक ही हैं।

इसलिए ऐसा नहीं मानना चाहिए कि पुण्य का कारण अन्य है और पाप का कारण अन्य। अज्ञानमय अध्यवसाय ही दोनों का कारण है। अज्ञानी के पुण्य परिणाम हो या पाप परिणाम हो, उन दोनों में रहा हुआ मिथ्यात्वभाव-अज्ञानमय अध्यवसाय ही अनन्त संसार के बंध का कारण है; बाह्य क्रियाओं से बन्ध नहीं होता।

समयसार गाथा २६२

एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातम् -

अज्झवसिदेण वंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो वंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २६२॥

अध्यवसितेन वन्धः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु ।
एष वन्धसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥ २६२॥

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः कदाचिद्भवतु, कदाचिन्मा भवतु, य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य वंधहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात्।

'इसप्रकार वास्तव में हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है यह फलित हुआ' - यह कहते हैं :-

मारो न मारो जीव को हो वंध अध्यवसान से ।
यह वंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से ॥ २६२॥

गाथार्थ - [सत्त्वान्] जीवों को [मारयतु] मारो [वा मा मारयतु] अथवा न मारो - [वंधः] कर्मवन्ध [अध्यवसितेन] अध्यवसान से ही होता है। [एषः] यह [निश्चयनयस्य] निश्चयनयसे, [जीवानां] जीवों के [वन्धसमासः] वन्ध का संक्षेप है।

टीका - परजीवों को अपने कर्मोदय की विचित्रतावश प्राणों का व्यपरोप (-उच्छेद, वियोग) कदाचित् हो, कदाचित् न हो, - किन्तु 'मैं मारता हूं' ऐसा अहंकार रस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय ही निश्चय से उसके (हिंसा का अध्यवसाय करने वाले जीव को) वन्ध का कारण है, क्योंकि निश्चय से पर का भाव जो प्राणों का व्यपरोप वह दूसरे से किया जाना अशक्य है (अर्थात् वह पर से नहीं किया जा सकता)।

भावार्थ – निश्चयनय से दूसरे के प्राणों का वियोग दूसरे से नहीं किया जा सकता; वह उसके अपने कर्मों के उदय की विचित्रता के कारण कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं होता। इसलिए जो यह मानता है – अहंकार करता है कि 'मैं परजीव को मारता हूँ' उसका यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। वह अध्यवसाय ही हिंसा है – अपने विशुद्ध चैतन्य प्राण का घात है और वही बन्ध का कारण है। यह निश्चयनय का मत है।

यहाँ व्यवहारनय को गौण करके कहा है ऐसा जानना चाहिए। इसलिए वह कथन कथंचित् (अपेक्षापूर्वक) है ऐसा समझना चाहिए; सर्वथा एकान्तपक्ष मिथ्यात्व है।

गाथा २६२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अबतक के कथनं से यह तो स्पष्ट हो गया कि वस्तुतः हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है। अब कहते हैं कि परजीव अपने आयु कर्म के उदय से जीवित ही रहता है अर्थात् जीव का अपना आयुकर्म शेष हो तो तीव्र द्वेषपूर्वक उसे मारने के अनेक प्रयत्न करने पर भी, वह नहीं मरता।

यहाँ कहते हैं कि वह जीव मरे अथवा न मरे; उसके प्राणों का विच्छेद हो अथवा न हो – पर 'मैं मारता हूँ' – ऐसा अहंकार रस से भरा जो अध्यवसाय है, वही निश्चय से बन्ध का कारण है।

इसीप्रकार परजीव के आयुकर्म के क्षय होने पर कोई उसे बचाने के लाख प्रयत्न करे तो भी वह जीवित नहीं रह सकता; मर ही जाता है। इसीलिए कहा है कि परजीव मरे या न मरे, उसके मरने न मरने से हिंसा-अहिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु हिंसा में जो अहंकार युक्त अज्ञानमय अध्यवसाय होता है, वही हिंसा है तथा वही बंध का कारण है।

अव इसका कारण समझाते हुए कहते हैं कि अन्य जीवों के दस प्राण परभाव हैं। ये कोई आत्मा के भाव नहीं हैं और परभावों का नाश निश्चय से अन्य कोई कर नहीं सकता। उन प्राणों का नाश हो अथवा न हो – वे

तो अपने आयु कर्मानुसार होते हैं। अन्य के भावों के कारण किसी अन्य के प्राणों का घात अर्थात् मरण आदि हो ही नहीं सकता। फिर भी यदि कोई अहंकार करे कि 'मैं परजीव को मारता हूँ या बचाता हूँ' तो वह उसका अहंकार रूप अज्ञानमय अध्यवसाय है। वही अध्यवसाय आत्मा की हिंसा है – अपने विशुद्ध चैतन्यप्राणों का घात है। और वही बंध का कारण है। ऐसा निश्चयनय का मत है।

इसीप्रकार 'मैं पर को बचा सकता हूँ' – ऐसा भाव भी अपने शुद्ध चैतन्यमय ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का घात है। ये ही अध्यवसाय निश्चय से बंध के कारण हैं।

यहाँ यह सब कथन व्यवहार को गौण करके कहा गया है – ऐसा जानना। दूसरों के मरण-जीवन के संदर्भ में इतना विशेष जानना चाहिए कि मारने व बचाने के भाव निमित्त रूप से होते हैं। इस कारण व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति ने अमुक को मारा व बचाया। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण ऐसा जो व्यवहार है – वह यहाँ उपरोक्त कथन में गौण है। उसको सर्वथा एकान्त रूप से वैसा ही नहीं समझ कर दोनों नयों की अपेक्षा को पहचानना चाहिए। सर्वथा एकान्त का पक्ष तो मिथ्यात्व है।

उदाहरणार्थ, जब परजीव का मरण हुआ तो उसमें हमारा मारने का अध्यवसाय (मारने का भाव) तो हुआ; फिर भी यदि हम ऐसा कहें कि - मुझे बंध नहीं हुआ; क्योंकि पर को तो कोई मार ही नहीं सकता तो मुझे बंध कैसे हो सकता है ? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि अरे भाई ! यह तेरी मान्यता अज्ञानमय है – एकान्तरूप है। ऐसा पक्ष मिथ्यात्वस्वरूप है। अपना जो मारने का अध्यवसाय है, वह नियम से बंध का कारण है।

समयसार गाथा २६३-२६४

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बंधहेतुत्वेन दर्शयति -

> एवमलिए अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव ।
> कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं ॥ २६३॥
> तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
> कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥ २६४॥

> एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव ।
> क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापम् ॥ २६३॥
> तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव ।
> क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यम् ॥ २६४॥

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ता-ब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबन्धहेतुः। यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबंधहेतुः।

अब, (हिंसा-अहिंसा की भाँति सर्व कार्यों में) अध्यवसाय को ही पाप-पुण्य के बन्ध के कारणरूप से दिखाते हैं :-

> इस ही तरह चोरी असत्य कुशील एवं ग्रंथ में ।
> जो हुए अध्यवसान हों वे पाप का बंधन करें ॥ २६३॥
> इस ही तरह अचौर्य सत्य सुशील और अग्रन्थ में ।
> जो हुए अध्यवसान हों वे पुण्य का बंधन करें ॥ २६४॥

गाथार्थ - [एवम्] इसीप्रकार (जैसा कि पहले हिंसा के अध्यवसाय के सम्बन्ध में कहा गया है उसीप्रकार [अलीके] असत्य में, [अदत्ते] चोरी में, [अब्रह्मचर्ये] अब्रह्मचर्य में [च एव] और [परिग्रहे] परिग्रह में [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे [पापं बध्यते] पाप का बन्ध होता है; [तथापि च] और इसीप्रकार [सत्ये] सत्य में, [दत्ते] अचौर्य में, [ब्रह्मणि] ब्रह्मचर्य में [च एव] और

[अपरिग्रहत्वे] अपरिग्रह में [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे [पुण्यं बध्यते] पुण्य का बन्ध होता है।

टीका – इसप्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) अज्ञान से यह जो हिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में भी जो (अध्यवसाय) किया जाता है, वह सब पाप बन्ध का एकमात्र कारण है; और जो अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में भी (अध्यवसाय) किया जाये, वह सब पुण्यबन्ध का एकमात्र कारण है।

भावार्थ – जैसे हिंसा में अध्यवसाय पापबन्ध का कारण कहा है; उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप अध्यवसाय भी पापबन्ध का कारण है। और जैसे अहिंसा में अध्यवसाय पुण्यबन्ध का कारण है; उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप अध्यवसाय भी पुण्यबंध का कारण है। इसप्रकार, पाँच पापों में (अव्रतों में) अध्यवसाय किया जाये सो पापबन्धका कारण है और पाँच (एकदेश या सर्वदेश) व्रतों में अध्यवसाय किया जाये सो पुण्यबन्ध का कारण है। पाप और पुण्य दोनों के बन्धन में, अध्यवसाय ही एकमात्र कारण है।

गाथा २६३-२६४, उनकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

अब हिंसा-अहिंसा की तरह सब कार्यों में अध्यवसाय को ही पाप-पुण्य के बंध के कारणरूप से दिखाते हैं –

आगम में अध्यवसाय शब्द चार अर्थों में प्रयुक्त हुआ है:-

१. मिथ्या श्रद्धानरूप स्व-पर की एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय।
२. पर में सुख है, पुण्य से धर्म होता है, पाप में अर्थात् विषयों में आनन्द है, इत्यादि स्वपरसम्बन्धी मिथ्याबुद्धि सहित विभावभावरूप अध्यवसाय।
३. यद्यपि ज्ञानी के ये विभाव परिणाम अनन्त संसार के कारण नहीं हैं; इस कारण इन्हें गौण करके बन्ध में नहीं गिनते; पर वस्तुतः ये विभाव परिणाम

किंचित् बंध के कारण तो हैं ही। कथन की अपेक्षा समझनी चाहिए। दोनों ही अपेक्षाएं अपनी-अपनी जगह सही हैं।

४. जिन परिणामों ने प्रज्ञाछैनी के द्वारा राग व आत्मा के बीच में भेद करके शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा में एकत्व किया है, - ऐसे निर्मल परिणामों को भी आगम में अध्यवसाय की संज्ञा दी गई है; पर वे अध्यवसाय मोक्ष के कारण हैं। इसप्रकार जहाँ जो अर्थ होता हो वहाँ यथासम्भव वैसा अर्थ करना चाहिए। अज्ञानी को पर में एकत्वबुद्धि पूर्वक जो अध्यवसाय है, वह तो बंध का ही कारण है। जबकि ज्ञानी को पर में एकत्वबुद्धि रहित परिणाम होता है; अतः वह मुख्यपने बन्ध का कारण नहीं है।

भाई ! उपर्युक्त कथनों की अपेक्षाओं में बहुत बड़ा अन्तर है। अतः अपने को जैसा मन भावे, वैसा - मनमाना अर्थ नहीं करना चाहिए।

वस्तुतः सम्यग्दृष्टि राग में एकत्व नहीं करता; इसकारण उसे बन्ध नहीं है। उसको जो अस्थिरता जनित बंध परिणाम होते हैं, उन परिणामों से किंचित् बंध तो होता है, पर उनको यहाँ बंध में गिना नहीं गया है।

यहाँ कहते हैं कि हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी अध्यवसाय की भाँति ही असत्य, अदत्त, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में भी जो अध्यवसाय किए जाते हैं या होते हैं, वे भी पाप के बंध के एकमात्र कारण हैं।

झूठ बोलने रूप भाषा मैं बोल सकता हूँ - यह अध्यवसाय मिथ्यात्व है, बंध का कारण है; क्योंकि बोलनेरूप जो वचन है, वह तो भाषावर्गणा का कार्य है। भाई ! तुझे जो झूठ बोलनेरूप अशुभ भाव होता है, उसभाव को और झूठ वचन के साथ तू जो एकत्वबुद्धि करता है, उस क्रिया में जो अहंकार करता है, वह मिथ्यात्व है और वह पापबन्ध का कारण है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हम होशयारी से वाक् चातुर्य से ऐसा झूठ बोलते हैं कि जो सच जैसा लगता है और हमारा काम बन जाता है। इसप्रकार झूठ बोलकर हम बहुत बड़े-बड़े काम निकाल लेते हैं। अब सच का जमाना ही कहाँ है ····· आदि। परन्तु भाई ! यह उनकी मिथ्याशल्य है और उनके अनंत संसार का कारण है।

इसीप्रकार अदत्त ग्रहण में – मैं पर की वस्तु चुराकर ले सकता हूँ – ऐसा अध्यवसाय भी मिथ्यात्व है तथा पापबन्ध का कारण है। देखो, अदत्तग्रहण में हुई जड़ की क्रिया में तथा अपने चोरी के परिणाम में अहंकार करता है कि देखो ! मैंने कितनी हाथ की सफाई से, कितनी तरकीब से चोरी की, जिसे साधारण पुलिस तो क्या खुफिया पुलिस भी नहीं पकड़ पायी। पर भाई ! यह अहंकार रूप तेरा अध्यवसाय पापबंध का कारण तो है ही; मिथ्यात्व के महापाप से भी लिप्त है। अतः अनंत संसार का कारण है।

इसीप्रकार अब्रह्म में विषय-भोगों का – मैथुन का जो भाव है, वह तो अशुभ भाव है। उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि का होना और भी बड़ा अपराध है, जोकि अनन्तसंसार का कारण है। शारीरिक मैथुन की क्रिया मैं कर सकता हूँ – ऐसा अध्यवसाय मिथ्यात्व है।

भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञायकभावमात्र ब्रह्मानन्द स्वरूप है। तथा शरीर तो जड़-भिन्न है। वहाँ विषय सेवन में शरीर की जो क्रिया होती है, वह मैं करता हूँ – ऐसा मानना मिथ्यात्व है और उसका फल अनन्त संसार है।

इसीप्रकार परिग्रह में – मैं वस्त्र रख सकता हूँ; रुपया-पैसा रख सकता हूँ; पैसा कमा सकता हूँ; पैसे की व्यवस्था कर सकता हूँ; सोना-चाँदी, शरीर, वाणी, आदि पर की क्रिया कर सकता हूँ – ऐसा जो पर के परिग्रहरूप एकत्व का अध्यवसाय है – वह मिथ्यात्व है और वह चार गतिरूप संसार में भटकने का कारण है।

इसप्रकार, अज्ञानी को असत्य, अदत्त, अब्रह्म और परिग्रह में जो पर के एकत्वरूप अध्यवसाय है वह पापबंध का कारण है।

अहा ! वीतराग का मार्ग संसार के मार्ग से सर्वथा भिन्न है, बिल्कुल उल्टा है। जो ज्ञान की पर्याय का परिणमन मात्र परसन्मुख होता है, वह मिथ्यात्व सहित होने से मिथ्याज्ञान है और वही संसार का कारण बनता है। तथा जो ज्ञान का परिणमन भगवान ज्ञायक के सन्मुख होकर होता है, वह सम्यग्ज्ञान है और वही मोक्ष का कारण है।

ज्ञानी को भी भूमिकानुसार अस्थिरता के कारण यत्किंचित् हिंसा-झूठ-चोरी आदिरूप अशुभ राग भी होता है; परन्तु उनमें ज्ञानी को एकत्व एवं कर्त्तृत्व की बुद्धिरूप मिथ्या अध्यवसाय नहीं रहता। उसे राग का अनन्त रस टूट गया है; और चारित्रमोह जनित जो अल्प रस सहित बन्ध पड़ता है, उसे यहाँ गिना नहीं गया है; क्योंकि वह भी अल्पकाल में निर्जरने वाला है।

उन अल्परागरूप अस्थिरता के परिणामों की मुख्यता से देखें तो ज्ञानी को भी उन परिणामों जनित पापबंध तो होता ही है। परन्तु उस राग को यहाँ गौण करके अबन्ध कहा है। सर्वथा अबंध मानने वाले भूल में हैं।

अब आगे इससे सूक्ष्म बात कहते हैं। 'मैं पर को बचा सकता हूँ, दूसरों की दया पाल सकता हूँ' - ऐसा जो अध्यवसाय है तथा इसी प्रकार 'मैं सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का पालन करता हूँ, कर सकता हूँ' - ऐसा जो अध्यवसाय है, वह मिथ्यात्व है एवं पुण्य बंध का कारण है।

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा, जिन्हें एक समय में सब कुछ ज्ञान में झलकता है; उनकी वाणी में ऐसा आया है कि हिंसादि की भाँति अहिंसा, सत्यादि का अध्यवसाय भी मिथ्या है और वह पुण्यबंध का कारण है। पुण्यबंध की बात सुनकर खुश होने जैसा नहीं है; क्योंकि पुण्य व पाप दोनों में ही बन्ध का कारण तो अहंकार युक्त एक मिथ्या अध्यवसाय ही है। पुण्य भला तथा पाप बुरा - दोनों में ऐसा अन्तर करना उचित नहीं है। बन्ध की अपेक्षा दोनों समान ही हैं।

इसप्रकार जो पाँच अव्रत पापरूप हैं एवं पाँच महाव्रत पुण्यरूप हैं, इन्हें मैं करता हूँ या कर सकता हूँ, - ऐसा जो अध्यवसाय है, वह मिथ्यात्व है और यह पाप व पुण्यबन्ध का कारण होता है। महाव्रत के परिणाम भी मैं करूँ - ऐसी जो एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्व सहित पुण्यबंध का कारण है, उसमें जरा भी धर्म नहीं है।

प्रश्न – शुभभावों में जितनी अशुभभाव की निवृत्ति है, उतना तो धर्म है न ? तथा जितना शुभभाव है उतना पुण्यबंध का कारण है – ऐसा मानने में क्या दोष है ?

उत्तर – अरे भाई ! यह तो सर्वथा विपरीत बात है। मिथ्यात्व सहित जो पुण्य परिणाम होते हैं, शुभभाव होते हैं; उनसे पुण्य बंध तो होता है, पर धर्मरूप संवर-निर्जरा किंचित् भी नहीं होती। मिथ्यादृष्टि का शुभभाव संवर का कारण नहीं है।

अरे भाई ! अज्ञानी जीवों के अहिंसादि के पालन करने में पर में जो कर्त्तृत्व व एकत्वबुद्धि का परिणाम है, वह मिथ्यात्व है। तथा शुभभावरूप अध्यवसाय एकमात्र पुण्य बंध का कारण है – यह तो सत्य है; किन्तु वह जरा भी धर्म या संवर-निर्जरा का कारण नहीं है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे अधिकार में आता है कि मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञानी जीव बाह्य सामग्री का संयोग होने पर उसे भी अपनी मान लेता है। पुत्र-स्त्री, धन-धान्य, हाथी-घोड़ा, मन्दिर व नौकर-चाकर आदि तो अपने से प्रत्यक्ष भिन्न हैं। देखो, प्रत्यक्ष भिन्न वस्तु में ममकार-अहंकार करना ही मिथ्यादर्शन है।

अपरिग्रह में धनादि के दान देने का भाव शुभभाव है। तथा धन आदि जाने की क्रिया जो होती है वह तो पर की क्रिया है। उसमें जीव का कुछ कर्त्तृत्व है नहीं। फिर भी यदि कोई उसमें अपना कर्त्तृत्व भाव जोड़े और तत्सम्बन्धी शुभभावों को अपना कर्तव्य माने तो उसका वह अहंकार व ममकार भाव पुण्यबंध का कारण है; पर है तो वह मिथ्यात्व ही।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में शास्त्रों के गंभीर रहस्य खोले हैं। बहुत खुलासा किया है। वहाँ मुख्यरूप से यह कहा गया है कि एक मिथ्या अध्यवसाय ही अनन्त संसार का कारण है।

यहाँ एकदेश अर्थात् श्रावक के पाँच अणुव्रतों में और सर्वदेश अर्थात् मुनियों के पाँच महाव्रतों में जो शुभभाव रूप अध्यवसाय होते हैं, वे पुण्य बन्ध के कारण हैं – ऐसा कहा है।

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बन्धहेतुरिति शंक्यम् -

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥ २६५॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्वसानं तु भवति जीवानाम् ।
न च वस्तुतस्तु बन्धोऽध्यवसानेन बन्धोऽस्ति ॥ २६५॥

अध्यवसानमेव बन्धहेतुः न तु बाह्यवस्तु, तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वत्। तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं; न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते। यदि बाह्यवस्त्वानाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत तदा, यथा वीरसूसुतस्याश्रयभूतस्य सद्भावे वीरसूसुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते, तथा वंध्यासुतस्याश्रयभूतस्यासद्भावेऽपि वंध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायेत। न च जायते। ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति नियमः। तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यंतप्रतिषेधः, हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात्। न च बन्धहेतुहेतुत्वे सत्यपि बाह्यवस्तु बन्धहेतुः स्यात्, ईर्यासमिति-परिणतयतीन्द्रपदव्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिंगवत्, बाह्यवस्तुनो बन्धहेतुहेतोरबन्धहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वस्यानैकांतिकत्वात्। अतो न बाह्यवस्तु जीवस्यातद्भावो बन्धहेतुः, अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बन्धहेतुः।

और भी ऐसी शंका न करनी कि 'बाह्यवस्तु वह दूसरा भी बन्ध का कारण होगा'। ('अध्यवसाय बन्ध का एक कारण होगा और बाह्यवस्तु बन्ध का दूसरा कारण होगा' ऐसी भी शंका करने योग्य नहीं है; अध्यवसाय ही एकमात्र बन्ध का कारण है, बाह्यवस्तु नहीं।) इसी अर्थ की गाथा अब कहते हैं :-

ये भाव अध्यवसान होते वस्तु के अवलम्ब से ।
पर वस्तु से ना बंध हो हो बंध अध्यवसान से ॥ २६५॥

गाथार्थ – [**पुनः**] और, [**जीवानाम्**] जीवों के [**यत्**] जो [**अध्यवसानं तु**] अध्यवसान [**भवति**] होता है वह [**वस्तु**] वस्तु को [**प्रतीत्य**] अवलम्बकर होता है। [**च तु**] तथापि [**वस्तुतः**] वस्तु से [**न बंधः**] बन्ध नहीं होता, [**अध्यवसानेन**] अध्यवसान से ही [**बंधः अस्ति**] बन्ध होता है।

टीका – अध्यवसान ही बन्ध का कारण है, बाह्य वस्तु नहीं; क्योंकि बन्ध का कारण जो अध्यवसान है उसके कारणत्व से ही बाह्यवस्तु की चलितार्थता है (अर्थात् बन्ध के कारणभूत अध्यवसान का कारण होने में ही बाह्यवस्तु का कार्यक्षेत्र पूरा हो जाता है, वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं होती)। यहाँ प्रश्न होता है कि – यदि बाह्यवस्तु बंध का कारण नहीं है तो ('बाह्यवस्तु का संग मत करो, किन्तु त्याग करो' इसप्रकार) बाह्यवस्तु का निषेध किसलिए किया जाता है ? इसका समाधान इसप्रकार है :-

अध्यवसान के निषेध के लिये बाह्यवस्तु का निषेध किया जाता है। अध्यवसान को बाह्यवस्तु आश्रयभूत है; बाह्यवस्तु का आश्रय किये विना अध्यवसान अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उत्पन्न नहीं होता। यदि बाह्यवस्तु के आश्रय के बिना भी अध्यवसान उत्पन होता हो तो, जैसे आश्रयभूत वीरजननी के पुत्र को मारता हूँ' इसीप्रकार आश्रयभूत बंध्यापुत्र के असद्भाव में भी (किसी को) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिए कि 'मैं बंध्यापुत्र को मारता हूँ'। परन्तु ऐसा अध्यवसान तो (किसी को) उत्पन्न नहीं होता। (जहाँ बंध्या का पुत्र ही नहीं होता वहाँ मारने का अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा ?) इसलिये यह नियम है कि (बाह्यवस्तुरूप) आश्रय के बिना अध्यवसाय नहीं होता और इसीलिए अध्यवसान को आश्रयभूत बाह्यवस्तु का अत्यन्त निषेध किया है; क्योंकि कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का प्रतिषेध होता है। (बाह्यवस्तु अध्यवसाय का कारण है इसलिए उसके प्रतिषेध से अध्यवसान का प्रतिषेध होता है)। परन्तु, यद्यपि बाह्यवस्तु बन्ध के कारण का (अर्थात् अध्यवसान का) कारण है तथापि वह (बाह्यवस्तु) बंध का कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमिति में परिणमति मुनीन्द्र के चरण से मर जानेवाले – ऐसे किसी वेग से आपतित कालप्रेरित उड़ते हुए जीव की भांति, बाह्यवस्तु

– जोकि बन्ध के कारण का कारण है वह – बन्ध का कारण न होने से, बाह्यवस्तु को बन्ध का कारणत्व मानने में अनैकान्तिक हेत्वाभासत्व है – व्यभिचार आता है। (इसप्रकार निश्चय से बाह्यवस्तु को बंध का कारणत्व निर्बाधतया सिद्ध नहीं होता।) इसलिये बाह्यवस्तु जो कि जीव को अतद्भावरूप है वह बन्ध का कारण नहीं है; किन्तु अध्यवसान जो कि जीव को तद्भावरूप है वही बन्ध का कारण है।

भावार्थ – बंध का कारण निश्चय से अध्यवसान ही है; और जो बाह्यवस्तुएँ हैं वे अध्यवसान का आलम्बन है। उनको अवलम्ब कर अध्यवसान उत्पन्न होता है, इसलिए उन्हें अध्यवसान का कारण कहा जाता है। बाह्यवस्तु के बिना निराश्रयतया अध्यवसान उत्पन्न नहीं होते इसलिए बाह्यवस्तुओं का त्याग कराया जाता है। यदि बाह्यवस्तुओं को बन्ध का कारण कहा जाये तो उसमें व्यभिचार (दोष) आता है। (कारण होने पर भी कहीं कार्य दिखाई देता है और कहीं नहीं दिखाई देता उसे व्यभिचार कहते हैं और ऐसे कारण को व्यभिचारी-अनैकान्तिक-कारणभास कहते हैं।) कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यत्न से गमन करते हों और उनके पैर के नीचे कोई उड़ता हुआ जीव वेगपूर्वक आ गिरे तथा मर जाये तो मुनि को उसकी हिंसा नहीं लगती। यहाँ यदि बाह्यदृष्टि से देखा जाये तो हिंसा हुई है, परन्तु मुनि के हिंसा का अध्यवसाय नहीं होने से उन्हें बन्ध नहीं होता। जैसे पैर के नीचे आकर मर जानेवाला जीव मुनि के बंध का कारण नहीं है उसीप्रकार अन्य बाह्यवस्तुओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इसप्रकार बाह्यवस्तु को बन्ध का कारण मानने में व्यभिचार आता है, इसलिये बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं है यह सिद्ध हुआ। और बाह्यवस्तु का आश्रय किए बिना अध्यवसाय नहीं होता, इसलिये बाह्यवस्तु का निषेध भी है ही।

गाथा २६५, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

प्रश्न – पर में एकत्व का अध्यवसाय वंध का कारण है, यह तो ठीक; पर जिनके कारण अध्यवसाय होता है, वे पदार्थ या बाह्य वस्तुएँ भी वंध के कारण हैं या नहीं ?

उत्तर – अरे भाई ! ऐसी तो शंका ही नहीं करना। बाह्यवस्तुएँ कभी भी बंध का कारण नहीं होतीं। एकमात्र तत्संबंधी अपना अध्यवसाय ही बंध का कारण होता है।

'मैंने हिंसा, झूठ चोरी आदि नहीं की अथवा अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि तथा दया, दान आदि किए' – ऐसा जो पर के साथ की एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय है, वही एकमात्र बंध का कारण है। शरीरादि बाह्य वस्तुओं से जो क्रिया होती है, वह बंध का कारण नहीं है।

यद्यपि अपने में हुए अध्यवसाय का आश्रय बाह्यवस्तु का है, पर वे बाह्यवस्तुएँ बंध का कारण नहीं हैं। बंध का कारण तो एकमात्र अध्यवसाय ही है। यही आशय इस गाथा में प्रगट किया गया है। यद्यपि बाह्यवस्तुएँ अध्यवसाय का आश्रय हैं; जो अध्यवसाय या विभाव परिणाम हुआ है, उसका निमित्त कारण बाह्य वस्तुएँ हैं, तथापि वे बाह्यवस्तुएँ बन्ध का कारण नहीं हैं।

यह शरीर इन्द्रिय, वाणी, धन, लक्ष्मी, स्त्री-परिवार आदि परवस्तुएँ (बाह्यवस्तुएँ) बंध की कारण नहीं हैं। शरीरादि की क्रिया भी बंध का कारण नहीं है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि बाह्यवस्तुएँ बंध का कारण नहीं हैं तो बाह्यवस्तुओं के त्याग का उपदेश क्यों दिया जाता है ? बाह्यवस्तुओं के उपभोग का निषेध क्यों किया जाता है ?

इसका समाधान यह है कि अध्यवसाय के प्रतिषेध के लिए बाह्यवस्तुओं का निषेध किया जाता है। अध्यवसाय को आश्रयभूत बाह्यवस्तुएँ हैं। बाह्यवस्तुओं का आश्रय किए बिना अध्यवसाय उत्पन्न नहीं होता।

यदि बाह्यवस्तु के आश्रय किए बिना भी अध्यवसाय उत्पन्न होता हो तो जिसप्रकार आश्रयभूत वीरजननी के पुत्र के सद्भाव में किसी को ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि मैं वीरजननी के पुत्र को मारूँ; उसीप्रकार आश्रयभूत बंध्यापुत्र के असद्भाव में भी किसी को ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिए कि मैं बंध्यापुत्र को मारता हूँ; परन्तु ऐसा अध्यवसाय तो किसी को उत्पन्न नहीं होता।

जहाँ बंध्या का पुत्र ही नहीं होता, वहाँ मारने का अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा ? अतः यह नियम है कि 'आश्रय के बिना अध्यवसाय नहीं होता।' इसलिए अध्यवसाय को आश्रयभूत बाह्यवस्तुओं का निषेध किया गया है; क्योंकि कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का प्रतिषेध होता है।

यद्यपि बाह्यवस्तु को बंध का कारण कहा है, पर वह बाह्यवस्तु वस्तुतः बंध का कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमितिपूर्वक गमन करते हुए मुनिराज के पग के नीचे आ जाने वाले काल प्रेरित उड़ते-पड़ते जीव की भाँति, बाह्यवस्तुएँ जिनको कि बंध के कारण का कारण कहा है, वे वस्तुतः बंध के कारण नहीं हैं। उक्त बाह्यवस्तुओं को कारण मानने में अनैकान्तिक हेत्वाभास-नामक दोष भी आता है।

इसप्रकार निश्चय से बाह्यवस्तु को बंध का कारणपना निर्बाध गति से सिद्ध नहीं होता। इसलिए बाह्यवस्तु जो जीव को अतद्भावरूप है, वह बंध का कारण नहीं है।

जो भी विभाव परिणाम होते हैं, उन परिणामों के होने में बाह्यवस्तु निमित्त है। यद्यपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्विकारी धर्म के परिणाम स्वद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, तथापि वह स्वद्रव्य (त्रिकाली चैतन्य महाप्रभु) मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि मोक्ष का कारण तो शुद्धरत्नत्रय का परिणाम है। हाँ, शुद्धरत्नत्रय के परिणाम का; संवर-निर्जरा के परिणाम का आश्रय स्वद्रव्य है - यह बात सत्य है; तथापि ये परद्रव्य बन्ध या मुक्ति के कारण नहीं हैं।

जिनके सम्पर्क में आने से चित्त आकर्षित हो जाता है; ऐसे स्थानों में तो न जाया जाय न ?

उन वस्तुओं की ओर आकर्षित होने का भाव तो जीव का स्वयं का है न ? परवस्तुएँ तो निमित्तमात्र हैं। इसकारण परवस्तु कभी भी बंध का कारण नहीं बनती। फिर भी वस्तुओं को त्यागने का उपदेश जिनवाणी में है। यह सब कारण का कारण होने से व्यवहार से कहा गया है।

प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार गाथा ६७ में आता है कि 'विषय-अकिंचित्कर हैं'। पाँच इन्द्रियों के विषय जीव को रागरूप विभाव के परिणाम नहीं कराते;

वल्कि जीव ही स्वयं विषयों के प्रति रागादिभाव रूप परिणमता है। जीव स्वयं जो रागादि परिणाम करता है, उनके होने में परवस्तुएँ आश्रयरूप अवश्य होतीं हैं। परन्तु वे परिणाम उन परवस्तुओं के कारण होते हों; परवस्तु के परिणमने से परिणमते हों - ऐसा नहीं है।

यह वात सच है कि परद्रव्य वंध का कारण नहीं है, तथापि परद्रव्य का आश्रय अथवा लक्ष्य छुड़ाने के लिए 'परद्रव्य से संसर्ग न रखो' - ऐसा उपदेश जिनवाणी में है।

अध्यवसाय छुड़ाने के लिए पर का आश्रय छुड़ाते हैं, परन्तु पर को छुड़ाने के लिए अध्यवसाय को छोड़ने की वात नहीं है। परवस्तु तो छूटी ही है, उसे कहाँ छोड़ना है ? जहाँ 'पर को छोड़ो' ऐसा कहा है, वहाँ पर के आश्रय से होनेवाले अध्यवसाय को छोड़ने की वात है। भाई ! इसमें तो वस इतना कहा जा रहा है कि जो लक्ष्य पर के ऊपर है, वह पलटकर स्व के ऊपर आ जाता है। ११वीं गाथा में जो ऐसा आता है कि भूतार्थ के आश्रय से जीव सम्यग्दृष्टि होता है, उसका भी यही अर्थ है। वहाँ भूतार्थ का अर्थ स्वद्रव्य है और स्वद्रव्य के आश्रय से - लक्ष्य से जीव सम्यग्दृष्टि होता है। परद्रव्य के लक्ष्य से तो विभावरूप मिथ्यादर्शन ही होता है।

अहाहा ! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। यदि यह जीव स्वयं उस आनन्दस्वरूप अपने आत्मा पर लक्ष्य करे तो मोक्ष की पर्याय ही प्रगट होती है।

यद्यपि यह वात सत्य है कि त्रिकाली द्रव्य के लक्ष्य से मोक्ष की निर्मल पर्याय प्रगट होती है, तथापि वह त्रिकाली द्रव्य उस मोक्ष पर्याय का दाता नहीं है, मोक्ष पर्याय को उत्पन्न करने/कराने वाला नहीं है। शुद्ध रत्नत्रयरूप जो मोक्ष का मार्ग है, उस मोक्षमार्ग का लक्ष्य यद्यपि त्रिकाली द्रव्य पर है; परन्तु वह द्रव्य पर्याय का दाता नहीं है। मोक्षमार्ग व मोक्ष की पर्याय का कर्त्ता द्रव्य नहीं है, पर्याय स्वयं अपनी कर्त्ता है। देखो यह वस्तु की स्वतंत्रता !

प्रश्न – पर्याय होती तो द्रव्य से ही है न ?

उत्तर – 'द्रव्य में से पर्याय होती है' यह व्यवहार का कथन है। वस्तुतः पर्याय जो होती है, वह स्वयं अपने षट् कारकों से सम्पन्न होती है। यदि द्रव्य से पर्याय हो तो प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न रूप क्यों होती है? सभी पर्यायें एक जैसी ही होनी चाहिएँ। पर्यायों में शुद्धि की जो क्रमशः वृद्धि होती जाती है उसी से सिद्ध होता है कि प्रत्येक पर्याय अपने स्वतंत्र स्वचतुष्टय से होती है। हाँ, यह अवश्य है कि इस शुद्ध पर्याय का आश्रय स्वद्रव्य है।

इसीप्रकार हिंसा, झूठ, चोरी आदि अथवा भक्ति, दया, दान, व्रत, पूजा आदि अशुभ या शुभभावों में भी जो मन्दता-तीव्रता रूप तारतम्यता आती है, वह भी स्वयं पर्याय के कारण से ही आती है, पर के कारण नहीं। परन्तु विभाव परिणाम होने में तत्सम्बन्धी परवस्तु का आश्रय अवश्य होता है।

प्रश्न – वर्तमान में बाह्यवस्तु विद्यमान न हो – मौजूद न भी हो तो भी विभाव परिणाम (अध्यवसाय) तो होता ही है न ?

उत्तर – भाई ! विभाव परिणाम या अध्यवसाय होने में बाह्यवस्तु का आश्रय तो अवश्य होता ही है, भले ही वह वस्तु वर्तमान में समीप न हो। बाह्यवस्तु का कार्य के समीप होने का नियम नहीं है, परन्तु उसका आश्रय तो होता ही है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के चतुर्थ अधिकार में आता है कि पापी जीवों के तीव्र मोह होने से बाह्य कारण के न होते हुए भी उसके संकल्प होने के कारण राग-द्वेष होते देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि भले ही बाह्य पदार्थ तत्काल हाजिर न हो, समीप न हो, तो भी मन में उसकी कल्पना करके विभाव के परिणाम अज्ञानी करता है। इसप्रकार रागादि अध्यवसाय जो होते हैं, उनमें बाह्यवस्तु का आश्रय तो होता ही है। यद्यपि बाह्यवस्तु अध्यवसाय उत्पन्न नहीं करती; तथापि अज्ञानी के जो हिंसादि का अध्यवसाय होता है, बाह्यवस्तु के आश्रय से ही होता है।

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा अन्दर में स्वयं विराजता है, परन्तु अज्ञानी को उसका लक्ष्य नहीं है। अज्ञानी का लक्ष्य बाह्यवस्तु पर है।

बाह्यवस्तु के लक्ष्य से – आश्रय से परिणमते हुए उसे हिंसा-अहिंसादि का अध्यवसाय उत्पन्न होता है। वह अध्यवसाय ही उसके बन्ध का कारण है। परवस्तु तो मात्र उस अध्यवसाय के उत्पन्न होने में निमित्त कारण है। वह बंध का कारण नहीं है।

श्री जयसेनाचार्य की टीका में उसे परम्परा कारण कहा है। इसका अर्थ ही यह है कि वह साक्षात्-सीधा कारण नहीं है। यथार्थ वस्तुस्थिति जैसी है, वैसी ही यहाँ सिद्ध की गई है।

अध्यवसान को बाह्यवस्तु आश्रयभूत है; बाह्यवस्तु का आश्रय किए बिना अध्यवसान अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। जिसतरह स्व के आश्रय के बिना निर्मल-निर्विकारी परिणाम कभी भी – त्रिकाल में भी नहीं हो सकता; उसीप्रकार बाह्यवस्तु के आश्रय बिना बंध का परिणाम भी नहीं हो सकता।

अब कहते हैं कि यदि बाह्यवस्तु का आश्रय लिए बिना भी अध्यवसाय उत्पन्न होता हो तो 'मैं बंध्यापुत्र को मारता हूँ' – ऐसा अध्यवसाय भी उत्पन्न होना चाहिए। जबकि आश्रयभूत बंध्यापुत्र के अभाव में ऐसा भाव ही उत्पन्न नहीं होता।

देखो ! यहाँ अध्यवसाय के उत्पन्न होने में बाह्यवस्तु का आश्रयपना सिद्ध करते हैं। वीरजननी के पुत्र का अस्तित्व होने से उसी के हनने का भाव हो सकता है। जब बंध्या के पुत्र का अस्तित्व ही नहीं है तो उसका आश्रय भी कहाँ से होगा ? जब आश्रय ही नहीं तो वैसा अध्यवसान भी कैसे होगा ? अतः यह नियम है कि बाह्यवस्तु के आश्रय बिना अध्यवसान होता ही नहीं है।

आत्मा में जो आस्रव-बंध के भाव होते हैं, वे पर के आश्रय बिना नहीं होते। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्यवस्तु का अस्तित्व है – इसकारण आस्रव-बन्ध होता है। बल्कि परवस्तु के आश्रय बिना आस्रव-बंध नहीं होता।

इसीकारण अध्यवसान की आश्रयभूत बाह्यवस्तु का अत्यन्त निषेध है, क्योंकि कारण के बिना कार्य का प्रतिषेध होता है।

बाह्यवस्तु अध्यवसान की आश्रयभूत है। इसलिए अध्यवसान का त्याग करने के लिए बाह्यवस्तु का त्याग करने में आता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मलिन या निर्मल परिणामों के होने में बाह्यवस्तु के ग्रहण-त्याग की पराधीनता है। दोनों स्वाधीन रहते हुए भी दोनों में सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है - ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

यहाँ जो बाह्यवस्तु के त्याग का उपदेश दिया - उसका अभिप्राय तो पराश्रय से उत्पन्न हुए अध्यवसान का त्याग करना है। अहा ! ऐसा कहकर पर का आश्रय छुड़ाकर स्व का आश्रय कराने का प्रयोजन है। यदि कोई स्व का आश्रय तो करे नहीं और बाह्य में स्त्री-कुटुम्ब, घरबार, वस्त्र आदि का त्याग करदे तो उससे कुछ भी प्रयोजन पूरा नहीं होगा; क्योंकि पराश्रय तो मौजूद ही है।

अहा ! जिसतरह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम स्वद्रव्य के आश्रय से होते हैं; उसीप्रकार विकारी परिणाम परद्रव्य के आश्रय से होते हैं। यह कितनी सीधी और स्पष्ट बात है। फिर भी जगत कहता है कि व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम स्वद्रव्य के आश्रय से प्रगट होते हैं।

अरे प्रभु ! तू यह क्या कहता है ? व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम जो होते हैं, उनका आश्रय तो वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु हैं। पर ये तो परवस्तु हैं और इनके आश्रय से हुआ शुभभाव पुण्यबंध का कारण है। देव-शास्त्र-गुरु पुण्यबंध के कारण नहीं है; किन्तु देव-शास्त्र-गुरु के आश्रय से हुआ शुभभाव-व्यवहार-रत्नत्रय का परिणाम पुण्यबंध का कारण है। निश्चय-रत्नत्रयरूप - धर्म के परिणामों को तो त्रिकाली एक ज्ञायक वस्तु का ही आश्रय होता है। ११वीं गाथा में भी आया है न ? "**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवादि जीवो**"। सम्यग्दर्शन में तो मात्र एक भूतार्थ अखण्ड ज्ञायकभाव मात्र आत्मवस्तु ही आश्रय करने योग्य है। अहा ! धर्म के परिणामों को तो त्रिकाली - एक सत्यार्थ-चिदानन्दघन-प्रभु आत्मा का ही आश्रय होता है।

जिसतरह मोक्ष का परिणाम एक अखण्ड-त्रिकाली ध्रुव-विज्ञानघन आत्मा के आश्रय से होता है; उसीतरह बंध का परिणाम भी हिंसा-झूठ आदि के तथा

दया-दान-भक्ति आदि के परिणाम परद्रव्य के आश्रय से होता है। यह भगवान की भक्ति-पूजा का जो शुभभाव होता है, उसका आश्रय भगवान का विम्व-जिनविम्व होता है। जिनबिम्व वंध का कारण नहीं है; बन्ध का कारण तो जीव का शुभभाव है। यह मिथ्यात्व सहित की वात है। यहाँ मिथ्यादृष्टि जीव के शुभभावों की अपेक्षा कथन किया जा रहा है।

देखो ! कोई दस-वीस लाख रुपया खर्च करके मन्दिर बनावे और उसमें जिनविम्ब की प्रतिष्ठा करावे। अब इस बात पर विचार करो कि जो मन्दिर वना, वह तो पर की क्रिया है - पुद्गल के परमाणुओं का परिणमन है। उसका वनना यद्यपि वनानेवाले के शुभभावों के लिए आश्रयभूत है; तो भी उसके वे शुभभाव मन्दिर के कारण नहीं हुए, उन शुभभावों का कारण मन्दिर का निर्माण नहीं है। हालांकि यह भी सच है कि मन्दिर का निर्माण उन शुभभावों के आश्रय विना नहीं हुआ। तथा ये शुभभाव जिसके आश्रय से हुए हैं, वह मन्दिर उसे पुण्य बंध का कारण नहीं है, वल्कि शुभभाव ही बंध के कारण हैं।

अहा ! ऐसा वीतरागी मार्ग ! जिसे समझना भी कठिन पड़ता है; फिर भी समझना तो पड़ेगा ही। अत: शान्ति से धीरे-धीरे समझने का प्रयत्न करना। अहा ! बंध का कारण जीव का भाव है; उन भावों की आश्रयभूत बाह्यवस्तुएँ - मन्दिर व जिनबिम्ब आदि बंध के कारण नहीं हैं। ऐसा होते हुए भी ये शुभ या अशुभ भाव बाह्यवस्तु के आश्रय विना नहीं होते। इसलिए धर्मी के स्वद्रव्य का आश्रय वर्तता ही है। उस स्वद्रव्य की मुख्यता में किंचित् परद्रव्य के आश्रय से हुए परिणामों को वह गौण कर देता है।

यहाँ कहते हैं कि जिसने स्वद्रव्य में एकत्व स्थापित करके स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मल रत्नत्रय का परिणाम प्रगट कर लिया है, उसको परद्रव्य के आश्रय से कोई परिणाम होता ही नहीं है। ऐसा वीतरागता का कोई अलौकिक मार्ग है। परन्तु बेचारे अज्ञानी जीवों को लौकिक कार्यों में अटके रहने के कारण ऐसे तत्त्व का परिचय ही नहीं है; तत्त्वज्ञान के अभ्यास करने का अवसर ही उन्हें नहीं मिलता। देखो न ! पच्चीस-पच्चीस वर्ष तक लौकिक पढ़ाई में

समय चला जाता है। डॉक्टर बनता है, इन्जीनियर बनता है; इसी बीच में आयु समाप्त हो जाय तो गये काम से। अमेरिका में जाकर पढ़ता है, ९० प्रतिशत अंकों से पास होता है; इसकारण स्वयं के और कुटुम्बीजनों के हर्ष का पार नहीं रहता। पर विचार तो करो ! इसका एक अर्थलाभ के सिवाय और क्या लाभ है ? अर्थलाभ, पुण्योदय के बिना नहीं मिलता; फिर उस लौकिक पढ़ाई का क्या लाभ ? पुण्योदय हो तो कम पढ़ा-लिखा भी लाखों कमाता है और पुण्य पल्ले न हो तो पढ़े-लिखों को भी रोटियों के लाले बने रहते हैं। ज़रा सोचो तो सही!

अरे ! तत्त्वज्ञानी को तत्त्वाभ्यास के फल में अल्पकाल में केवलज्ञान व अनन्तसुख की प्राप्ति होती है। जिसने इस आत्मा को पढ़ा है, आत्मज्ञान की पढ़ाई को ही सच्ची पढ़ाई माना है; उसे मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। स्वरूप में एकत्व का परिणाम ही मोक्ष का कारण है। धर्मी को निश्चय से तो एक स्व के साथ ही एकत्वबुद्धि का परिणाम होता है। पर के साथ ज्ञानी का एकत्व नहीं होता। इसकारण साधारण रूप से जो अस्थिरता का परिणाम होता है, उसे यहाँ गौण कर दिया है।

आगे कहते हैं कि इसलिए ऐसा नियम है कि बाह्यवस्तु के आश्रय के बिना अध्यवसाय नहीं होता। जिसतरह बंध्या के पुत्र नहीं है तो उसे मारने का अध्यवसाय नहीं होता; उसीप्रकार पर के आश्रय बिना कोई भी बन्ध का विकारी परिणाम नहीं होता। विकारी परिणाम का आश्रय परपदार्थ है और निर्विकारी परिणाम का आश्रय स्व है। इसकारण विकारी परिणाम के (शुभभाव के) आश्रय से निर्विकारी (शुद्ध) परिणाम कभी हो ही नहीं सकता; होता ही नहीं है। ठीक इसीतरह निर्विकारी (शुद्ध) चैतन्यमात्र वस्तु के आश्रय से विकारी परिणाम कभी हो ही नहीं सकता, होता ही नहीं है। जिसको स्व-स्वरूप शुद्ध विज्ञानघन वस्तु में एकत्व सहित स्व का आश्रय है, उसको मोक्षमार्ग है। उसको पर में एकत्व का परिणाम नहीं है; इसकारण बंध नहीं है। जिसको पर के एकत्वपूर्वक पराश्रय का परिणाम है, उसको जो बंधमार्ग

है, उसमें किंचित् भी मोक्ष का कारणपना नहीं है। वस इसी का नाम सम्यक् अनेकान्त है।

शुभभाव को वन्ध का भी कारण मानना व मोक्ष का भी कारण मानना - यह अनेकान्त नहीं है। इसीप्रकार शुद्ध भाव को मोक्ष का भी कारण मानना और वंध का भी कारण मानना - ऐसा अनेकान्त मानना यथार्थ नहीं है।

वेदान्ती की भाँति 'सब मिलकर एक ही है' - ऐसा मानने से तो स्व व पर की सिद्धि ही नहीं होगी। मोक्षमार्ग का उपदेश करना तो तभी संभव है जब कि वर्तमान में पर के आश्रय से वन्धमार्ग होता हो। इसमें स्व व पर - दोनों की सिद्धि हो जाती है। तथा पर का आश्रय छोड़कर स्व का आश्रय करना - ऐसा उपदेश आते ही स्व आत्मतत्त्व पर से भिन्न सिद्ध हो गया।

अरे वापू ! यह तो वीतरागता का अलौकिक मार्ग है। इसका अन्य वेदान्तादि किसी भी मत से मेल नहीं खाता। अहा ! जैसा आत्मतत्त्व स्वयं है, वैसे ही आत्मा से भिन्न परवस्तुओं की सत्ता है। तथा उनका आश्रय लेने के कारण आत्मा वन्धन में पड़ता है और स्व के आश्रय से मोक्षमार्ग होता है। यही वस्तुस्थिति है।

भाई ! यदि तुझे धर्म करना है तो स्वद्रव्य के आश्रय से ही धर्म होगा। अतः स्वद्रव्य कैसा है ? यह समझना पड़ेगा और उसका आश्रय करना पड़ेगा।

अरे ! तेरे ज्ञानानन्द की लक्ष्मी तुझे लक्ष्य में नहीं आये और तू परवस्तु में अटक जाए तो कैसे काम चलेगा ? उससे तो तुझे वंध ही होगा। भले पूजा-पाठ आदि का शुभभाव हो तो भी पर में एकत्ववुद्धि के परिणाम से तो तुझे वंध ही होगा।

ज्ञानी के जो पर में एकत्ववुद्धि रहित भक्ति-पूजा के भाव होते हैं, उन्हें भी अस्थिरता रूप परिणामों की मुख्यता से देखें तो वे भाव भी वंध के कारण ही वनते हैं। भले ही अल्पवंध हो; पर है तो वंध ही न ?

धर्मी के ऐसा परसन्मुखता का परिणाम होता तो है; परन्तु उसमें उसकी एकत्ववुद्धि नहीं होती। अतः उसे निर्जरा का कारण कहा है। धर्मी को स्व के

आश्रय का विशेष बल है, इससे पर के आश्रय से हुए परिणाम नि:संतान होनेवाले हैं; उनकी परम्परा लम्बाती नहीं है; आगे चलकर छूट जाते हैं। इस अपेक्षा उन परिणामों को निर्जरा का हेतु कहा जाता है। जिनवाणी के कथन में ऐसी अनेक सूक्ष्म-सूक्ष्म अपेक्षाएं भी होतीं हैं, जिन्हें यथायोग्य रीति से समझ लेना चाहिए।

इस कथन में 'पर का आश्रय' व 'स्व का आश्रय' – ऐसी दो बातों की मुख्यता है। उनमें पर के आश्रय से जो पर में एकत्वबुद्धि होती है, उन्हें बन्ध का कारण कहा। तथा स्वभाव के आश्रय को मोक्ष का कारण कहा।

ध्यान रहे, यहाँ जो परवस्तु संयोग में आती है, वह बंध का कारण नहीं है और स्ववस्तु जो त्रिकाली आत्मा है वह मोक्ष का कारण नहीं है। बल्कि पराश्रित व स्वाश्रित रूप जो आत्मा के परिणाम होते हैं, वे परिणाम ही अनुक्रम से बंध-मोक्ष के कारण बनते हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि त्रिकाली उपादान में अनेक प्रकार की योग्यताएं हैं; पर जिस समय जैसा निमित्त मिलता है वैसी पर्याय (कार्य) प्रगट हो जाती है।

यह प्रश्न निमित्ताधीन दृष्टिवालों की ओर से हो सकता है। परन्तु वस्तुत; बात ऐसी नहीं है; क्योंकि त्रिकाली द्रव्य को तो व्यवहार से उपादान कारण कहा है। निश्चय से यानि वास्तविक उपादान कारण तो तत्समय की योग्यता रूप वर्तमान पर्याय युक्त द्रव्य है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वस्तु के उपादान के दो भेद कहे हैं।

अष्टसहस्री के ५८वें श्लोक की टीका के आधार से चिद्विलास के "कारण-कार्यभाव अधिकार" में पृष्ठ ३६ पर आया है कि परिणाम क्षणिक उपादान है और गुण (शक्ति) शाश्वत-ध्रुव उपादान है। ध्रुव को – द्रव्य की शक्ति को उपादान कहकर तो व्यवहार सिद्ध किया है। प्रगट पर्याय में जो निर्मल दशा प्रगट होती है, वह क्षणिक उपादान है; वह यथार्थ निश्चय है। वह वर्तमान पर्याय निमित्त के आधार से तो होती ही नहीं है; वरन् द्रव्य के त्रिकाली ध्रुव उपादान के आधार से भी नहीं होती।

यहाँ कहते हैं कि बंध के कारणभूत अध्यवसान का निषेध करने के लिए अध्यवसान के आश्रयभूत बाह्यवस्तु का निषेध किया है; क्योंकि कारण के प्रतिषेध से कार्य का प्रतिषेध होता है।

यहाँ मिथ्यात्व के परिणाम कार्य और परिणामों का निमित्तरूप कारण अर्थात् आश्रयभूत कारण परवस्तु - कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र आदि को छोड़ने के लिए कहा है; क्योंकि ये परिणाम इनके आश्रय से होते हैं। मिथ्यात्व को छोड़ने के प्रयोजन से उसके आश्रयभूत पदार्थों को छोड़ने के लिए कहा है। ये पदार्थ बंध के कारण हैं - ऐसा नहीं है। बंध का कारण तो मिथ्यात्व ही है, परन्तु ये मिथ्यात्व के परिणाम परपदार्थों के आश्रय से उत्पन्न होते हैं। इसलिए बाह्य पदार्थों का निषेध करके मिथ्यात्व के परिणामों का निषेध कराया है। मात्र बाह्य पदार्थों का निषेध किया गया है - ऐसा नहीं समझना।

यदि कोई निश्चयाभासी प्रश्न करे कि जिसतरह कुगुरु, कुदेव व कुशास्त्र की श्रद्धा मिथ्यात्व है, उसीतरह सुगुरु, सुदेव व सुशास्त्र की श्रद्धा भी मिथ्यात्व है; तो उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि सुदेवादि की श्रद्धा का भाव तो शुभभाव है; वह शुभराग मिथ्यात्व नहीं है। ऐसे भाव तो ज्ञानी-समकिती के भी होते हैं। हाँ, इन शुभ भावों से कोई धर्म माने तो उसकी वह मान्यता मिथ्यात्व है।

'मैं जीवों को मारता हूँ या बचाता हूँ' इत्यादि जो मिथ्या अध्यवसान है, वही बंध का कारण है। वहाँ अन्य जीव मरा या जीवित रहा, उससे बंध का सम्बन्ध नहीं है; वह बंध का कारण नहीं है। फिर भी जो बाह्यवस्तु का या अन्य जीवों को मारने का निषेध किया है, उसका कारण यह है कि बाह्य वस्तु के आश्रय बिना अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता। अतः अध्यवसान के निषेध के लिए बाह्यवस्तु का निषेध भी किया गया है।

प्रश्न – आप तो हमें यह बताइए कि हमें बाह्य वस्तु तथा अध्यवसान दोनों का त्याग करना कि अकेले अध्यवसान का ?

उत्तर – अरे भाई! अध्यवसान का त्याग कराने के लिए 'बाह्यवस्तु का संग छोड़ो' - ऐसा कहा है । वस्तुतः बाह्यवस्तु का ग्रहण-त्याग तो आत्मा

करता ही कहाँ है ? परन्तु मान्यता में जो बाह्यवस्तु का कर्तृत्व माने बैठा है, उसे छोड़ना है न ? उसमें बाह्य संयोग भी छूट ही जाता है। अध्यवसान छूट जाय और तत्संबंधी वस्तु बनी रहे - ऐसा नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि भगवान ! तू एकबार सुन तो सही ! विचार तो कर! जो तू ऐसा मानता है कि मैं दूसरों को दान देता हूँ, धनादि देकर सहायता करता हूँ तो यह तेरा अभिप्राय मिथ्या है; क्योंकि अभिप्राय पैसा देने की क्रिया नहीं कर सकता। अहा ! यह पैसा क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होने का परिणाम तो जिस काल में जैसा होना होता है, उस काल में अपनी स्वतंत्र, स्वचतुष्टय की योग्यता से होता है और तू मानता है कि 'मैं देता हूँ।' इसकारण तेरा अध्यवसाय मिथ्या है और यही बंध का कारण है। इस मिथ्या अध्यवसाय में परवस्तु तो मात्र आश्रयभूत है; निमित्तमात्र है।

अब यहाँ कहते हैं कि अध्यवसाय का कारण - आश्रय जो परवस्तु - स्त्री-पुत्र-पैसा आदि हैं, उसका निषेध होने पर - उस ओर के झुकाव की निवृत्ति होने पर कार्यभूत जो मिथ्या अध्यवसाय होता है, उसका भी निषेध हो जाता है; क्योंकि परवस्तु के आश्रय बिना अध्यवसाय उत्पन्न नहीं होता। ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसप्रकार कारण के निषेध से कार्य का निषेध हो जाता है।

इस बंध अधिकार में तो प्रारंभ से ही यह सिद्ध करते आ रहे हैं कि इस जगत में - लोकाकाश में यद्यपि कार्माण वर्गणाएं ठसाठस भरी हैं; तथापि आत्मा उनसे नहीं बंधता, अन्यथा सिद्ध भगवान को भी बंधन ठहरेगा। इसीप्रकार मन-वचन-काय की क्रिया से भी आत्मा नहीं बंधता; अन्यथा यथाख्यात संयम के धारक भगवान अरहंत केवली को भी बंध का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि उनके उक्त तीनों की क्रिया विद्यमान है। तथा पाँच इन्द्रियों की क्रिया भी बंध का कारण नहीं है; अन्यथा भगवान केवली को भी बंध होगा। इसीतरह चेतन-अचेतन का घात भी बंध का कारण नहीं है; अन्यथा समिति के धारक मुनिवरों को भी बंध का प्रसंग आ जाएगा। इसप्रकार परवस्तु बंध का कारण नहीं है।

यहाँ प्रश्न होता है कि तब फिर बंध का कारण क्या है ?

उत्तर में कहते हैं कि उपयोग में जो रागादि भाव होते हैं, वे ही एकमात्र बंध के कारण हैं। एक ज्ञायकस्वभावी आत्मा जब अपने ज्ञानस्वभाव को और क्षणिक वर्तमान रागादि परिणामों को एकमेक करता है तो वह पर में एकत्वरूप मिथ्यात्वभाव ही बंध का कारण बनता है।

आगे कहते हैं कि भगवान आत्मा चिदानन्दघन प्रभु अखण्ड एक ज्ञायकस्वभाव-मय त्रिकाल ज्ञानोपयोग रूप है। उसके वर्तमान वर्तते ज्ञान के उपयोग में जो पुण्य-पापरूप रागादि को, दया-दानादि के विकल्पों को जोड़ देते हैं - एक करते हैं, उनके वे मिथ्यात्वभाव ही संसार के कारण हैं, बंध के कारण हैं।

बाह्यवस्तु को यदि बंध का कारण मानेंगे तो अनैकान्तिक हेत्वाभास नामक दोष उत्पन्न होगा; क्योंकि बाह्यवस्तु को निर्बाधरूप से बंध का कारणपना सिद्ध नहीं होता। वह नियमरूप बंध का कारण नहीं है।

इसलिए बाह्यवस्तु, जो जीव को अतद्भावरूप है; वह बंध का कारण नहीं हो सकती। अध्यवसान, जो कि जीव को तद्भावरूप है - वही बंध का कारण है।

बाह्यवस्तु जीव को अतद्भावरूप है। वह जीव का स्वयं का भावरूप नहीं है। ये स्त्री-कुटुम्ब-परिवार आदि परजीव, पैसा, धन-सम्पत्ति, शरीर, वाणी, इन्द्रियाँ आदि परवस्तुएँ आत्मा को अतद्भावरूप हैं, वे आत्मा के भावरूप नहीं हैं। अतः वे जीव के बंध के कारण नहीं हैं।

हाँ, 'मैं जीवों को बचाता हूँ, मारता हूँ, सुखी-दुःखी करता हूँ, पालता हूँ - पोषता हूँ' आदि जो अहंकार रूप भाव होते हैं, वे अध्यवसान जीव के तद्भावरूप हैं अतः ये ही जीव के बंध के कारण हैं।

एवं बन्धहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वं दर्शयति -

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ।। २६६ ।।

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि ।
या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ।। २६६ ।।

परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि, बंधयामि मोचयामीत्यादि वा, यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि, परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात्, खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं, केवलमात्मनोऽनर्थायैव।

इसप्रकार वन्ध के कारणरूप से निश्चित किया गया अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला न होने से मिथ्या है – यह अव वतलाते हैं :-

मैं सुखी करता दुखी करता बाँधता या छोड़ता ।
यह मान्यता है मूढ़मति मिथ्या निरर्थक जानना ।। २६६ ।।

गाथार्थ – हे भाई ! '[जीवान्] मैं जीवों को [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि] करता हूँ, [वंधयामि] वंधाता हूँ [तथा विमोचयामि] तथा छुड़ाता हूँ' [या एषा ते मूढमतिः] ऐसी जो यह तेरी मूढ़मति (मोहितवुद्धि) है [सा] वह [निरर्थिका] निरर्थक होने से [खलु] वास्तव में [मिथ्या] मिथ्या है।

टीका – मैं परजीवों को दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि तथा वँधता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि जो यह अध्यवसान है वह सव, परभाव का पर में व्यापार न होने के कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है। इसलिए 'मैं आकाश पुष्प को तोड़ता हूँ' ऐसे अध्यवसान की भाँति मिथ्यारूप है, मात्र अपने अनर्थ के लिए ही है (अर्थात् मात्र अपने लिए ही हानि का कारण होता है; पर का तो कोई कुछ कर नहीं सकता)।

भावार्थ – जो अपनी अर्थक्रिया (प्रयोजनभूत क्रिया) नहीं कर सकता वह निरर्थक है, अथवा जिसका विषय नहीं है वह निरर्थक है। जीव परजीवों को दुःखी–सुखी आदि करने की बुद्धि करता है, परन्तु परजीव अपने किये दुःखी–सुखी नहीं होते; इसलिए वह बुद्धि निरर्थक है और निरर्थक होने से मिथ्या है – झूठी है।

गाथा २६६ एवं टीका पर प्रवचन

देखो, 'परजीवों को मारूँ–बचाऊँ, सुखी–दुःखी करूँ' – ऐसा अभिप्राय मिथ्या अध्यवसान है। यह बात पिछली गाथाओं से स्पष्ट हो चुकी है। अब कहते मैं जीवों को बाँधता हूँ, छोड़ता हूँ – यह अभिप्राय भी मिथ्या है; क्योंकि कोई किसी अन्य को बांध सके या बन्धनबद्ध को मुक्त कर सके – ऐसी किसी में योग्यता ही नहीं है। 'मैं दूसरों को मुक्त करूँ' ऐसा तुम्हारा जो भाव है - वह जीवों को मुक्त नहीं कर सकता।

अरे भाई ! दूसरों को बाँधने या मुक्त करने का परिणाम तो तेरा है और बंधन व मुक्त होने की क्रिया अन्य में होती है। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ फेरफार कर ही नहीं सकता तो तेरा दूसरों को मुक्त करने का परिणाम दूसरों को मुक्ति प्रदान कैसे कर देगा ? जरा सोच तो सही ! क्या तेरे ये भाव निरर्थक नहीं हैं।

एक सेठ था, वह अपना मकान बनवा रहा था। उसका एक शत्रु जिनमन्दिर की थोड़ी–सी ईंटें उसके मकान की ईंटों में मिलाकर रख आया। इसके पीछे उसकी यह खोटी भावना काम कर रही थी कि सेठ के मकान में देवद्रव्य अर्थात् निर्माल्यद्रव्य का उपयोग होगा तो इसका सर्वनाश हो जाएगा। तीव्र पापबंध होगा। परन्तु बेचारे सेठ को तो इस बात का पता ही नहीं था कि उसके मकान में कोई देवद्रव्य लग रहा है। भला उसे पापबंध कैसे हो सकता है ? पाप तो अभिप्राय से होता है, न कि केवल बाह्यक्रिया से। इसीप्रकार दूसरे अज्ञानीजन ऐसा सोचते हैं कि 'मैं दूसरों को बाँधता हूँ' पर उनका वह अभिप्राय मिथ्या है। स्वयं के खोटे भाव हुए बिना अन्य कोई हमें पापबन्ध में कैसे डाल सकता है ?

श्वेताम्बर मत में 'दस अछेरा' में एक कथानक है कि "हरि क्षेत्र में एक जुगलिया थी, जो कि मरकर नियम से स्वर्ग ही जाती है। पर उसका एक बैरी देव था। वह जुगलिया का शरीर छोटा बनाकर उसे भरतक्षेत्र में ले आया और वहाँ मांस, शराब आदि खिला-पिलाकर उसे सातों व्यसनों में लगा दिया। फलस्वरूप वह जुगलिया मरकर नरक में गई।"

यह पूरा कथानक कल्पित लगता है; क्योंकि आगमानुसार हरि क्षेत्र से कोई जुगलिया भरत में लाई ही नहीं जा सकती। जुगलिया दारू-मांस का सेवन कभी कर ही नहीं सकती और मरकर कभी नरक जाती ही नहीं।

कोई किसी को बंधन में डलवा दे - यह विचार व अध्यवसाय ही झूठा है।

यहाँ कहते हैं कि 'अमुक ने दूसरों को सातों व्यसनों में डालकर - पाप में डालकर नरक में पहुँचा दिया' - यह बात कभी बन ही नहीं सकती। यदि कोई किसी के साथ बलात्कार करके उसके मुँह में मांस डाल दे, शराब पिला दे या किसी अन्य दुर्व्यसन का सेवन करा दे, तो इससे क्या वह पापी हो जाएगा ? जिसे स्वयं में उसकी रुचि नहीं है, जिसे वह व्यसन विष्टा समान हेय लगते हों; उसे यदि कभी/कदाचित् बाध्य होकर दुर्व्यसन का सेवन करना भी पड़े तो भावना उस रूप न होने से उसे पापबंध नहीं होता।

भाई ! जो ऐसा मानता है कि कोई किसी के परिणाम फेर सकता है - तो उसका यह अभिप्राय ही खोटा है। न कोई किसी का परिणाम बिगाड़ सकता है; न सुधार सकता है। अतः न बांध सकता है, न बन्धन से मुक्त कर सकता है। यह अभिप्राय ही खोटा है कि 'मैंने किसी को बांधा या छुड़ाया, मारा या बचाया।'

प्रश्न – श्रीगुरु उपदेश देकर धर्म प्राप्त कराते हैं न ?

उत्तर – नहीं भाई ! ऐसा नहीं है। वस्तुतः तो प्रत्येक प्राणी स्वाश्रय से ही धर्म प्राप्त करता है। परन्तु निमित्त की मुख्यता से कथन करने पर ऐसा कहा जाता है कि श्रीगुरु की कृपा से धर्म की प्राप्ति हुई है।

उपदेश का विकल्प जब अपने स्वकाल में आता है, तब उसीसमय भाषावर्गणा अपनी योग्यता से अपने स्वकाल में परिणम जाती है। उसीसमय

श्रीगुरु को अपने स्वतंत्र स्वचतुष्टय की योग्यता से ऐसा विकल्प आता है कि 'अन्य सभी जीव धर्म का लाभ प्राप्त करें।' इसप्रकार सबका अपना-अपना स्वतंत्र परिणमन होते हुए भी सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव से ऐसा बनाव बन जाता है। भाई ! धर्म तो स्वाश्रय से ही होता है, पर के कारण नहीं।

पर को बन्धन में डालने का परिणाम, मुक्त करने का परिणाम, मारने-बचाने का परिणाम, पर को सुखी-दुःखी करने का परिणाम - ये सब मिथ्या अध्यवसान हैं; क्योंकि परभाव का पर में व्यापार नहीं होता। इससे पर को जीवित रखने या मारने के परिणाम वाला पर को जीवित रखने की या मारने की क्रिया नहीं कर सकता। परभाव का पर में व्यापार होना शक्य ही नहीं है। इसकारण सभी अध्यवसान आकाश कुसुम की भाँति मिथ्या ही हैं।

इसीप्रकार जो ऐसा सोचते हैं कि 'मैं ऐसा उपदेश दूँ कि दूसरे व्यक्तियों का उद्धार हो जाए।' उनसे कहते हैं कि - अरे भाई ! तुम्हारा यह परिणाम भी मिथ्या है, क्योंकि पर का तू क्या कर सकता है ? कुछ भी तो नहीं कर सकता। 'पर' को तार देने का, 'पर' का उद्धार कर देने का तेरा परिणाम 'पर' को तार नहीं सकता; क्योंकि 'पर' का 'पर' में अर्थात् एक का दूसरे में व्यापार ही नहीं होता। समकिती को दूसरों का उद्धार करने का विकल्प आना जुदी बात है। समकित की भूमिका में भी ऐसा शुभभाव आ तो सकता है, पर उसके अभिप्राय में ऐसी मान्यता नहीं है कि 'मैं पर का उद्धार कर सकता हूँ'। मिथ्यादृष्टि को पर के कर्तृत्व का - पर में फेरफार करने का जैसा विपरीत अभिप्राय होता है, सम्यग्दृष्टि को ऐसी भ्रमबुद्धि नहीं होती।

ज्ञानी माँ-बाप को गृहस्थ की भूमिका में ऐसा परिणाम तो आ सकता है कि 'मैं अपनी संतान को पढ़ा-लिखाकर होशियार कर दूँ; अच्छी आजीविका से लगा दूँ; अच्छी जगह सुसंस्कार वाले वर-वधू का संयोग मिला दूँ' - परन्तु साथ में यह अटूट आस्था भी है कि कोई किसी का कुछ भी नहीं कर सकता। इससे यदि उपर्युक्त विकल्प पूरा नहीं होता तो वे अधिक खेद-भिन्न नहीं होते। वे सोचते हैं कि अपना यह विकल्प ही खोटा था; क्योंकि मैं कर ही क्या सकता

हूँ? यदि संतान के पुण्य का उदय हो, भली होनहार हो तो सभी साधन आप ही आप मिलते चले जाते हैं और यदि पाप का उदय हो तो अनुकूल साधन नहीं मिलते। इसमें कोई क्या कर सकता है?

यह बात अपनी जगह सच है कि अनुकूल साधन मिला देने का भाव आता है, परन्तु पुत्र-पुत्री का पापोदय हो तो या तो साधन मिलते ही नहीं, मिलें तो अनुकूल नहीं मिलते।

अरे भाई ! आत्मा पर की क्रिया त्रिकाल में कभी कर ही नहीं सकता। हाँ, अपने भाव तू करता है; परन्तु अपने भावों के अनुसार पर की क्रिया का कर्त्ता तू नहीं है। इसकारण तेरा परिणाम निरर्थक है और पर में कुछ फेर-बदल करने का तेरा अभिप्राय मिथ्यात्व है।

'मैं खूब धन कमाता हूँ, तभी तो ऐसी व्यवस्था कर सका हूँ कि मेरे कुटुम्ब में सब सुखी हैं, सेवक-नौकर-चाकर सुखी हैं, समाज को खूब लाभ होता है।' - ऐसा पर को सुखी करने का अभिप्राय मिथ्यात्व है, अज्ञान है। अज्ञानी के ऐसे सभी परिणाम मिथ्या हैं और अपने अनर्थ के लिए ही हैं। ऐसी मान्यता से पर का तो कोई कुछ लाभ कर ही नहीं सकता, पर अपना नुकसान अवश्य कर लेता है।

भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है। यह तो लोगों को सुनने-समझने को भी बहुत कम मिलती है। अधिकांश उपदेश तो बस यही मिलता है कि 'दूसरों पर दया करो, दान दो, भक्ति करो, तप करो'। इसप्रकार पर की क्रिया करने का ही उपदेश बहुतायत से मिलता है। इस संदर्भ में यहाँ कहते हैं कि ये पर के हित करने के परिणाम सर्वथा निरर्थक हैं और अपने स्वयं के लिए भी अहितकर हैं।

अहा ! भाषा तो देखो ! ये परिणाम अपना अनर्थ करनेवाले हैं; क्योंकि वे मिथ्या अभिप्राय सहित हैं। क्या अपनी सत्ता में हुआ परिणाम पर की सत्ता में प्रवेश कर सकता है, जिससे पर का कार्य कर दे ? तथा न पर की सत्ता का प्रवेश अपने में ही हो सकता है। इसकारण कोई किसी का कार्य करने में समर्थ नहीं है।

प्रत्येक जीव की व परमाणु-परमाणु की जिस क्षण जो अवस्था होनी है, उसे कोई दूसरा कर दे – यह बात तीनकाल में भी संभव नहीं है। प्रत्येक जीव का व प्रत्येक परमाणु की अपनी-अपनी पर्याय का जन्मक्षण सुनिश्चित है। उनमें प्रतिसमय जो-जो अवस्थाएँ होती हैं, वही उनकी उत्पत्ति का काल है। इस स्थिति में यदि कोई ऐसा कहे या माने कि 'मैं इन्हें उत्पन्न करा सकता हूँ या बदलवा सकता हूँ' तो वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि एक का दूसरे में प्रवेश ही नहीं है।

प्रश्न – 'निश्चय से तो कोई पर का कुछ भी नहीं कर सकता' – यह बात तो शत-प्रतिशत सत्य है; पर व्यवहार से तो कर सकता है न ?

उत्तर – अरे भाई ! व्यवहार से भी आत्मा पर का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। व्यवहार से जो ऐसा कहा जाता है कि 'अमुक व्यक्ति ने अमुक का भला-बुरा किया' – ऐसा कहना व्यवहार है और ऐसा ही मानना मिथ्यात्व है। वह कथन तो बाह्य निमित्त कारण का ज्ञान कराने के लिए कहा जाता है।

प्रश्न – यह ठीक है कि व्यवहार से पर का कुछ कर नहीं सकते, परन्तु 'अमुक ने अमुक का काम किया' ऐसा व्यवहार से तो कहा ही जा सकता है न ?

उत्तर – कहने को तो कहा ही जाता है, क्योंकि लोक में निमित्त की मुख्यता से ही व्यवहार चलता है; परन्तु जिसकी दृष्टि में निमित्त का बल है – व्यवहार का ही पक्ष है, जो किसी न किसी रूप में कर्तृत्वबुद्धि की सुरक्षा करना चाहता है; वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसके अन्तर का अभिप्राय यथार्थ नहीं हुआ है।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि 'मैं पर को मारता हूँ, बचाता हूँ, सुखी-दुःखी करता हूँ, बन्धन में डालता हूँ – छोड़ता हूँ' आदि जितने भी अध्यवसान हैं, वे सब निरर्थक हैं; मिथ्या हैं। तथा अपने आत्मा के लिए अनर्थकारक हैं।

गाथा २६६ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ यह सिद्धान्त कहा गया है कि मैं पर को मार या बचा सकूँ – ऐसा जो परिणाम है, उसके योग्य लोक में कोई विषयवस्तु ही नहीं है। अतः वह परिणाम वंध्यासुत को मारने जैसा निरर्थक है। अरे भाई ! पर जीव के मरण व जीवन की क्रिया स्वतंत्र है। वह किसी अन्य के परिणाम करने से हो – ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है। स्वसंचालित वस्तुव्यवस्था में ऐसा कुछ भी संभव नहीं है। फिर भी कोई पर के मरण-जीवन को अपने परिणाम का विषय माने, तो यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है।

भाई ! धर्म क्या वस्तु है – यह लोक को खबर नहीं है। बिना समझे अज्ञानपूर्वक दया, दान, व्रत, भक्ति आदि बाहर की क्रियाएँ करता है, परन्तु इनसे क्या लाभ ? आत्मज्ञान बिना ऐसा तो अनन्तबार किया। पर संसार तो जहाँ का तहाँ – वैसा ही बना रहा।

'ये राग की क्रियाएँ मैं कर सकता हूँ' – ऐसा अभिप्राय ही मिथ्या है। क्या रागादि इसके हैं, जिन्हें यह कर सके ?

परजीव का मोक्ष व बन्ध तो उसकी स्वयं की वीतराग व राग परिणति से होता है, उसमें अन्य कोई क्या कर सकता है ? उसीप्रकार परजीव की आयु शेष हो तो बचता है, वह हमारी-तुम्हारी भावना या परिणाम से कैसे बच सकता है ?

इसप्रकार पर की क्रिया करने का परिणाम अपनी अर्थक्रिया से रहित होने से निरर्थक है।

देखो, सम्यग्दर्शन के परिणाम का ध्येय त्रिकाली ध्रुव, शुद्ध चैतन्य द्रव्य है। यह विषयवस्तु ही यथार्थ है, सत्यार्थ है। इससे यह तो परिणाम का ध्येय बन सकती है, परन्तु 'मैं मार सकता हूँ' आदि अभिप्राय परिणाम के ध्येय ही नहीं हैं; क्योंकि पर को मारने व बचाने के ये अभिप्राय ही असत्यार्थ हैं।

पर को मारने-बचाने का जैसा परिणाम हुआ, उसके अनुसार पर को मारना-बचाना या पर में कुछ भी करना शक्य ही नहीं होने से ऐसे इस परिणाम

का विषय असत्यार्थ है – ऐसा कहा जा रहा है। जीव के परिणाम का जो विषय ही नहीं है, वह परिणाम निरर्थक नहीं तो और क्या है ? वह तो निरर्थक ही है और आत्मा को अनर्थकारक है।

आगे यहाँ कहते हैं कि यह जीव परजीवों को सुखी-दुःखी आदि करने की बुद्धि करता है; परन्तु परजीव तो अपने किए सुखी-दुःखी होते नहीं हैं। इससे वह बुद्धि निरर्थक है; और निरर्थक होने से मिथ्या है – खोटी है।

भाई ! ज्ञाता-दृष्टापने रहना। 'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ' – ऐसी दृष्टि स्वरूप में एकाग्र करना।

आत्मा सदा सर्वज्ञस्वभावी है। सर्वज्ञ पर्याय जो केवली परमात्मा के उत्पन्न होती है, वह कहाँ से उत्पन्न होती है ? क्या वह पर्याय कहीं बाहर से आती है ? वह तो अन्दर जो सर्वज्ञ स्वभाव पड़ा है, उसमें लीन होने पर प्रगट होती है। मेरा भी सर्वज्ञस्वभाव है, परन्तु पर का कुछ करना – ऐसा व्यवहार से भी मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा एकमात्र कार्य अन्तर्निमग्न होना है।

आत्मा अपने सिवाय शरीर, मन, वाणी, कर्म परजीव वगैरह परपदार्थों का कुछ भी नहीं कर सकता – ऐसा जानकर अपने सर्वज्ञस्वभाव में लीन होकर रहना ही इसका वास्तविक कार्य है।

मैं अखण्ड एक शुद्ध चैतन्यमूर्ति चिदानन्दघन प्रभु भगवान आत्मा हूँ। मैं सबको जानूँ – ऐसा मुझ में ज्ञान है, परन्तु मैं पर का कर्ता बन सकूँ – ऐसी मुझमें कोई शक्ति नहीं है। निर्मल रत्नत्रय मोक्षमार्ग की पर्याय का कर्तव्य तो मुझमें है, क्योंकि वह तो स्वभाव है; परन्तु परभाव का कर्तापना मुझमें नहीं है।

इसीकारण आचार्यदेव ने यह कहा है कि 'मैं पर को जाननेवाला हूँ' यह बात भलीप्रकार जानो। इसे न जानकर 'मैं पर का कर्ता हूँ' ऐसा जो अज्ञानी का अभिप्राय है, वह मिथ्या है। एक-एक रजकण से लेकर दुनिया के धंधे-व्यापार, कुटुम्ब का भरण-पोषण, संस्थाओं की संभाल, राजकाज का

संचालन, शरीरादि की क्रिया आदि मैं करता हूँ, कर सकता हूँ – ये सब तेरे परिणाम के विषय ही नहीं हैं, क्योंकि तेरे ये परिणाम पर में कुछ कर ही नहीं सकते।

यह सब तो उदाहरण देकर विस्तार से समझाया है। संक्षेप में कहें तो सिद्धान्त यह है कि स्वद्रव्य परद्रव्य का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। ऐसा होते हुए भी 'मैं पर में कुछ कर सकता हूँ, करता हूँ' – ऐसा मानना मिथ्यात्व है, यही अनर्थ का कारण है।

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारीति चेत् –

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं ॥ २६७॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि ।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वम् ॥ २६७॥

यत्किल बंधयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्बन्धनं मोचनं जीवानाम्। जीवस्त्वस्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः अभावान्न बध्यते, न मुच्यते; सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावात्तस्याध्यवसायस्याभावेऽपि बध्यते, मुच्यते च। ततः परत्राकिंचित्करत्वान्नेदमध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि; ततश्च मिथ्यैवेति भावः।

जिय बँधे अध्यवसान से शिवपथ-गमन से छूटते ।
गहराई से सोचो जरा पर में तुम्हारा क्या चले ? ॥ २६७॥

गाथार्थ – हे भाई ! [यदि हि] यदि वास्तव में [अध्यवसाननिमित्तं] अध्यवसान के निमित्त से [जीवाः] जीव [कर्मणा बध्यंते] कर्म से बँधते हैं [च] और [मोक्षमार्गे स्थिताः] मोक्षमार्ग में स्थित [मुच्यंते] छूटते हैं [तद्] तो [त्वम् किं करोषि] तू क्या करता है ? (तेरा तो बाँधने-छोड़ने का अभिप्राय व्यर्थ गया।)

टीका – 'मैं बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ' ऐसा जो अध्यवसान उसकी अपनी अर्थक्रिया जीवों को बाँधना, छोड़ना है। किन्तु जीव तो, इस अध्यवसाय का सद्भाव होने पर भी, अपने सराग-वीतराग परिणाम के अभाव से, नहीं बँधता और मुक्त नहीं होता; तथा अपने सराग-वीतराग परिणाम के सद्भाव से, उस अध्यवसाय का अभाव होने पर भी, बँधता है, छूटता है। इसलिये पर में अकिंचित्कर होने से (अर्थात् कुछ नहीं कर सकता होने से) यह अध्यवसान

अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है; और इसलिए मिथ्या ही है। ऐसा भाव (आशय) है।

भावार्थ – जो हेतु कुछ भी नहीं करता वह अकिंचित्कर कहलाता है। यह बाँधने-छोड़ने का अध्यवसान भी पर में कुछ नहीं करता; क्योंकि यदि वह अध्यवसान न हो तो भी जीव, अपने सराग-वीतराग परिणाम से, बंध-मोक्ष को प्राप्त होता है, और वह अध्यवसान हो तो भी अपने सराग-वीतराग परिणाम के अभाव से बंध-मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार अध्यवसान पर में अकिंचित्कर होने से स्व-अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है इसलिये मिथ्या है।

गाथा २६७ एवं टीका पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि 'मैं दूसरों को बाँधता हूँ, पाप में डालता हूँ अथवा दूसरों को पापों से छुड़ाता हूँ, मुक्त कराता हूँ' – ऐसा अध्यवसाय-परिणाम होते हुए भी पर जीव तो अपने सराग-वीतराग परिणाम से बंधते व छूटते हैं। यदि सराग-वीतराग परिणाम न हों तो जीव बंधते व छूटते नहीं हैं। इसप्रकार अध्यवसान पर में अकिंचित्कर है। निमित्तरूप भले हों, पर कर्त्तारूप नहीं होते। कोई किसी अन्य की क्रिया कर ही नहीं सकता।

श्री जयसेनाचार्य की टीका में आता है कि ज्ञानी-धर्मात्माओं को भी परजीवों को मारने-बचाने के परिणाम आते हैं – ऐसे विकल्प होते हैं; परन्तु 'मैं परजीव को मार या बचा सकता हूँ' – वे ऐसा नहीं मानते। अरे ! जब यह आत्मा अपने विकल्पों तक का स्वामी नहीं होता तो पर की क्रिया का स्वामी कैसे हो सकता है ? ज्ञानी तो ऐसा मानता है कि 'पर जीव मरा या बचा, उसमें मैं निमित्तमात्र हूँ, कर्त्ता नहीं।' तथा इसके विपरीत अज्ञानी की तो ऐसी मान्यता है कि 'मैं पर का कार्य करता हूँ, कर सकता हूँ;' [ज्ञानी अपने में हुए विकल्पों के तथा उनके निमित्त से हुई पर की क्रिया के ज्ञाता ही हैं, कर्ता नहीं।]

अरे ! अज्ञानी को तो ऐसा कोई विचार ही नहीं कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? मैं कहाँ से आया हूँ और मर कर कहाँ जाऊँगा ? यदि इसी तरह जीवन चला गया तो क्या होगा ? कैसे-कैसे प्रतिकूल प्रसंगों में से गुजरना पड़ेगा ? इसने तो मात्र कुटुम्ब परिवार के भरण-पोषण और विषयभोगों की सामग्री जुटाने-मिलाने में तथा एतदर्थ रुपया-पैसा कमाने को ही अपना ध्येय बना रखा है। यही सब अज्ञानी का सर्वस्व है। ऐसे जीवों से कहते हैं कि जो भाव तू कर रहा है, वे भाव परद्रव्य की क्रिया करने में समर्थ नहीं हैं। ये तेरे विचार पर की क्रिया में अकिंचित्कर हैं। तेरी होशियारी व बुद्धि पर में कुछ कर नहीं सकती। इस कारण ये तेरे अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाले नहीं; इससे ये मिथ्या ही हैं।

कोई वैद्य ऐसा माने कि 'मैं यह दवा अमुक मरीज को देता हूँ, इससे इसका शरीर निरोग हो जाएगा' तो उसका यह अध्यवसान झूठा है, निरर्थक है; क्योंकि शरीर की निरोगता जीव के अध्यवसान का कार्य नहीं है। अध्यवसान कर्त्ता व शरीर की निरोगता कर्म – ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है।

शरीर की निरोगता में वैद्य का परिणाम निमित्त हो सकता है, परन्तु यह निमित्त शरीर की निरोगता का कर्त्ता नहीं है।

आजकल तो उपादान-निमित्त की चर्चा भी खूब चलती है। उपादान अर्थात् द्रव्य की अपनी पर्याय की तत्कालीन योग्यता। वही कार्य का जन्मक्षण है। इसी में पर्याय का जन्म होता है। निमित्त पर में कुछ भी विलक्षणता नहीं करता। वह तो पर में अकिंचित्कर ही है।

देखो, यह पानी जो गरम होता है, वह अपनी पर्याय की तत्कालीन योग्यता से होता है। उस काल में बाहर में अग्नि का निमित्त है, परन्तु अग्नि पानी को गर्म नहीं करती। पानी की उष्ण पर्याय की कर्त्ता अग्नि नहीं है। पानी पहले ठंडा था और अब गर्म हुआ सो वह अपनी पर्यायगत उपादान की तत्कालीन तत्समय की योग्यता से – निज शक्ति से अपने जन्मक्षण में हुआ है। इसमें अग्नि निमित्त अवश्य है, पर निमित्त ने पानी को उष्ण नहीं किया।

प्रत्येक द्रव्य की जिस समय में जो पर्याय होने योग्य होती है, उस समय में वही होती है। उस समय परवस्तु निमित्त होती है। परन्तु उपादान की पर्याय को निमित्त करता हो या उसमें कुछ विशेषता लाता हो – ऐसा नहीं है।

यह अलौकिक सिद्धान्त है। जिसकी समझ में यह आ जाय, उसका महाभाग्य है। अहा ! यह शरीर, मन, वाणी, कुटुम्ब-परिवार आदि किसी भी परद्रव्य की क्रिया मैं नहीं कर सकता – ऐसा जिसके अन्तर में बैठ जाय, उसकी दृष्टि सर्व परद्रव्यों पर से हटकर भगवान ज्ञायकस्वभावी आत्मा में लग जाती है और तब उसके मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

गाथा २६७ के भावार्थ पर प्रवचन

यह बाँधने-छोड़ने का अध्यवसान भी पर में कुछ नहीं करता; क्योंकि वह पर को बाँधने का कार्य नहीं कर सकता। पर को बाँधने का अध्यवसान पर को बाँध नहीं सकता। परजीव तो अपने अज्ञानमय रागादिभाव से ही बँधता है। तथा तेरा पर को मुक्त करने का अध्यवसान भी उसके वीतरागभाव के बिना – सराग परिणाम का अभाव हुए बिना उसे मुक्त नहीं करता। तथा पर को मुक्त करने का अध्यवसान न हो तो भी वीतराग-भाव से, सराग परिणाम के अभाव से मुक्ति हो जाती है। इसलिए यह अत्यन्त स्पष्ट है कि पर को मुक्त करने के अध्यवसान के कारण परजीव मुक्त नहीं होते। वे तो अपने वीतराग भाव से ही मुक्त होते हैं।

भाई ! तेरा परिणाम ऐसा हो कि 'मैं अमुक को कर्मबंध कराऊँ या कर्मों से मुक्त कराऊँ', तो भी वह जीव अपने सराग परिणामों के बिना बंधेगा नहीं व वीतराग परिणामों के बिना छूटेगा नहीं। तथा पर को बंधन में डालने या बन्धन से छुड़ाने का तेरा परिणाम न हो तो भी परजीव अपने सराग भाव से बंधता है व अपने वीतराग भाव से छूटता है। इसप्रकार पर के बंध-मोक्ष में तेरा अध्यवसानादि भाव अकिंचित्कर है।

यद्यपि कर्म का उदय जीव के विकारी परिणामों में निमित्त है, परन्तु पर की क्रिया करने में निष्फल होने से मिथ्या है।

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं –

(अनुष्टुभ्)

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः ।
तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥ १७१ ॥

श्लोकार्थ – [अनेन निष्फलेन अध्यवसायेन मोहितः] इस निष्फल (निरर्थक) अध्यवसाय से मोहित होता हुआ **[आत्मा]** आत्मा **[तत् किञ्चन अपि न एव अस्ति यत् आत्मानं न करोति]** अपने को सर्वरूप करता है, ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसरूप अपने को न करता हो।

भावार्थ – यह आत्मा मिथ्या अभिप्राय से भूला हुआ चतुर्गति-संसार में जितनी अवस्थाएं हैं, जितने पदार्थ हैं उन सर्वरूप अपने को हुआ मानता है; अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहिचानता॥ १७१ ॥

कलश १७१ पर प्रवचन

आचार्य अमृतचन्द्र इस कलश में कहते हैं कि इन निरर्थक, झूठे अध्यवसायों से जीव अनादि से पागल सा होकर ८४ लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। अहा! दुनिया की दृष्टि में चतुर कहे जाने वाले ये सब व्यक्ति किस तरह पागल हैं – यह बात यहाँ कही जा रही है। जगत में जितने पदार्थ हैं, उनकी क्रिया 'मैं करता हूँ' ऐसा मानते हैं न ? – बस इसी से वे मूढ़-मिथ्यादृष्टि व पागल हैं; क्योंकि वास्तविक स्वरूप की तो उन्हें खबर ही नहीं है।

लोक में ऐसा कुछ भी शेष नहीं है, जिसरूप अज्ञानी अपने को न करता हो। वास्तव में तो यह सबको मात्र जाननेवाला है, ज्ञाता-दृष्टा है; परन्तु अपने को ज्ञाता-दृष्टा रूप न रखकर सबको अपना मान बैठा है; उन सबका कर्ता-भोक्ता बना हुआ है। इसप्रकार अज्ञानमय अध्यवसाय से स्वयं को सर्वरूप किये बैठा है।

उसे ऐसी तो खबर ही नहीं है कि 'मैं सर्वज्ञस्वभावी आत्मा हूँ।' अरे भगवान् ! तू कैसा है, तेरा स्वरूप क्या है ? यह सब अरहंत भगवान ने ओम्ध्वनि में जाहिर किया है। यदि उसे तू नहीं जानता तो तेरी ये सब बाह्य क्रियाएँ निरर्थक हैं। आत्मा के स्वभाव में अनेक शक्तियों में एक सर्वज्ञत्वशक्ति भी है, जिसमें ऐसी सामर्थ्य विद्यमान है कि वह तीन लोक व तीन काल के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसाथ जान सके।

यहाँ तो यह चर्चा है कि निरर्थक अध्यवसान से विमोहित जीव जगत की समस्त वस्तुओं को अपनेरूप करता है। जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे वह अपने रूप न करता हो। अनादिकाल से आजतक एक क्षण भी ऐसा नहीं रहा, जब इसने अपनी मान्यता में समस्त परद्रव्यों को अपना न माना हो।

ये देह, वाणी, इन्द्रियाँ, कर्म, स्त्री-कुटुम्ब आदि तथा रुपया-पैसा, दुकान आदि मेरे हैं; देश, समाज आदि मेरे हैं - ऐसे कर्म-नोकर्म को, परजीवों को अपना मानता रहा है। अरे भाई ! जो तू इन परवस्तुओं को अपनी मानता है, तेरा यह मिथ्या अध्यवसाय है। वस्तुतः तेरा स्वभाव तो इन सबको मात्र जानने का है। इस बात की प्रतीति करके अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को स्वीकार कर। परवस्तु तो अनन्त काल में आज तक न किसी की हुई है और न होगी।

जो अपना स्वरूप है - स्वभाव है, उसमें अपनेपन की व पर में परायेपन की प्रतीति करने से ही सच्ची शान्ति व परम सुख की प्राप्ति होती है।

अब अपना स्व-परप्रकाशक एक ज्ञायकभाव श्रद्धान में व ज्ञान में आया तो श्रद्धापने केवलज्ञान हुआ कहा जाता है। वस्तुतः तो केवलज्ञान पर्याय १३वें गुणस्थान में ही होती है।

जो ज्ञान की पर्याय स्वपर को जानती है, उसमें भविष्य की पर्याय भी जानने में आ ही जाती है। 'भविष्य में राग होगा' उसका जो ज्ञान होगा, वह ज्ञान ज्ञानी की ज्ञानपर्याय में आ जाता है। 'तीन काल व तीन लोक को मैं जाननेवाला हूँ' ऐसी वास्तविक प्रतीति उसे आ जाती है।

भावार्थ पर प्रवचन

देखो, अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है तथा ज्ञाता-दृष्टापने ही अपने को रहना भी चाहिए। परन्तु मिथ्या अभिप्राय से मोहित होकर चतुर्गति संसार में जितनी अवस्थाएँ और जितने पदार्थ हैं, वे सब मेरे हैं, अज्ञानी ऐसा मानता है। स्वयं को सर्वरूप करता है। जितनी अपनी अवस्थाएँ हैं, स्वयं को उन सब रूप हुआ मानता है। जिन-जिन अवस्थाओं को जानता है, उन सर्वरूप अपने को करता है अर्थात् 'वे सब मेरी हैं' - ऐसा मानता है। अहा ! इस देह की, वाणी की, इन्द्रियों की, राग की, कर्म आदि की सभी अवस्थाओं को अपनी मानता है।

अज्ञान के पक्ष को छोड़कर मान्यता बदले तो अन्दर में अपना एक ज्ञायकस्वरूप जानने में आ जाता है। 'मैं पर का कर्ता हूँ' - ऐसे पर के कर्तृत्व के पक्ष से हटकर 'मैं तो सबका जाननहार एक ज्ञायकस्वभाव मात्र हूँ' - ऐसे अपने पक्ष में आने पर भगवान निर्मलानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा जानने में आ जाता है। बस, मात्र पक्षपात छोड़ने की जरूरत है, मान्यता बदलने की देर है; अर्थात् 'स्वरूप' का - 'स्व' का आश्रय लेने की आवश्यकता है।

इतनी सब बातें कहने का आशय एकमात्र यही है कि पर का आश्रय छोड़कर, पर से उपयोग को हटाकर 'स्व' का आश्रय कर। ऐसा किए बिना केवलज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की व केवली की यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

आत्मा का स्वभाव तो अन्दर में ऐसा है कि कुछ भी बाकी रखे बिना सब कुछ जाने; परन्तु अज्ञानी उस स्वभाव की सामर्थ्य को भूलकर, सारे जगत को अपना माने बैठा है। भाई ! आत्मा का स्वरूप स्व-परप्रकाशक है, परन्तु इसने पर को अपना मानकर स्वयं को पररूप कर रखा है। इसकारण स्वरूप से अजानपना है - इसकी यही मिथ्यादृष्टि इसके दीर्घ संसार का कारण है। •

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए ।
देवमणुए य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥ २६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च ।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥ २६९॥

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान् ।
देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधम् ॥ २६८॥
धमाधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च ।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानम् ॥ २६९॥

यथायमेवं क्रियागर्भहिंसाध्यवसानेन हिंसकं, इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमान तिर्यगध्यवसानेन तिर्यंचं, विपच्यमानमनुष्याध्यवसानेन मनुष्यं, विपच्यमानदेवाध्यवसानेन देवं, विपच्यमानसुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, विपच्यमानदुःखादिपापाध्यवसानेन पापमात्मानं कुर्यात्। तथैव च ज्ञायमानधर्माध्यवसानेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं, ज्ञायमानजीवान्तराध्यवसानेन जीवान्तरं, ज्ञायमानपुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसानेन लोकाकाशं, ज्ञायमानालोकाकाशाध्यवसानेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात्।

अब इस अर्थ को स्पष्टतया गाथा में कहते हैं :-

यह जीव अध्यवसान से तिर्यंच नारक देव नर ।
अर पुण्य एवं पाप सब पर्यायमय निज को करे ॥ २६८॥
वह जीव और अजीव एवं धर्म और अधर्ममय ।
अर लोक और अलोक इन सबमय स्वयं निज को करे ॥ २६९॥

गाथार्थ – [जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसान से [तिर्यङ्नैरयिकान्] तिर्यंच, नारक, [देवमनुजान च] देव और मनुष्य [सर्वान्] इन सर्व पर्यायों, [च] तथा [नैकविधम्] अनेक प्रकार के [पुण्यं

पापं] पुण्य और पाप [सर्वान्] इन सबरूप [करोति] अपने को करता है। [तथा च] और उसीप्रकार [जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसान से [धर्माधर्मं] धर्म-अधर्म, [जीवाजीवौ] जीव-अजीव [च] और [अलोकलोकं] लोक-अलोक [सर्वान्] इन सबरूप [आत्मानम् करोति] अपने को करता है।

टीका – जैसे यह आत्मा पूर्वोक्त प्रकार* क्रिया जिसका गर्भ है ऐसे हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है, (अहिंसा के अध्यवसान से अपने को अहिंसक करता है) और अन्य अध्यवसानों से अपने को अन्य करता है, इसीप्रकार उदय में आते हुए नारक के अध्यवसान से अपने को नारकी करता है, उदय में आते हुए तिर्यंच के अध्यवसान से अपने को तिर्यंच करता है, उदय में आते हुए मनुष्य के अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है, उदय में आते हुए देव के अध्यवसान से अपने को देव करता है, उदय में आते हुए सुख आदि पुण्य के अध्यवसान से अपने को पुण्यरूप करता है और उदय में आते हुवे दुःख आदि पाप के अध्यवसान से अपने को पापरूप करता है; और इसीप्रकार जानने में आता हुआ जो धर्म (धर्मास्तिकाय) है उसके अध्यवसान से अपने को धर्मरूप करता है, जानने में आते हुवे अधर्म के (–अधर्मास्तिकाय के) अध्यवसान से अपने को अधर्मरूप करता है, जानने में आते हुवे अन्य जीव के अध्यवसानों से अपने को अन्य जीवरूप करता है, जानने में आते हुवे पुद्गल के अध्यवसानों से अपने को पुद्गलरूप करता है, जानने में आते हुवे लोकाकाश के अध्यवसान से अपने को लोकाकाशरूप करता है और जानने में आते हुवे अलोकाकाश के अध्यवसान से अपने को अलोकाकाशरूप करता है (इसप्रकार आत्मा अध्यवसान से अपने को सर्वरूप करता है)।

भावार्थ – यह अध्यवसान अज्ञानरूप है इसलिये उसे अपना परमार्थस्वरूप नहीं जानना चाहिए। उस अध्यवसान से ही आत्मा अपने को अनेक अवस्थारूप करता है अर्थात् उनमें अपनापन मानकर प्रवर्तता है।

---

* हिंसा आदि के अध्यवसान राग-द्वेष के उदयमय हनन आदि की क्रियाओं से परिपूर्ण हैं; अर्थात् उन क्रियाओं के साथ आत्मा की तन्मयता होने की मान्यतारूप हैं।

गाथा २६८-२६९ एवं टीका पर प्रवचन

देखो! इसमें चार गति सहित पुण्य-पाप भाव, शुभ-अशुभ भाव भी ले लिये हैं। वस्तुत: तो स्वयं स्वयं को जाने; स्वप्रकाशी हो तो पुण्य-पापादि सबको जान लेता है, सब जानने में आ जाते हैं – ऐसा इसका स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव है। परन्तु स्व को प्रकाशित किये बिना केवल परप्रकाशक होना संभव नहीं है तथा केवल परप्रकाशकपना मानना यथार्थ नहीं है। वास्तव में तो जब आत्मा के 'स्व' प्रकाशकपने का, शुद्ध चैतन्यप्रकाश का भान हो, तब रागादि (पुण्य-पाप आदि) व्यवहार से मात्र जाने हुए प्रयोजनवान हैं। पर अज्ञानी ज्ञाताभाव से रहने के बदले रागादि भावों को करता हुआ उन्हें प्रयोजनवान मानता है। 'अनेक प्रकार के शुभ-अशुभ भावों को मैं करता हूँ' अमुक काम मैंने किए हैं आदि प्रकार से मिथ्या अहंकार किए अपने को सर्वरूप करता है।

इसीप्रकार मिथ्या अध्यवसाय से धर्म, अधर्म आदि छह द्रव्यरूप भी स्वयं को करता है। यहाँ गाथा में जो धर्म-अधर्म की बात कही है, वह पुण्य-पाप की बात नहीं है, बल्कि धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय द्रव्यों की बात है। तथा सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार गाथा ४०४ में जो धर्म-अधर्म की चर्चा है, वह पुण्य-पाप के अर्थ में है। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन किया गया हो, उसे बराबर समझना चाहिए।

भाई! तू प्रज्ञाब्रह्म है न? ज्ञानस्वरूप है न? आत्मा एकमात्र ज्ञान का दल है, ज्ञानमय है, और अपनी ज्ञानपर्यायों से सबको जाननेरूप अपने ज्ञानस्वभाव का ही कर्ता है। ऐसा न मानकर सबका कर्ता अपने को मानना-बस यही तेरी मिथ्याबुद्धि है। 'ये पुण्य-पाप के भाव, ये स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब, परिवार सब मेरे हैं' – ऐसा जो तू मानता है, यह सब मिथ्या है। ये सब तो तेरे परप्रकाशी ज्ञान के विषय हैं, परज्ञेय हैं।

आत्मा हिंसा के अध्यवसान से स्वयं को हिंसकरूप करता है। पर के साथ एकत्वबुद्धि से जो अध्यवसान होते हैं, वे राग-द्वेष की क्रिया से भरे

होते हैं। स्व व पर सदा भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। इसकारण 'मैं पर को मारूँ, बचाऊँ' इत्यादि अभिप्राय स्व-पर की एकत्वबुद्धि सहित अध्यवसान हैं; वे अध्यवसान राग-द्वेष की क्रिया से भरे हैं और राग-द्वेषरूप हिंसा के अध्यवसान से अज्ञानी स्वयं को हिंसक करता है।

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। आत्मप्रभु अकेले ज्ञानभाव से भरा, वीतरागभाव से भरा भगवान है। तथा पर को बाँधने-छुड़ाने आदि के अध्यवसान, पर में एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसान राग-द्वेष की क्रिया से भरे हुए हैं।

एक ज्ञायकभाव स्वरूप, वीतरागभाव स्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि करने के बदले अज्ञानी जीव 'मैं अमुक को बंधन में डाल दूँ, अमुक को छुड़वा दूँ' इत्यादि अध्यवसान करता है, एवं केवल मलिन राग-द्वेप के परिणामों से भरा होने से स्वयं को राग-द्वेपरूप मलिन-हिंसक करता है।

चैतन्यमूर्ति प्रभु भगवान आत्मा अखण्ड, एक ज्ञायकभाव मात्र वस्तु है। उसमें दृष्टि जाते ही पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव उत्पन्न होने लगता है। परन्तु यह बड़े खेद की बात है कि यह आत्मा अपने ऐसे स्वभाव को भूलकर स्वयं को हिंसक करता है।

अहा! यद्यपि जगत को सुनने में यह बात कठोर लगती है कि परजीव की रक्षारूप अहिंसा का अध्यवसाय रागमय होने से वस्तुत: पापवत् ही है। परन्तु पर की रक्षा जब कोई कर ही नहीं सकता, फिर भी अज्ञानी पर की रक्षा का मिथ्या अहंकार करता है; इस अपेक्षा वह बचाने का अभिप्राय मिथ्यात्व रूप पाप है या नहीं ? निरर्थक है या नहीं ? तथा पर में एकत्वबुद्धि व कर्त्तृत्वबुद्धि सहित होने से राग-द्वेष की क्रिया से भरा हुआ है या नहीं ?

इस अध्यवसान में भगवान आत्मा का वीतरागभाव, चैतन्यभाव आता ही नहीं है, केवल राग-द्वेष ही आते हैं। अत: ऐसे सभी भावों को योगीन्दुदेव ने आगम में पाप कहा है।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि सर्वजीवों को अभयदान के दाता हैं, ऐसा जो कहा जाता है, यह किसप्रकार संभव है ?

उत्तर – भाई ! 'पर जीवों को मैं अभयदान दूं अथवा पर की रक्षा करूँ' – ऐसा एकत्वबुद्धि सहित अभिप्राय समकिती को होता ही नहीं है; क्योंकि पर के साथ एकत्वबुद्धि की गांठ समकिती की छूट गई है। समकिती को किंचित् अस्थिरता के कारण परजीवों के अभयदान सम्बन्धी विकल्प अवश्य आता है; परन्तु 'परजीवों से तथा उनकी रक्षा के विकल्प से मैं भिन्न हूँ' ऐसी अन्तर प्रतीति उसे निरन्तर रहती है।

अहिंसा के विकल्प के काल में भी समकिती को अन्तरंग में निर्विकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि वीतरागभावरूप परिणति प्रगट होती है। इसप्रकार उसे अन्तरंग में निश्चय व बाहर में व्यवहार अभयदान वर्तता है। जबकि मिथ्यादृष्टि के तो 'मैं पर की रक्षा करूँ, उन्हें मारूँ नहीं', ऐसे अहिंसा के अध्यवसाय में भी केवल राग-द्वेष-मोह भाव ही भरे रहते हैं। यहां मिथ्यादृष्टि के प्रकरण में 'अहिंसक' का अर्थ वीतरागभाव रूप अहिंसा नहीं है, परन्तु उसके गर्भ में राग-द्वेष-मोह की क्रिया भरी है।

प्रश्न – अहिंसा को तो शास्त्रों में परमधर्म कहा है और आप इस अहिंसा को पाप की श्रेणी में रखते हो, महापाप कहते हो – ऐसा क्यों ? तथा वह कौनसी अहिंसा है, जिसे परमधर्म कहा गया है ?

उत्तर – हाँ ! तुम ठीक कहते हो। वह वीतरागी अहिंसा की बात है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप, ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से अन्तर में जो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतराग परिणति प्रगट होती है, वह अहिंसा है तथा वही परमधर्म है। ऐसे धर्मी जीवों को परजीवों की रक्षा करने का जो विकल्प आता है, उसे व्यवहारधर्म कहा गया है। पर यहाँ वह व्यवहारधर्म की बात भी नहीं है। यहाँ तो जिसका परमधर्म अर्थात् निश्चयधर्म भी नहीं तथा व्यवहार धर्म भी नहीं – ऐसे अज्ञानी की शुभभाव वाली अहिंसा की बात है, जिसे मिथ्यात्व के कारण पापरूप कहा है।

अज्ञानी को परजीवों को मारने-बचाने का तथा पर में एकत्वबुद्धि का जो अध्यवसान है, वह राग-द्वेष-मोह की क्रिया से अन्तर्गर्भित है। तथा उस

अभिप्राय से वह स्वयं को हिंसक-अहिंसक अथवा राग-द्वेष-मोह रूप करता है। वह अध्यवसाय पर के साथ व राग-द्वेष-मोह की क्रिया के साथ तद्रूप व तन्मयतारूप होने से मिथ्यात्व के महापापरूप है।

परजीवों की दया पालन करने का जो भाव है, वह भले पुण्यभाव है, परन्तु उसी में 'मैं परजीवों की दया पाल सकता हूँ, उनकी रक्षा कर सकता हूँ' - ऐसी जो मान्यता है, वह मान्यता मिथ्यात्व के महापापरूप है।

अब आगे कहते हैं कि अध्यवसानों से अज्ञानी अपने को अन्यरूप करता है। जैसे कि 'घर में बेटी बड़ी हो गई है, इसे अच्छे घर में, होनहार वर के साथ ब्याह दूँ, इस बेटे को काम-धंधे से लगा दूँ, संतान के सुख के लिए बाग-बगीचा, बंगला बनवा दूँ।' इत्यादि अध्यवसायों से अपने एक ज्ञायकभाव को भूलकर अज्ञानी पर में एकाकार हो जाता है। आचार्य उससे कहते हैं कि - भाई! इसमें तेरे ही आत्मा का घात होता है; क्योंकि ये अध्यवसाय राग-द्वेष-मोह से भरे हुए हैं। भगवान! तू ऐसे मिथ्या अभिप्राय के कारण चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण के दु:ख उठा-उठाकर चारों ओर से लुट-पिट रहा है।

'दूसरों को धनादि देकर सुखी कर दूँ, अन्न-पानी देकर भूख-प्यास मिटा दूँ, औषधि आदि द्वारा निरोग कर दूँ, दीन-दु:खियों की, गरीबों की सेवा करूँ' आदि सभी प्रकार के अध्यवसाय राग-द्वेष से भरे हुए हैं, मिथ्यात्वभाव हैं।

देखो, यह आत्मा तो दिव्य शक्तिमय प्रभु वीतरागी परमानन्द से भरा अनन्त शक्तियों का भंडार चित्चमत्कारस्वरूप भगवान है; परन्तु पर के कर्तृत्व के अज्ञान के कारण यह मिथ्या अध्यवसायरूप जंजीर से जकड़ा हुआ है।

अहा ! यह जीव अन्य अध्यवसानों से अपने को अन्यरूप करता है। जैसे कि - मैं बनिया हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, हरिजन हूँ आदि अध्यवसानों से स्वयं को इन्हीं रूप मानने लगता है। 'मैं ज्ञायक हूँ' इस अनुभव के बदले मिथ्याध्यवसाय से 'मैं अमुक हूँ' - इसप्रकार अपने को अन्यरूप करता है। जबकि भगवान आत्मा तो एक ज्ञायकभाव मात्र है। यह बनिया, ब्राह्मण नहीं है। इसीप्रकार औदयिक भाव के कारण अपने को नर-नारक आदि मानने

लगता है। आचार्य कहते हैं कि अरे भगवान! तू तो एक ज्ञायकमात्र है। नारकी तो जड़देह है। इस देह में रहने से अपने को नारकी मानने का अभिप्राय मिथ्यात्व है।

'उदय में आते हुए नारकीपन के अध्यवसान से' यह कहकर यहाँ यह भी सिद्ध किया है कि तू नारकी अवस्था में भी अनन्तबार उत्पन्न हुआ है और तब नारकीपन के अभ्यास से अपने आत्मा का पतन किया। अहा ! यह आत्मा नारकी नहीं है, किन्तु परमानन्दमय ज्ञायकस्वरूप भगवान है।

देखो, राजा श्रेणिक वर्तमान में नरक में हैं, पर वे ज्ञानी होने से अपने को नारकी न मानकर, नारकी के रूप में न देखकर भगवान आत्मा के रूप में देखते-जानते हैं; मैं ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा हूँ – ऐसा ही अपने में अनुभव करते हैं। ये जो नारकी पर्याय है, यह मुझसे भिन्न है – मैं तो मात्र इसका जाननहार हूँ – ऐसा मानता है। मान्यता पलटने से जीवन में बहुत भारी परिवर्तन आ जाता है।

अब कहते हैं कि उदय में आते हुए तिर्यंच के अध्यवसान से अपने को तिर्यंच करता है, उदय में आते हुए मनुष्य के अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है – ऐसा कहकर यह सिद्ध किया है कि इस भवसमुद्र में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याय में यह भगवान आत्मा अनन्तबार जन्मा-मरा है। और वहाँ ऐसा माना कि 'मैं तिर्यंच हूँ, मैं स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, बालक हूँ, युवा हूँ, वृद्ध हूँ, पण्डित हूँ, मूर्ख हूँ, राजा हूँ, रंक हूँ आदि।' इसप्रकार अपने को मनुष्य करता है। यदि कोई समाजसेवा में; राष्ट्रसेवा में लगा हो तो अपने को समाजसेवक व देशसेवक मानता है।

आचार्य कहते हैं कि यह तेरा रागमय मिथ्या अध्यवसाय मिथ्यात्वमय है। भाई ! तू इस रागमय अध्यवसान में तद्रूप हो रहा है, जबकि इसमें आत्मा की गंध भी नहीं है।

आगे टीका में कहा है कि 'उदय में आते हुए देव के अध्यवसान से अपने को देव करता है तथा उदय में आते हुए सुख-दुःखादि व पुण्य-पापादि अध्यवसानों से अपने को सुखी-दुःखी व पुण्यात्मा-पापात्मा करता है।'

देखो, जब यह जीव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी व वैमानिक देव होता है, तब ऐसा मानता है कि मैं अनेक रिद्धिधारी देव हूँ, असंख्य देवों का स्वामी हूँ आदि।

परन्तु यह मिथ्या अध्यवसान भी मलिनभावों से भरा है। इसीप्रकार बाह्य संयोग में पुण्योदय से भरपूर धनादि वैभव मिल गया हो अथवा निर्धन रह गया हो तो उसमें अपनेपन की एकत्वबुद्धि से अर्थात् सुख-दुःख के अध्यवसान से अज्ञानी जीव अपने को पुण्यरूप-पापरूप व सुख-दुःखरूप करता है।

इसीप्रकार जानने में आते हुए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के अध्यवसान से अपने को धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यरूप करता है।

देखो, यह मात्र जैनदर्शन की ही बात है; क्योंकि अन्य दर्शनों में धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय तो हैं ही नहीं। जैनदर्शन के अनुसार धर्मास्तिकाय नामक एक ऐसा लोकव्यापी अजीव व अरूपी द्रव्य है, जो स्वयं गति करने वाले जीव-पुद्गलों को गति करने में उदासीन निमित्त होता है। उसका विचार आने पर अज्ञानी को जो उसमें एकत्वरूप विकल्प उठता है, उस विकल्प को अपनाकर अपने आत्मा को उस रूप करता है। इसीप्रकार अधर्मास्तिकाय में ममत्व करके अपने को अधर्मास्तिकाय रूप करता है।

तीन लोक में गतिपूर्वक स्वयं स्थिर होते हुए जीव-पुद्गलों की स्थिति में उदासीन निमित्तभूत अरूपी पदार्थ अधर्मास्तिकाय है। वह चौदह राजू लोकव्यापी है। इस अधर्मास्तिकाय का विचार करते हुए उसी के जानने के प्रति उठे विकल्पों में ही एकत्व करके अज्ञानी ऐसा मानने लगता है कि 'मुझे अधर्मास्तिकाय का ज्ञान है' – ऐसे अधर्मद्रव्य के अध्यवसान से स्वयं को अधर्मद्रव्य रूप करता है।

आगे कहते हैं कि जानने में आते हुए अन्य जीवों के अध्यवसान से अपने को अन्यद्रव्यरूप करता है।

देखो, ये जो स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी तथा नौकर-चाकर आदि अन्य जीव हैं; वे सब पर हैं, स्व नहीं हैं; तथापि वे सब मेरे हैं और मुझे उपकारी हैं – ऐसा अध्यवसान मिथ्या है।

अज्ञानी ऐसे मिथ्या अध्यवसाय से स्वयं को अन्य जीवरूप करता है – ऐसा कहते हैं।

ये अरहंतदेव व निर्ग्रन्थ गुरु के आत्मा हैं न ? वे भी अन्य जीव हैं, पर हैं; स्व नहीं हैं। उन्हें भी अपना हितकारी मानना तथा ये मेरे तारणहार हैं – ऐसी एकत्व-ममत्व बुद्धिरूप जो अध्यवसाय है वह मिथ्यादर्शन है।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि जो निज ज्ञायकभाव को छोड़कर अन्य जीव में अपनेपन का विकल्प करे तो उस विकल्प से वह जीव अपने आपको अन्य जीवरूप करता है और यह उसका अज्ञान है, मिथ्यात्व है। इसीप्रकार जानने में आते हुए पुद्गलों के अध्यवसान से स्वयं को पुद्गलरूप करता है।

अहा ! स्वयं तो ज्ञायकस्वरूप है; उसे जाने बिना इस शरीर, मन, वाणी, धन-सम्पत्ति, बाग-बंगला, हीरा-माणिक-मोती आदि अनेक प्रकार के पुद्गलों को अपना जानता हुआ 'ये मेरे हैं, मुझे लाभदायक हैं' ऐसे अध्यवसान से अज्ञानी जीव स्वयं को पुद्गल द्रव्य रूप करता है।

स्वयं पुद्गल नहीं हो जाता, बल्कि स्वयं को उस रूप मानने लगता है; उसमें अपना बड़प्पन अनुभव करने लगता है। 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसा न मानकर इसके बदले 'मैं शरीररूप हूँ, मैं गोरा-काला, सबल-दुर्बल आदि रूप हूँ' – ऐसा अनुभव करने लगता है। यही अपने को पुद्गलरूप करना है, जो कि अज्ञानमय अध्यवसाय है।

लोक के आकार का विचार करते हुए अज्ञानी उन विकल्पों में एकत्वबुद्धि करके लोकाकाश व अलोकाकाश सम्बन्धी अध्यवसानों से स्वयं को लोकाकाश व अलोकाकाश रूप करता है। इसप्रकार जीव मिथ्या अध्यवसानों से स्वयं को पररूप करता है।

अनन्तकाल से अज्ञानी ने औंधी मान्यता से अपने को भूलकर पर में एकत्व-ममत्व रूप मिथ्या अध्यवसान ही किये हैं। स्वयं है तो स्वभाव से सकलज्ञेय-ज्ञायक, तथापि अपने स्वरूप को जाने बिना वह जिन-जिन अन्य

पदार्थों को जानता है या जो-जो अन्य ज्ञेय जानने में आते हैं, उन सर्वरूप स्वयं को मानने लगता है। ऐसी मिथ्या मान्यता से ही जीव अनंतकाल से संसार में भटक रहा है; क्योंकि यह मिथ्या मान्यता ही बंध का कारण है।

तात्पर्य यह है कि ये सर्व अध्यवसान अज्ञानरूप हैं, इसकारण इन्हें अपना परमार्थस्वरूप नहीं समझना चाहिए।

'मैं पर जीवों को मारता हूँ, बचाता हूँ, बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ' - इत्यादि जो पर में एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय है, वह अज्ञानरूप है। जगत में अन्य पदार्थ की व्यवस्था मैं कर सकता हूँ - ऐसी मान्यता अज्ञानरूप है। इसीप्रकार 'पर मारता है, बचाता है' आदि अध्यवसाय भी अज्ञानरूप है; क्योंकि एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का प्रवेश ही नहीं है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता।

इसलिये कहते हैं कि इन अध्यवसानों को अपना परमार्थस्वरूप नहीं समझना। 'मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ तथा परवस्तुएँ ज्ञेय हैं' - यही वास्तविक वस्तुस्वरूप है। •

अब इस अर्थ का कलशरूप तथा आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं -

(इन्द्रवज्रा)

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककंदोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १७२॥

श्लोकार्थ - [विश्वात् विभक्तः अपि हि] विश्व से (समस्त द्रव्यों से) भिन्न होने पर भी [आत्मा] आत्मा [यत्-प्रभावात् आत्मानम् विश्वम् विदधाति] जिसके प्रभाव से अपने को विश्वरूप करता है [एषः अध्यवसायः] ऐसा यह अध्यवसाय - [मोह-एक-कन्दः] कि जिसका मोह ही एक मूल है वह - [येषां इह नास्ति] जिनके नहीं है [ते एव यतयः] वे ही मुनि हैं ॥ १७२॥

कलश १७२ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि ज्ञप्तिमात्र जिसकी एक स्वाभाविक क्रिया है – ऐसा ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा सम्पूर्ण विश्व से भिन्न है। सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा इस शरीर-मन-वाणी-इन्द्रिय-कुटुम्ब-परिवार आदि जगत के सर्व अन्य द्रव्यों तथा इनके गुण-पर्यायों से भिन्न है। ये दया-दान आदि के भाव भी विश्व में ही शामिल हैं। अर्थात् भगवान आत्मा में होनेवाले दया-दान आदि भावों से भी भगवान आत्मा भिन्न है।

जगत के अनन्त आत्माओं तथा अनन्तानन्त पुद्गल-परमाणुओं से भिन्न होते हुए भी 'ये मेरे हैं तथा मैं इनकी क्रिया करता हूँ' – ऐसे अध्यवसान से जीव स्वयं को विश्वरूप-अनेकरूप करता है। है तो स्वयं सदा अखण्ड एक ज्ञायकस्वरूप, परन्तु मिथ्या अध्यवसाय से स्वयं को विश्वरूप करता है।

देखो, महान दिगम्बर जैनाचार्य भगवान कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि 'पर की क्रिया मैं करता हूँ' ऐसा जिसका अध्यवसाय है, मान्यता है; वह मिथ्यादृष्टि है। तथा ऐसे अध्यवसाय से जो रहित हैं, वे ही वस्तुतः समकिती हैं।

अपना एक ज्ञायकस्वभाव तो जगत के सर्व पदार्थों को जानने की सामर्थ्यवाला है। परन्तु अज्ञानी उस सामर्थ्य को भूलकर सारे जगत को किसी न किसी रूप में अपना मानता है तथा उसमें अपना कर्त्तृत्व मानता है। इस सब अज्ञान का मूल एकमात्र मोह ही है; मिथ्या मान्यता ही है।

पर में एकत्वबुद्धि का जो अध्यवसाय है, उसका मूल एक मिथ्यात्व ही है। ऐसा मिथ्या अध्यवसाय जिसको नहीं है, वे ही ज्ञानी हैं; वे ही मुनि हैं।

यहाँ मुनिदशा की प्रधानता से कथन है। वैसे, चौथे-पाँचवें गुणस्थान में भी पर की एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय नहीं होता।

कुछ लोग मेरे बारे में ऐसा कहते हैं कि 'कानजीस्वामी मूलतः श्वेताम्बर मान्यता वाला है न ? देखो, आज भी वे श्वेताम्बर साधु जैसी लुंगी पहनते हैं, दुपट्टा ओढ़ते हैं। तथा साधु न होते हुए भी अपने को साधु (गुरु) मनवाते हैं, स्वयं वस्त्र पहनते हैं एवं वस्त्ररहित साधुओं को गुरु नहीं मानते......'।

परन्तु भाई! मैं निर्ग्रन्थ गुरु नहीं हूँ, मेरी तो गृहस्थदशा है। निर्ग्रन्थ गुरुओं की तो अद्भुत/अलौकिक अन्तर्दशा होती है। उनकी तो बाहर में वस्त्र से नग्न

व अन्तर में राग से नग्न परिणति हुई है। पर का भला-बुरा करने की बुद्धि का उनमें अभाव हो गया है तथा प्रचुर आनन्दरस से उनकी ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की परिणति उभर आई है। मुनिश्वर तो ऐसे उपशम रस में सराबोर होते हैं।

अहा ! जिन्होंने मोहग्रन्थि का नाश कर दिया है, ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु-साधु यथाजातरूप ही होते हैं। अहो ! धन्य वह मुनि दशा!

जिसका सहज एक ज्ञायकस्वभाव है – ऐसे आत्मा का 'स्व' व 'पर' को जानने का सहज स्वभाव है।

नाटक समयसार में आता है न ?

"स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भारी ।
ज्ञेयदशा दुविधा परभासी, निजरूपा-पररूपा भासी ॥"

स्व-पर को मात्र जानना अपना स्वभाव है। उसे ग्रहण न करके जानने में आने वाले ये देव मेरे, ये गुरु मेरे, यह मन्दिर हमारा – ऐसे परद्रव्य के मिथ्या अध्यवसाय से अज्ञानी स्वयं को पररूप करता है। इसका मूल एकमात्र मोह ही है तथा ये अध्यवसाय जिसके नहीं है, वे अन्तरंग चारित्र के धारक मुनिवर हैं।

'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र ही धर्म है और वही साक्षात् मोक्ष का कारण है – ऐसा भगवान ने कहा है। तथा 'दंसणमूलोधम्मो' – इस चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है – ऐसा भी कहा है। जिसमें स्व-पर को जाननेरूप एक स्वभाव वाले आत्मा की परिपूर्ण प्रतीति वर्तती है, वह सम्यग्दर्शन ही धर्म का अर्थात् चारित्र का मूल है। ऐसे चारित्र के धारक मुनिवरों को उपरोक्त अध्यवसाय नहीं होते।

मोह ही जिसका मूल है, ऐसा अध्यवसान जिनको नहीं है – तथा सम्यग्दर्शन जिसका मूल है – ऐसे चारित्र के धारक, प्रचुर आनन्द में झूलने वाले मुनिराज होते हैं।

जिसप्रकार धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, इसीप्रकार अध्यवसानों का मूल मिथ्यादर्शन है। तथा ऐसा अध्यवसाय मुनिवरों को नहीं होता है। मुनिवरों को छहकाय के जीवों की रक्षा का विकल्प तो आता है, पर वे उस विकल्प के स्वामी व कर्त्ता नहीं होते; वे उसके भी मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं।

समयसार गाथा २७०

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥ २७० ॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि ।
ते अशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते ॥ २७० ॥

एतानि किल यानि त्रिविधान्यध्यवसानानि तानि समस्तान्यपि शुभाशुभकर्म-बंधनिमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात्। तथा हि – यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तत्, ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विवक्तात्माज्ञानात्, अस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्। [यत्पुनः नारकोऽहमित्याद्यध्यवसानं तदपि ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञायकैकभावस्य कर्मोदयजनितानां नारकादिभावानां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम् ।] यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदपि, ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानात्, अस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्। ततो बंधनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि। येषामेवैतानि न विद्यंते त एव मुनिकुंजराः केचन, सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियं, सदहेतुकज्ञायकैकभावं, सदहेतुकज्ञानैकरूपं च विविक्तामात्मानं जानंतः, सम्यक्पश्यंतोऽनुचरंतश्च, स्वच्छस्वच्छंदोद्यदमंदांतर्ज्योतिषोऽत्यंतमज्ञानादिरूपत्वाभावात्, शुभेनाशुभेन वा कर्मणा न खलु लिप्येरन्।

ये अध्यवसाय जिनके नहीं हैं वे मुनि कर्म से लिप्त नहीं होते - गाथा द्वारा कहते हैं –

ये और इनसे अन्य अध्यवसान जिनके हैं नहीं।
वे मुनीजन शुभ-अशुभ कर्मों से न कबहूँ लिप्त हों ॥ २७०॥

गाथार्थ – [एतानि] यह (पूर्व कथित) [एवमादीनि] तथा ऐसे और भी [अध्यवसानानि] अध्यवसान [येषाम्] जिनके [न संति] नहीं हैं, [ते मुनयः] वे मुनि [अशुभेन] अशुभ [वा शुभेन] या शुभ [कर्मणा] कर्म से [न लिप्यंते] लिप्त नहीं होते।

टीका – यह जो तीनों प्रकार के अध्यवसान हैं वे सभी स्वयं अज्ञानादिरूप (अर्थात् अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारित्ररूप) होने से शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं। इसे विशेष समझाते हैं :- 'मैं (परजीवों को) मारता हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है उस अध्यवसान वाले जीव को ज्ञानमयपने के सद्भाव से [१]सत्रूप, [२]अहेतुक, [३]ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है ऐसे आत्मा का और रागद्वेष के उदयमय ऐसी [४]हनन आदि क्रियाओं का [५]विशेष नहीं जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन (अश्रद्धान) होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित्र है। [और 'मैं नारक हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है वह अध्यवसानवाले जीव को भी, ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है ऐसा आत्मा का और कर्मोदयजनित नारक आदि भावों का विशेष न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्माका अदर्शन होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित्र है।] और यह

---

१. सत्रूप = सत्तास्वरूप; अस्तित्वरूप (आत्मा ज्ञानमय है इसलिये सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही उसकी एक क्रिया है।)
२. अहेतुक = जिसका कोई कारण नहीं है ऐसी; अकारण; स्वतःसिद्ध; सहज।
३. ज्ञप्ति = जाननेरूप क्रिया। (ज्ञप्तिक्रिया सत्रूप है, और सत्रूप होने से अहेतुक है।)
४. हनन = घात करना; घात करने रूप क्रिया। (घात करना आदि क्रियाएँ रागद्वेष के उदयमय हैं।)
५. विशेष = अन्तर; भिन्न लक्षण।

'धर्मद्रव्य ज्ञान होता है' इत्यादि जो अध्यवसान है उस अध्यवसान वाले जीव को भी [1]ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्‌रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है ऐसे आत्मा का और ज्ञेयमय धर्मादिकरूपों का विशेष न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित्र है। इसलिये यह समस्त अध्यवसान बन्ध के ही निमित्त हैं।

मात्र जिनके यह अध्यवसान विद्यमान नहीं है वे ही कोई (विरले) मुनिकुंजर (मुनिवरों) सत्‌रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, सत्‌रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसके एक भाव है और सत्‌रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका रूप है ऐसे भिन्न आत्मा को (सर्व अन्यद्रव्यभावों से भिन्न आत्मा को) जानते हुए, सम्यक् प्रकार से देखते (श्रद्धा करते) हुए और आचरण करते हुए, स्वच्छ और स्वच्छन्दतया उदयमान (स्वाधीनतया प्रकाशमान) ऐसी अमंद अन्तर्ज्योति को अज्ञानादिरूपता का अत्यन्त अभाव होने से (अर्थात् अन्तरंग में प्रकाशित हुई ज्ञानज्योति किंचित् मात्र भी अज्ञानरूप, मिथ्यादर्शनरूप और अचारित्ररूप नहीं होती इसलिए), शुभ या अशुभ कर्म से वास्तव में लिप्त नहीं होते।

भावार्थ – यह जो अध्यवसान हैं वे 'मैं पर का हनन करता हूँ' इसप्रकार के हैं, 'मैं नारक हूँ', इसप्रकार के हैं तथा 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ' इसप्रकार के हैं। वे, जब तक आत्मा का और रागादि का, आत्मा का और नारकादि कर्मोदयजनित भावों का तथा आत्मा का और ज्ञेयरूप अन्यद्रव्यों का भेद न जाना हो, तब तक रहते हैं। वे भेदज्ञान के अभाव के कारण मिथ्याज्ञानरूप हैं, मिथ्यादर्शनरूप हैं और मिथ्याचारित्ररूप हैं; यों तीन प्रकार के होते हैं। वे अध्यवसान जिनके नहीं हैं वे मुनिकुंजर हैं। वे आत्मा को सम्यक् जानते हैं, सम्यक् श्रद्धा करते हैं और सम्यक् आचरण करते हैं, इसलिये अज्ञान के अभाव से सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप होते हुए कर्मों से लिप्त नहीं होते।

---

१. आत्मा ज्ञानमय है इसलिये सत्‌रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है।

गाथा २७० एवं उसकी टीका व भावार्थ पर प्रवचन

"यह जो तीन प्रकार का अध्यवसान है, वह अज्ञानादिरूप होने से शुभाशुभ कर्मबन्ध का निमित्त है।"

कहते हैं कि ये जो पर को मारने-बचाने आदि से लेकर 'मैं देव हूँ, नारकी हूँ' आदि तक के तथा अन्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि पर को अपने मानने रूप अध्यवसान हैं, वे सब अज्ञानादिरूप होने से शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं। पर को बचाने या सुखी करने के भाव शुभ हैं तथा पर को मारने या दु:खी करने के भाव अशुभ हैं। पर दोनों ही एक समान बंध के ही कारण हैं।

इन्हीं को यहाँ टीका के आधार पर विशेष खुलासा करके समझाते हैं।

देखो, भगवान आत्मा निर्मलानन्द का नाथ सदा एक ज्ञानमय है, ज्ञानरूप ही है। इसमें पर का कर्त्तृत्व नहीं है। 'ज्ञानमयता' के कारण सत् अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी क्रिया है – ऐसा है।

भाई! वर्तमान जाननेरूप जो ज्ञप्तिक्रिया है, वह क्रिया स्वयं में स्वयं से ही सत् है तथा उसका कोई अन्य कारण नहीं है। यह निर्मल निरुपचार रत्नत्रय की (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की) जो क्रिया प्रगट हुई है, वह स्वयं सत् है तथा उसका अन्य कोई कारण नहीं है। यह व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम से भी प्रगट नहीं हुई है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है।' पर यहाँ उसका निषेध कर रहे हैं। कहते हैं कि निर्मल रत्नत्रय की क्रिया अहेतुक है। अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय इसका वास्तविक हेतु नहीं है।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि सत् अहेतुक ज्ञप्ति ही एक जिसकी क्रिया है, ऐसे आत्मा का और राग-द्वेष आदि क्रियाओं का भेद नहीं जानने के कारण अज्ञानी को भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं है। इसकारण यह पर में एकत्वरूप अध्यवसान करता है। इस शुद्ध ज्ञायकरूप आत्मा का अज्ञान होने से वही

अध्यवसान मिथ्याज्ञानरूप है। भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से वही अध्यवसान मिथ्यादर्शनरूप है; तथा भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से वही अचारित्ररूप है।

भगवान आत्मा की ज्ञप्तिक्रिया मात्र प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु ही है। उसमें वर्तमान रागरहित जो ज्ञान की क्रिया, धर्म की या मोक्षमार्ग की क्रिया होती है, उसका अन्य कोई हेतु नहीं है। यहाँ व्यवहाररत्नत्रय कारण व निश्चय रत्नत्रय कार्य – ऐसा नहीं समझना।

प्रश्न – शास्त्रों में व्यवहार को निश्चय का कारण कहा है न ?

उत्तर – हाँ, कहा है; परन्तु वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के प्रयोजन से किया गया कथन है। भाई! आगम की कथनशैली समझनी चाहिए। यदि कोई एकान्त से ऐसा माने कि 'व्रत, तप आदि से धर्म हो जाएगा अथवा ये धर्म के कारण होंगे' – तो उसकी यह मान्यता वस्तुस्वरूप के विरुद्ध होने से मिथ्या है।

आत्मा में वर्तमान ज्ञप्तिक्रिया – धर्म की क्रिया जो हुई है, वह स्वतः सत् व अहेतुक है। उसका उत्पाद स्वतः उत्पाद से है और तत्कालीन पर्याय की योग्यता ही उसका कारण है।

यह बात अलग है कि इस धर्म की क्रिया को त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा का आश्रय है, परन्तु त्रिकाली द्रव्य इस धर्मक्रिया की उत्पत्ति का सीधा कारण नहीं है। यह ज्ञप्ति क्रिया – धर्म की क्रिया एक वीतरागभावमय है तथा हनन आदि क्रियाएँ केवल राग-द्वेषमय हैं। अज्ञानी इन दोनों क्रियाओं में भेद नहीं जानता।

आचार्य कहते हैं कि यह मनुष्यभव तत्त्व की समझ बिना यों ही चला जा रहा है। अरे, इस स्वर्ण अवसर में तुझे वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कही शुद्ध 'ज्ञप्ति' क्रिया एवं 'हनन' क्रिया का भेद जान लेना चाहिए।

अहा! ज्ञप्ति क्रिया तो निर्मल-निर्दोष ज्ञानस्वभावमय वीतरागी क्रिया है और 'हनन' आदि क्रियाएँ राग-द्वेषमय मलिन दोषयुक्त हैं। दोनों क्रियाएँ

भिन्न-भिन्न हैं। जहाँ 'हनन' आदि क्रिया का भाव है, वहाँ 'ज्ञप्तिक्रिया' नहीं है और जहाँ 'ज्ञप्तिक्रिया' का भाव है वहाँ 'हनन' आदि क्रिया का भाव नहीं है। एक की दूसरे में नास्ति है।

भगवान! ये जानने-देखने की, श्रद्धान की एवं निराकुल आनन्द तथा शान्ति की जो पर्यायें होतीं हैं, ये तेरी कर्त्तव्यरूप क्रियाएँ हैं। इनके बदले राग की क्रिया से लाभ मानना, राग की क्रिया को कर्त्तव्य मानना तो राग के साथ एकत्वबुद्धिरूप अज्ञान है, मिथ्यादर्शन है तथा आत्मा का अनाचरण है।

प्रथम बोल में कहते हैं कि छह काय के जीवों को हनन करने की क्रिया को संसार मार्ग मानना एवं बचाने की - रक्षा करने की क्रिया को मोक्षमार्ग मानना राग के साथ एकत्व की क्रियारूप अध्यवसान है तथा आत्मा का अनाचरण है। उस अध्यवसान व अनाचरण को आत्मा का आचरण मानना मिथ्यादर्शन है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा का अनाचरण होने से राग के साथ एकत्व का अध्यवसान अचारित्र है - मिथ्याचारित्र है।

यहाँ पहले ज्ञप्तिक्रिया - ज्ञान की क्रिया कहकर पर्याय की बात कही है। आगे ज्ञायकद्रव्य व ज्ञानगुण की बात कहेंगे। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय - तीनों का कथन करेंगे।

वस्तु यानि द्रव्य त्रिकाली है, ध्रुव है तथा इसमें पर्याय का उत्पाद-व्ययरूप परिणमन होता है। पूर्व पर्याय का व्यय, उत्तर पर्याय का उत्पाद तथा द्रव्य का त्रिकाल टिका रहना - इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य - तीनों मिलकर सत् हैं, द्रव्य हैं। भाई! यह बात जितने सूक्ष्म रूप से दिगम्बर जैनधर्म में कही, वैसी यहाँ के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

अब दूसरे बोल में कहते हैं कि ये नर-नारकादि पर्यायें तो कर्मोदयजनित पर की अवस्थाएँ हैं। ये ज्ञेयरूप परद्रव्य हैं। अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह मनुष्यपना जो मुझे मिला, यह लाभकारी है; नारक आदि की पर्याय हानिकारक-दु:ख की कारण है। अज्ञानी की यह मान्यता मिथ्या अध्यवसाय

है, अज्ञान है। 'मैं नारकी हूँ, मनुष्य हूँ, तिर्यंच हूँ, देव हूँ' आदि अध्यवसान अज्ञानमय हैं।

'मैं जवान हूँ, वृद्ध हूँ, बालक हूँ, दुर्बल हूँ, पुष्ट हूँ' ऐसी जो मान्यताएँ हैं, वे सब कर्मोदयजनित भावों के साथ भगवान ज्ञायकस्वभावी आत्मा का एकपना करने के कारण अज्ञानमय हैं। भगवान आत्मा तो सच्चिदानंद प्रभु सदा एक ज्ञायकस्वरूप ही है। इसमें नर-नारकादि भाव हैं ही नहीं। तो भी अज्ञानी ऐसा मानता है कि 'मैं मनुष्य हूँ, तिर्यंच हूँ', इत्यादि। इसकारण वह इन कर्मोदयजनित भावों से आत्मा का भिन्नपना नहीं जानता। अतः उसके ये अध्यवसान अज्ञानमय हैं।

यह देह तो जड़-मिट्टी है, इसमें मनुष्यपना नहीं है; परन्तु अन्दर में मनुष्यगति नामकर्म के उदय के निमित्त से जीव की जो अवस्था विशेष है, वह मनुष्यपना है। वह उदयजनित परवस्तु है तथा आत्मा तो त्रिकाली एक ज्ञायकभावरूप है। ये दोनों वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं। अज्ञानी दोनों की भिन्नता न जानने के कारण 'मैं मनुष्यादि हूँ' - ऐसा जो अध्यवसान करता है, वह अध्यवसान भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से मिथ्याज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से मिथ्यादर्शन है तथा भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से अचारित्र है।

इसप्रकार जो जीव भगवान ज्ञायक का व मनुष्यादि गति के भावों का विशेष (अन्तर) नहीं जानता, वह अज्ञानी, अश्रद्धावान व अचारित्री है। इसप्रकार पहला बोल पर्याय का - ज्ञप्तिक्रिया का व दूसरा बोल द्रव्य का - ज्ञायकभाव का हुआ - इसतरह दो बोल हुए।

अब तीसरे ज्ञानगुण का बोल कहते हैं -

आत्मा की तो एक ज्ञप्ति-ज्ञानक्रिया ही है। इसमें श्रद्धा आदि अनन्त गुणों की क्रियाएँ मिल जातीं हैं। ज्ञान की प्रधानता से इसे ज्ञप्ति कहा है।

आत्मा में ज्ञानगुण है, जो कि आत्मा का स्वरूप है। ज्ञानगुण आत्मा का सत् अहेतुक स्वभाव है। इसका कोई अन्य कारण नहीं है। स्वरूप से ही आत्मा

ज्ञानमय है। इसप्रकार ज्ञान ही जिसका एकरूप है – ऐसे आत्मा और परज्ञेयरूप जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में भेद नहीं जानने के कारण अज्ञानी स्व व पर – दोनों को एक करता है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा व धर्मादि दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। पर अज्ञानी स्व व पर को एकपने जानता है, यही उसका अध्यवसान है।

अगली २७१वीं गाथा में आठ बोल किए हैं। इस पर से भी कुछ लोग कहते हैं कि 'अध्यवसान को बंध का कारण कहा है, पर परिणाम को नहीं।' परन्तु भाई! यहाँ तो अध्यवसान कहो, परिणाम कहो, चेतनामात्रपने से उसे ही चित्त कहो तथा बोधनमात्रपने से बुद्धि कहो – सब एकार्थ वाचक हैं।

जबतक जीवों को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता, तबतक जीव को जो अपने व पराये का एकपने रूप परिणाम वर्तते हैं, वे सब निषिद्ध हैं; क्योंकि वे बन्ध के कारण हैं। वे पर के साथ के एकत्वबुद्धि के सभी परिणाम अध्यवसाय हैं, अज्ञान हैं, अदर्शन हैं, अचारित्र हैं।

देखो, यहाँ इस गाथा में तो इतना अभिप्राय ही ग्रहण करना कि पर के लक्ष्य से पर के एकत्वरूप जो अध्यवसाय होते हैं, वे निषिद्ध हैं।

'पर को मैं मारता हूँ, बचाता हूँ, मैं मनुष्यादि हूँ तथा मैं धर्मादि द्रव्यों को जानता हूँ' – ये जो अध्यवसान हैं, वे सब निषिद्ध हैं।

अब आगे १७३वें कलश में कहेंगे कि मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रयरूप भाव हैं, उन सभी प्रकार के व्यवहार का भगवान ने निषेध किया है। तात्पर्य यह है कि स्वाश्रय ही निश्चय है तथा पराश्रितपना व्यवहार है। स्वाश्रय में 'स्व' का अर्थ अकेला शुद्ध द्रव्य ग्रहण करना, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का ग्रहण नहीं करना। 'स्व' अर्थात् अनंतगुणमय अभेद एक त्रिकाली आत्मद्रव्य; यही आश्रय करने योग्य है। इसी के आश्रय को 'स्वाश्रितो निश्चयः' कहा गया है। इसी एक शुद्धात्मा के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है तथा राग, निमित्त व भेद का आश्रय करना ही व्यवहार है। इसी को 'पराश्रितो व्यवहारः' कहा गया है। सद्भूत व्यवहार भी व्यवहार है।

गुण-पर्याय सद्भूत होते हुए भी उसे व्यवहार में गिनकर उसके आश्रय करने का निषेध किया है। भाई! जिसे धर्म करना है, उसे एक 'स्व' का आश्रय लिये बिना अन्य कोई उपाय नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान ही जिसका एकरूप है – ऐसा आत्मा तथा ज्ञेयरूप धर्मादि परद्रव्य अत्यन्त भिन्न हैं। इन परज्ञेयरूप जानने में आते हुए अनन्त परजीव, अनन्त निगोद के जीव, अनन्त सिद्ध, देव-गुरु आदि तथा शास्त्रों के अनन्त रजकण, धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों से निज ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा सर्वथा भिन्न है। भगवान ज्ञायक का ज्ञानगुण स्वज्ञेय है तथा विश्व के अनन्त अन्य द्रव्य परज्ञेय स्वरूप होने से इससे भिन्न हैं।

ऐसे स्व-पर ज्ञेयों की भिन्नता नहीं जानने के कारण अज्ञानी जो अध्यवसाय करता है, कि 'धर्मादि को जानता हूँ' उसका यह अध्यवसाय प्रथम तो भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से मिथ्यादर्शन है तथा भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से अचारित्र है।

कोई-कोई इसे एकान्त कहते हैं। हाँ, भाई! यह एकान्त अवश्य है; किन्तु यह सम्यक् एकान्त है। यदि सुखी होना हो और दुःख से मुक्त होना हो तो उपर्युक्त व्यवहार का आश्रय छोड़कर इस सम्यक्एकान्त का अर्थात् आत्मा के त्रिकाली स्वरूप का ही आश्रय लेना होगा। अहा·····! अन्दर में निर्मलानन्द का नाथ ज्ञानानन्द का सागर भगवान आत्मा सदैव ज्ञानस्वरूप ही रहा है। उसे प्राप्त किये बिना जगत में न कोई सुखी हुआ है, न हो सकता है।

ज्ञानगुण व ज्ञप्ति क्रिया वाले भगवान आत्मा को माने बिना सर्व संसारी जीव दुःखी हैं। इसलिए हे भगवान्! तू अपनी दृष्टि को ज्ञान-स्वरूप ज्ञायक भगवान आत्मा में जोड़ दे।

भगवान ज्ञायकभाव द्रव्य, ज्ञानगुण और अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायरूप ज्ञप्तिक्रिया – ये अपना 'स्व' एवं स्वयं ज्ञायक उनका स्वामी है। यह ज्ञान की प्रधानता से स्वज्ञेय की वात है। दृष्टि की प्रधानता में तो वह एक ज्ञायक आत्मा

ही आश्रय करने योग्य है। तथा जो एकमात्र ध्येय है – ऐसा त्रिकाली ध्रुव अभेद एक शुद्ध निश्चयस्वरूप भगवान ज्ञायक ही मुख्य है। जिसमें गुणभेद व पर्यायों का प्रवेश नहीं है – ऐसा भगवान ज्ञायक ही अपना आश्रय स्थान है।

यहाँ कहते हैं कि ये धर्मादि पदार्थ जानने योग्य – ज्ञेय पदार्थ हैं। इनसे यह जाननेवाला भगवान ज्ञायक भिन्न है। ये सब परज्ञेय जो जानने में आते हैं, यह तो ज्ञान की अपनी सामर्थ्य है। यह परज्ञेयों को जानने वाला ज्ञान कहीं पर में जाता नहीं है, पर रूप होता नहीं है। तथा परज्ञेय भी ज्ञानरूप नहीं होते। इसप्रकार ज्ञान परज्ञेयों से भिन्न ही है। ऐसा होते हुए भी ये परपदार्थ जानने में आने के लिए 'वे मेरे हैं अथवा इनसे मेरे ज्ञान की सत्ता है' – ऐसी जो मान्यता है, वह सब ज्ञेयों से भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से अज्ञान है, ज्ञेयों से भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से मिथ्यादर्शन है तथा सब ज्ञेयों से भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से अचारित्र है। ये अन्य जीव – स्त्री-पुत्र, परिवार, देव-गुरु आदि मेरे हैं – ऐसा जानने में आता है, वह अज्ञान है। भाई! मेरा तो स्व-पर को जाननेरूप स्वभाव वाला सहज एक ज्ञान है। वहाँ परज्ञेय अपने कहाँ से/कैसे हो गये ? स्व-पर को जानने के स्वभाव के कारण पर जानने में आये, ज्ञान में आये – ऐसा कहा जाता है। परन्तु वस्तुतः पर तो कुछ भी जानने में आये नहीं, किन्तु अपना स्व-पर को जानने वाला स्वभाव ही अन्दर जानने में आया है; अन्दर पसरा है। ऐसा होते हुए भी पर से जानपना आया अथवा पर जानने में आते हुए पर मेरा हो गया – ऐसा कोई माने तो वह उसका अज्ञान है; क्योंकि उसे अपने सहज एक ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अखण्ड एक ज्ञायकभाव रूप द्रव्य, ज्ञानस्वभाव उसका गुण तथा उसकी वर्तमान जानने-देखने की पर्याय ही ज्ञप्तिक्रियारूप पर्याय है। बस इतने में ही आत्मा का अस्तित्व है – सत्द्रव्य, सत्गुण व सत्पर्याय। इस पर्याय में पर, शरीर, मन, वाणी, राग आदि जानने में आते हैं – उन्हें अपना मानना अज्ञान है। स्व-पर को प्रकाशित करनेवाला-असीमस्वभाववाला भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यरत्न है। अपने ऐसे स्वरूप को

भूलकर जो परज्ञेय जानने में आते हैं, उन्हें अपना मानना अज्ञान है। ऐसी अज्ञानमयता से ये जीव अनादि से ही अंध बने चले आ रहे हैं।

अनेक बार जैन साधु हुआ, बाहर से दिगम्बर होकर रहा; तो भी 'मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, और मेरा क्या कर्त्तव्य है ?' – इसका भान हुए बिना इसने केवल राग की ही क्रिया की है। पर इससे क्या होता ? अन्दर की अपनी चिदानन्दरूप स्वरूपलक्ष्मी को जाने बिना, प्राप्त हुए बिना यह बेचारा रंक ही रहा है।

अब कहते हैं कि 'मैं मनुष्य हूँ, देव हूँ' – ऐसा जाने-माने तथा प्रवर्तन करे तथा 'दूसरों की दया करूँ, दूसरों को सुखी करदूँ' – इसप्रकार पर की क्रियाओं का स्वामी होकर प्रवर्ते – ये सब भगवान आत्मा को अज्ञान, अदर्शन व अनाचरण होने से बन्ध के निमित्त हैं। ज्ञान में धर्मादि परवस्तुएँ जानने में आयीं, वहाँ ऐसा माने कि 'ये वस्तुएँ मुझ में हैं' – तो उसकी यह मान्यता संसार में रखड़ानेवाली है। यहाँ तक अज्ञानी की अपेक्षा कथन किया।

अब ज्ञानी की अपेक्षा कथन करते हैं –

जैन साधु उन्हें कहते हैं, जिनके अध्यवसान नहीं होते। वे मुनि कुंजर ही उत्तम मुनिवर हैं; जिनकी धर्म की क्रिया सत्, अहेतुक, ज्ञानमात्र एवं पूर्ण रागरहित होती है तथा जिनकी जानने-देखने, श्रद्धा करने तथा अन्तर में ठहरने की क्रिया ही एक स्वाभाविक क्रिया है।

यह द्रव्यस्वभाव की बात है। मुनिराज का द्रव्य सत्रूप, अहेतुक, ज्ञायकभाव ही है। भगवान आत्मा प्रज्ञाब्रह्म प्रभु अकेला चैतन्यरस-ज्ञानरस का सत्व स्वयं एक ज्ञायकभाव स्वरूप है – ऐसा सन्तजन अनुभव करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि यह भी कोई उपदेश है? अरे दया पालने व दानादि करने का उपदेश करें तो कुछ समझ में भी आवे। यह आत्मा, द्रव्य, गुण, पर्याय आदि न जाने क्या-क्या लेकर बैठ जाते हैं। ये भी कोई प्रवचन हैं?

अरे भाई! 'मैं देहादि से भिन्न, अखण्ड, एक, ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा हूँ' – ऐसा अपने अंतरंग में जानना, मानना व अनुभव करना ही सच्चा यथार्थ

जीवन होने से सच्ची दया है। तथा आत्मा के प्रति ही स्वयं को अर्पण करना ही सच्चा दान है। इसके सिवाय अन्य की दया पालना व दूसरों को दान देना - यह तो राग है। व्यवहार की इन बाह्य क्रियाओं में धर्म मानना तो मिथ्यात्व है।

मुनिराजों को पंचमहाव्रत के पालन करने का जो भाव आता है तथा छहकाय के जीवों की रक्षा का जो विकल्प होता है - ये सब आत्मा की क्रियाएँ नहीं हैं। यह शरीर हिलता है, वाणी निकलती है व शास्त्र लिखने की क्रिया होती है - ये सब भी आत्मा की क्रियाएँ नहीं हैं। धर्मी को जो अन्तरंग में जानने-देखने रूप तथा वीतरागी आनन्दरूप जो निर्मल परिणति होती है, वही एकमात्र आत्मा की क्रिया है। कितनी स्पष्ट बात है कि ज्ञप्ति ही एकमात्र आत्मा की क्रिया है।

धर्मात्मा संत उन्हें ही कहते हैं कि जो ज्ञानमय वीतराग परिणति से ही परिणमें हों। जो रागमय परिणति से परिणमे अथवा राग व शरीर की क्रिया को अपने आत्मा की क्रिया मानते हों, वे धर्मी नहीं; बल्कि अधर्मी ही हैं।

भाई! दया, दान के विकल्प धर्मी की क्रियाएँ नहीं हैं। धर्मी के तो ज्ञायक ही एक भाव है तथा ज्ञप्ति ही एक क्रिया है। अहा! जिसका महाभाग्य हो, उसके कान में ही अध्यात्म की ऐसी सूक्ष्म बात पड़ती है।

देखो, 'सत्‌रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है' - ऐसा कहकर यहाँ गुण की बात कही है। इसके पूर्व 'ज्ञप्तिक्रिया-धर्म की क्रिया' की जो बात कही, वहाँ पर्याय की बात कही थी। पर्याय के बाद 'एक ज्ञायकभाव मात्र' कहकर द्रव्य की बात कही थी। यहाँ 'ज्ञानस्वभाव' कहकर गुण की बात कह रहे हैं।

धर्मात्मा के एक ज्ञायक ही अपना भाव है, एक ज्ञप्ति ही अपनी क्रिया है तथा एक ज्ञान ही अपना रूप है। ज्ञानी अपने ऐसे आत्मद्रव्य को जानता हुआ, श्रद्धान करता हुआ तथा अनुचरता हुआ स्वरूप में स्थिर होता है।

देखो, ज्ञान में अनन्त ज्ञेय जाने जाते हैं, पर वे ज्ञेय अपना स्वरूप नहीं हैं। हाँ, सर्व ज्ञेयों को जानने का आत्मा का स्वभाव है। वह ज्ञान ही इस आत्मा

का स्वरूप है। ज्ञानी के ज्ञान में शुभराग भी जानने में आता है, परन्तु वह शुभराग आत्मा का नहीं है।

पुण्य-पाप के भाव तो मलिन हैं, अस्वच्छ हैं। ये दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव मलिन हैं; जबकि भगवान आत्मा एक चैतन्यमूर्ति प्रभु अत्यन्त स्वच्छ है तथा उस आत्मा के आश्रय से उदित निर्मल रत्नत्रय का श्रद्धान-ज्ञान व रमणता का परिणाम भी स्वच्छ है। आत्मा की यह निर्मल वीतराग परिणति की दशा स्वाधीनतापने प्रगट हुई है। अहा! भगवान आत्मा में स्वच्छन्द विशेषण लगा, वह अनर्गलता का सूचक नहीं, बल्कि स्वाधीनता का सूचक है।

मुनिवरों के स्वच्छ व स्वच्छन्दपने से उदयमान अमन्द अन्तर्ज्योति द्वारा अज्ञानादिरूपता का अत्यन्त अभाव होने से वे शुभ या अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते।

देखो, भगवान आत्मा अन्तरंग में अति उग्ररूप से जगमगाहट करती चैतन्यज्योति स्वरूप है। उसमें अन्तःपुरुषार्थ करने से वह भिन्न चैतन्यज्योति अन्तर में प्रकाशित हो जाती है, प्रगट हो जाती है। अंतरंग में प्रकाशमान ऐसी चैतन्यज्योति जरा भी अज्ञानरूप, मिथ्यादर्शनरूप व अचारित्ररूप नहीं हुई होने से मुनिराज शुभ या अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते। अर्थात् उन्हें शुभाशुभ बंध नहीं होता।

गाथा २७० के भावार्थ पर प्रवचन*

कहने का तात्पर्य यह है कि ये अध्यवसान मुख्यतः तीन प्रकार के हैं -

(१) मैं पर को मारता हूँ - बचाता हूँ, पर को सुखी-दुःखी करता हूँ,

(२) मैं नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच हूँ एवं

(३) मैं धर्मादि परद्रव्यों को जानता हूँ।

अब यहाँ प्रश्न है कि ये कहाँ तक हो सकते हैं? यानि कब तक होते रहते हैं?

उत्तर में कहते हैं कि जबतक भेदज्ञान न हो, तबतक इनका अस्तित्व रहता है। यही कारण है कि भेदज्ञानी मुनिवरों के ये नहीं होते।

मैं पर को मारता हूँ, बचाता हूँ, सुखी-दुःखी करता हूँ आदि अध्यवसान मुनिवरों को नहीं होते; क्योंकि पर को कौन बचा सकता है, कौन मार सकता है, कौन सुखी-दुःखी कर सकता है? तथा परवस्तु मेरी है, ये गुरु मेरे हैं, ये शिष्य मेरे हैं, यह संघ मेरा है इत्यादि विपरीत अभिप्राय मुनिवरों के होते ही नहीं हैं।

उन्हें तो ऐसी प्रतीति है कि सारा जगत जिस ज्ञानस्वभाव में भिन्न रूप से भासित होता है, वह ज्ञान ही एकमात्र मेरा स्वरूप है। ऐसा निर्मल ज्ञान, श्रद्धान व आचरण जिनके प्रगट हो गया है, वे ही मुनि कुंजर हैं।

जब उन मुनिवरों के मिथ्या अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं तो वे कर्मों से लिप्त कैसे हो सकते हैं

•

किमेतदध्यवसानं नामेति चेत् –

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं ।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥ २७१ ॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानम् ।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥ २७१ ॥

स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानं; तदेव च बोधन-मात्रत्वादबुद्धिः, व्यवसानमात्रत्वाद्व्यवसायः, मननमात्रत्वान्मतिः, विज्ञप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानं, चेतनामात्रत्वाच्चित्तं, चितो भवनमात्रत्वाद्भावः, चितः परिणमनमात्रत्वात्परिणामः।

"यहाँ बारंबार अध्यवसान शब्द कहा गया है, यह अध्यवसान क्या है ? उसका स्वरूप भलीभाँति समझ में नहीं आया।" ऐसा प्रश्न होने पर अध्यवसान का स्वरूप गाथा द्वारा कहते हैं –

व्यवसाय बुद्धी मती अध्यवसान अर विज्ञान भी ।
एकार्थवाचक हैं सभी ये भाव चित परिणाम भी ॥ २७१ ॥

गाथार्थ – [बुद्धिः] बुद्धि, [व्यवसायः अपि च] व्यवसाय, [अध्यवसानं] अध्यवसान, [मतिः च] मति, [विज्ञानम्] विज्ञान, [चित्तं] चित्त, [भावः] भाव [च] और [परिणामः] परिणाम – [सर्वं] ये सब [एकार्थम् एव] एकार्थ ही हैं (अर्थात् नाम अलग-अलग हैं किन्तु अर्थ भिन्न नहीं हैं)।

टीका – स्व-पर का अविवेक ही (स्व-पर का भेदज्ञान न होना ही) जीव की अध्यवसितिमात्र* अध्यवसान है; और वही (जिसे अध्यवसान कहा है वही) बोधन-मात्रत्व से बुद्धि है, ×व्यवसानमात्रत्व से व्यवसाय है,

---

* अध्यवसिति = (एक में दूसरे की मान्यतापूर्वक) परिणति; (मिथ्या) निश्चिति; (मिथ्या) निश्चय होना।

× व्यवसान = काम में लगे रहना; उद्यमी होना; निश्चन होना।

+मननमात्रत्व से मति है, विज्ञप्तिमात्रत्व से विज्ञान है, चेतनामात्रत्व से चित्त है, चेतन के भवनमात्रत्व से भाव है, चेतन के परिणमनमात्रत्व से परिणाम है। (इसप्रकार ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।)

भावार्थ – यह जो बुद्धि आदि आठ नाम कहे गये हैं वे सब चेतन आत्मा के परिणाम हैं। जबतक स्वपर भेदज्ञान न हो तबतक जीव के जो अपने और पर के एकत्व की निश्चयरूप परिणति पाई जाती है उसे बुद्धि आदि आठ नामों से कहा जाता है।

गाथा २७१ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

इस गाथा में अध्यवसान शब्द के पर्यायवाची नामों के द्वारा अध्यवसानों का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं।

देखो, अनन्त गुणों का पिण्ड चैतन्य चिन्तामणि एक ज्ञायकभाव मात्र वस्तु मैं हूँ – ऐसा अनुभव करने के बदले मैं पर को मारता हूँ, बचाता हूँ, सुखी-दुःखी करता हूँ आदि माने; तथा मैं नारकी हूँ, मनुष्य हूँ आदि माने; तथा धर्मादिद्रव्य जो ज्ञान में सहज परद्रव्यपने जाने जाते हैं, उनमें एकत्वबुद्धिपूर्वक कोई ऐसा माने कि मैं धर्मादि को जानता हूँ, तो यह उसका अविवेक है। जब ऐसा अविवेक होता है तब स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता। ऐसी स्थिति में जीव की पर में अपनेपन की कर्तृत्वबुद्धि की जो मान्यता है, वह अध्यवसान है। ऐसा अध्यवसान मिथ्यात्वरूप है। जिसे यहाँ आठ नामों से दर्शाया गया है।

उसी अध्यवसान को बोधनमात्रपने से बुद्धि कहा जाता है, व्यवसानमात्रपने से व्यवसाय कहा जाता है। मननमात्रपने से मति तथा विज्ञप्तिमात्रपने से विज्ञान भी कहा जाता है।

इसीप्रकार चेतनमात्रपने से चित्त, चेतन के भवनमात्रपने से भाव तथा चेतन के परिणमनमात्रपने से परिणाम भी कहा गया है।

+ मनन = मानना; जानना।

सारा दिन धंधा-व्यापार में लगा रहना, स्त्री-पुत्र, परिवार, समाज एवं राज-काज के कामों में लगे रहना, उन्हें ही अपना कर्त्तव्य मानना, व्यवसाय नामक अध्यवसान है। आचार्य कहते हैं कि बापू ! तेरा यह सम्पूर्ण व्यवसाय विपरीत है, मिथ्या है। तू किसी का कुछ भी तो नहीं कर सकता !

मननमात्रपने से इसीप्रकार के मिथ्या बौद्धिक व्यायाम को मति नामक अध्यवसान कहते हैं। इसमें पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा न जानकर अन्यथा जानना-मानना होता है। मतिज्ञान से यह मति - अध्यवसान भिन्न है।

विज्ञप्तिमात्रपने से उस मिथ्या अध्यवसान को विज्ञान भी कहते हैं। देखो, यह विज्ञान वीतराग-विज्ञान नहीं है; विशिष्ट तत्त्वज्ञान संबंधी विज्ञान की भी बात नहीं है। यहाँ तो तत्त्वज्ञान से विरुद्ध - मैं पर का भला-बुरा करता हूँ, कर सकता हूँ आदि मिथ्याज्ञान वाले विज्ञान की बात है, जिसे अध्यवसान कहा गया है।

चेतना परिणाम को चित्त भी कहते हैं, भाव भी कहते हैं और परिणाम भी कहते हैं; परन्तु यहाँ निर्मल परिणाम की बात नहीं है। यहाँ तो पर मेरी व मैं पर की क्रिया करता हूँ - ऐसे मिथ्या परिणाम की बात है।

जहाँ तक पर में एकत्वबुद्धि रहती है, वे सब परिणाम अज्ञानमय अध्यवसान हैं; भले ही उनके नाम कहने-सुनने व देखने में कितने ही अच्छे व आकर्षक क्यों न हों ? चाहे वे बचाने के, रक्षा करने, पालन-पोषण करने के परिणाम हों, चाहे दया-दानादि के परिणाम हों; पर में एकत्व व कर्तृत्व के मिथ्या अभिप्राय सहित होने से इन्हें अध्यवसान ही कहा जाता है।

भावार्थ यह है कि यहाँ जो बुद्धि, विज्ञान आदि आठ नामों से अध्यवसान कहे गए हैं, वे सब चेतन आत्मा के ही परिणाम हैं। जहाँ तक स्व-पर भेदज्ञान नहीं होता, वहाँ तक जीव को जो अपने व पर के एकपने की निश्चयरूप परिणति वर्तती है; उन्हें ही यहाँ आठ नामों से कहा गया है।

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यक् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम् ॥ १७३ ॥

'अध्यवसान त्यागने योग्य कहे हैं इससे ऐसा ज्ञात होता है कि व्यवहार का त्याग और निश्चय का ग्रहण कराया है' – इस अर्थ का एवं आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं :-

श्लोकार्थ – आचार्यदेव कहते हैं कि [**सर्वत्र यद् अध्यवसानम्**] सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं [**अखिलं**] वे सब (अध्यवसान) [**जिनैः**] जिनेन्द्र भगवान ने [**एवम्**] पूर्वोक्त रीति से [**त्याज्यं उक्तं**] त्यागने योग्य कहे हैं [**तत्**] इसलिये [**मन्ये**] हम यह मानते हैं कि [**अन्य-आश्रयः व्यवहारः एव निखिलः अपि त्याजितः**] 'पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है।' [**तत्**] तब फिर, [**अमी सन्तः**] यह सत्पुरुष [**एकम् सम्यक् निश्चयम् एव निष्कम्पम् आक्रम्य**] एक सम्यक् निश्चय को ही निश्चलतया अंगीकार करके [**शुद्धज्ञानघने निजे महिम्नि**] शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में (आत्मस्वरूप में) [**धृतिम् किं न बध्नन्ति**] स्थिरता क्यों धारण नहीं करते ?

भावार्थ – जिनेन्द्रदेव ने अन्य पदार्थों में आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाये हैं। इससे यह समझना चाहिए कि यह समस्त पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है। इसलिये आचार्यदेव ने शुद्धनिश्चय के ग्रहण का ऐसा उपदेश दिया है कि – "शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में स्थिरता रखो।" और, "जबकि भगवान ने अध्यवसान छुड़ाये हैं तब फिर सत्पुरुष निश्चय को निश्चलतापूर्वक अंगीकार करके स्वरूप में स्थिर क्यों नहीं होते?" ऐसा कहकर आचार्यदेव ने आश्चर्य प्रगट किया है ॥ १७३ ॥

कलश १७३ पर प्रवचन

देखो, इस कलश द्वारा आगामी गाथाओं की पृष्ठभूमि तैयार की गई है। कहते हैं कि अपने आत्मा के सिवाय विश्व की अनन्त परवस्तुओं में जो एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसान होता है, वह सब सर्वज्ञदेव ने त्यागने योग्य कहा है।

परवस्तु में चाहे वह शरीरादि रूप हो, स्त्री-पुत्र-परिवार आदि हो, देव-गुरु-शास्त्र हो; 'ये सब मेरे हैं और मैं इनका हूँ' - ऐसे एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसान को जिनेश्वरदेव ने छोड़ने योग्य कहा है।

एक ओर स्वयं शुद्ध ज्ञायकभाव मात्र वस्तु 'स्व' और दूसरी ओर विश्व की समस्त वस्तुयें 'पर' हैं। जगत की ये सर्व वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं। उनमें एकत्वबुद्धि का जो अध्यवसान है, वह सब छोड़ने योग्य है।

यह देह-मन-वाणी आदि जड़ हैं, माटी-धूल हैं तथा स्त्री-पुत्र-परिवार, देव-गुरु चेतन परजीव हैं, तथा धर्मास्तिकाय आदि अचेतन परद्रव्य हैं। इनमें अपनेपन का अध्यवसान मिथ्यात्व है; क्योंकि अपनापन तो 'अपनों' में ही होना चाहिए, न कि 'पर' में। वस्तुतः 'पर' में अपनापन तो कभी हो ही नहीं सकता। 'पर' में अपनेपने का तो मात्र भ्रम होता है, जो कि अध्यवसानरूप है।

अहा! सर्वज्ञ परमात्मा ने इन्द्रों, मुनिवरों व गणधरों की उपस्थिति में समोशरण में ऐसा समझाया था कि अपने आत्मा के सिवाय जितने भी पदार्थ हैं, जिनमें अरहंत भगवान स्वयं शामिल हैं - उन समस्त पदार्थों में अपनेपन का अध्यवसान करना तथा ऐसा मानना कि 'ये सब मेरे हैं व इनसे मुझे लाभ या हानि होती है, मैं इनका या ये मेरा भला-बुरा कर सकते हैं' - ये मिथ्या अध्यवसान चारगति में रखड़ने के बीजरूप हैं, अतः छोड़ने योग्य हैं।

अब कहते हैं कि इसकारण हमें ऐसा मानना चाहिए कि पर जिसका आश्रय है - ऐसा सब ही व्यवहार छोड़ने योग्य है।

प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द सहित स्वरूप में केलि करनेवाले आचार्यदेव ऐसा कहते हैं जब भगवान ने परवस्तुओं में एकत्वबुद्धि के सभी अध्यवसान छुड़ाये हैं तो इसका अर्थ यह है कि पर जिसका आश्रय है - ऐसा सब ही व्यवहार छुड़ाया है।

देखो, यद्यपि यहाँ आश्रय शब्द डाला है, परन्तु इसका अर्थ बहुत व्यापक है। पर का, व्यवहार का आश्रय कहो, सम्बन्ध कहो, आलम्बन कहो – सब एकार्थक ही हैं।

यहाँ दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा का विकल्प – यह सब पराश्रित व्यवहार है; क्योंकि इन परिणामों में पर के आश्रय का सम्बन्ध है, स्व का सम्बन्ध नहीं है।

मुनिवर शुद्ध एक ज्ञायकतत्त्व के आराधक केवली के उत्तराधिकारी हैं। जिन्हें अंतरंग में तीन कषाय के अभाववाली वीतरागी शान्ति प्रगट हुई है, तथा जिन्हें अतीन्द्रिय प्रचुर आनन्द का वेदन वर्तता है – ऐसे धर्म के स्तम्भ मुनिवर कहते हैं कि 'हम ऐसा मानते हैं कि जब भगवान ने पर की एकत्वबुद्धि छुड़ाई है तो सभी पराश्रित व्यवहार छुड़ाया है।'

देखो, पहले 'अखिल' शब्द आया है, जो कि सभी अध्यवसानों के त्याग का दिग्दर्शक है तथा यहाँ 'निखिल' शब्द आया है। इसका अर्थ है पर जिनका आश्रय है – ऐसा सभी व्यवहार छुड़ाया है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के सभी परिणाम भी पराश्रित हैं, अतः यह बात बहुत गंभीरता से विचारणीय है।

भले ही लोक में बाह्य अनुकूलता वालों को लोग सुखी कहें, पर वस्तुतः संसार में कोई सुखी नहीं है। अबतक सच्चे मोक्षमार्ग के भान के बिना ८४ लाख योनियों में भटका है और यदि यह मंगल अवसर भी चूक गया तो अनन्तकाल तक नरक-निगोद में पड़े-पड़े तड़फना पड़ेगा।

थोड़ी-सी शरीर की अनुकूलता, धनादि का संयोग तथा सुन्दर वर, सुयोग्य स्त्री-पुत्र-परिवार का मिलाप – ये कोई सुख नहीं हैं। एक तो वर्तमान में ही इनके प्रति एकत्व-ममत्व एवं रागादि का होना दुःखद ही है, दूसरे क्षणिक होने से निरन्तर वियोग की आशंका अनन्त दुःखदायी बनी ही रहती है।

त्रिलोकीनाथ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि पर में अपनेपन की एकत्वबुद्धि का अध्यवसान मिथ्यात्व है तथा वह सब ही छोड़ने योग्य है। बापू ! ये देव मेरे, ये गुरु मेरे – ऐसा अध्यवसाय भी सर्वज्ञदेव ने छोड़ने योग्य कहा है।

बारह अंग का सार इस कलश में भर दिया है। आचार्यदेव की गजब शैली है। इस कलश में तो मुक्ति का मार्ग खुल्लमखुल्ला जाहिर कर दिया है। वे कहते हैं कि परपदार्थ की एकत्वबुद्धि जिस तरह भगवान ने छुड़ाई है, उसीतरह पर के आश्रय से होनेवाले सभी व्यवहारभावों को भी छुड़ाया है। जिसप्रकार पर में एकत्वबुद्धि छोड़ने योग्य ही है, उसीप्रकार व्रत, तप, शील, संयम के बाह्य परिणाम, २८ मूलगुणों के विकल्प तथा पंचमहाव्रत आदि के परिणाम – सभी पराश्रित होने से छोड़ने योग्य ही हैं, भूमिकानुसार छूटते ही हैं।

कुछ लोगों को यह बात अटपटी लगती है। उनका कहना है कि दया, दान, व्रत, संयम, तप, भक्ति-पूजा आदि रूप श्रावकों का सदाचार तथा महाव्रतादि मुनियों के मूलगुण, जिनको पालन करने का उपदेश जिनवाणी में भी है, क्या वह सब व्यवहार खोटा है? श्रावक व मुनि के आचरण बिना तो जैनधर्म ही कुछ नहीं बचता ? इस व्यवहार को हेय या छोड़ने योग्य कहने से तो जैनधर्म का ही उच्छेद हो जायेगा न !

अरे भाई! जैनधर्म तो एक वीतरागभाव-स्वरूप ही है, शुद्ध चैतन्य के परिणामस्वरूप है। व्रतादि का राग जैनधर्म नहीं है। धर्मीजीवों को भूमिकानुसार व्रतादि का शुभ राग होता अवश्य है, परन्तु वह कोई धर्म का स्वरूप नहीं है। धर्म का मूल तो सम्यग्दर्शन है। बिना सम्यग्दर्शन के जो व्रताचरण है, उसे वस्तुतः व्यवहार धर्म भी नहीं कहा जा सकता। मिथ्यादृष्टि को व्यवहारधर्म भी है ही कहाँ ? यहाँ तो सम्यग्दृष्टि को जो बाह्य व्रतादि का व्यवहार है, वह सब भी त्यागने योग्य है – ऐसा आचार्यदेव कह रहे हैं।

शास्त्रों में जो व्रतादि रूप बाह्य आचरण का विधान है, सो वह तो व्यवहारनय दर्शाया है। धर्मीजीवों के निर्मल रत्नत्रय रूप धर्म की वीतराग परिणति के साथ बाह्य में कैसा शुभाचरणरूप व्यवहार होता है, उसका ज्ञान कराने का वहाँ (शास्त्रों में) प्रयोजन है। इसी समयसार की १२वीं गाथा में भी आया है कि धर्मी को पर्याय में जो किंचित् राग है, वह उस-उस काल

में जाना हुआ प्रयोजनवान है, उपादेय व आदरणीय नहीं। वस्तुतः धर्मी जीव सभी प्रकार के राग को हेय ही मानते हैं।

देखो, "स्वाश्रितो निश्चयः, पराश्रितो व्यवहारः" अर्थात् जितना 'पर' का आश्रय है, वह सब व्यवहार है। इस परिभाषा के अनुसार दया, दान, व्रत, भक्ति-पूजा आदि सभी भावों में 'पर' का आश्रय है, इसकारण वह सब व्यवहार है। आचार्य कहते हैं कि पर जिसका आश्रय है, ऐसा सम्पूर्ण व्यवहार ही छोड़ने योग्य है। एक स्वाश्रय ही प्रशंसा योग्य है।

भाई! मिथ्यादृष्टि के जो पर में एकत्वबुद्धि के परिणाम होते हैं, उन्हें मुख्य करके बन्ध का कथन तो अपनी जगह है ही, पर एकत्वबुद्धि रहित जो सम्यग्दृष्टि के दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम होते हैं, वे भी बन्ध के ही कारण हैं। परन्तु अल्प बन्ध के कारण होने से (दीर्घसंसार के कारण नहीं होने से) उन्हें गौण करके बन्ध में नहीं गिना, यह दूसरी बात है। परन्तु इस कारण से यदि कोई ऐसा माने कि पर में एकत्वबुद्धि रहित होने पर शुभ राग का परिणाम बंध का कारण ही नहीं है, बल्कि मोक्ष का कारण है; तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है।

बापू! वीतराग का मार्ग – मोक्ष का मार्ग तो एकमात्र वीतरागभावस्वरूप ही है। वह पूर्ण स्वाश्रित है। उसमें पराश्रित राग का एक अंश भी नहीं समा सकता। जिसतरह आँख में रजकण नहीं समा सकता, उसीप्रकार वीतरागमार्ग में राग का कण भी नहीं समा सकता। अहा! मार्ग तो एक शुद्ध चैतन्यभावमय, वीतरागमय ही है। जिसतरह भगवान आत्मा एक चैतन्यभाव का, अतीन्द्रिय आनंद का व शान्ति का पिण्ड है, उसीप्रकार उसके आश्रय से प्रगट हुआ मार्ग भी वैसा ही अतीन्द्रिय आनन्दमय है, वीतरागी शान्तिमय है। भाई! वीतरागता का मार्ग राग नहीं हो सकता।

देखो, यह बात चलते प्रवाह से जुदी है न ? बस इसी कारण लोगों को अटपटी लगती है तथा रुचती नहीं है।

अन्दर में अपना परम चैतन्य निधान पड़ा है, जिसमें जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, स्वच्छत्व, प्रकाश आदि अनन्त शक्तियाँ

परमपारिणामिक भावरूप से स्थित हैं। परमपारिणामिक भाव का अर्थ है कि वह आत्मा सहज है, किसी कर्म के सद्भाव या अभाव की अपेक्षा से रहित है।

वस्तु की शक्तियाँ सहज भाव से हैं, उन्हें होने में किसी की अपेक्षा नहीं है। देखो, पर्याय के विकार में कर्म का उदय निमित्त है अर्थात् विकारी पर्याय के उत्पन्न होने में कर्म का उदय निमित्त है तथा निर्विकारी पर्याय की उत्पत्ति में कर्म का अभाव निमित्त है; परन्तु आत्मा एवं आत्मशक्तियाँ किसी भी पर की अपेक्षा के बिना परमपारिणामिक भाव से स्थिर हैं। आत्मा अपने आप में महान वस्तु है, पर उस आत्मा की सच्ची पहचान बिना एवं उसकी निर्पेक्ष शक्तियों की स्वावलम्बी सामर्थ्य के ज्ञान बिना अज्ञानी जीव बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझ-उलझ कर अनादि से अनन्त दुःख भोग रहे हैं। उनसे कहते हैं कि भाई! व्यवहार की रुचि छोड़कर अब तुम अपने चैतन्यनिधान का आश्रय करो! सुखी होने का यही एकमात्र सच्चा उपाय है।

जब वस्तु की इतनी सहज, स्वाधीन, सम्यक् व सुन्दर व्यवस्था है तो सत्पुरुष एक निश्चय में स्थिर क्यों नहीं हो जाते ? सत्पुरुष तो कहते ही उन्हें हैं, जिन्होंने पराश्रय की बुद्धि त्याग कर त्रिकाली सत् आत्मप्रभु को अन्तर में स्वीकार किया है। ऐसे संत पुरुष ही सत्पुरुष हैं। भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु है। उसके आश्रय से जो सुख में प्रवर्तते हैं, वे संत महात्मा या सत्पुरुष हैं। जगत में ऐसे संतजन ही मात्र सुखी हैं।

भाई! यह जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कही हुई बात है। यहाँ कहते हैं कि "एक सम्यक् निश्चय को ही अर्थात् जिसमें रागादि भी नहीं है – ऐसे सत्य निश्चयस्वरूप त्रिकाली ध्रुव परमात्मद्रव्य को ही निष्कम्पपने अंगीकार करके उसी में ठहर!"

अरे भाई! तू बार-बार व्यवहार की बातें करता है, परन्तु भगवान द्वारा कहा हुआ व्यवहार-व्रत, समिति, गुप्ति आदि पराश्रित भाव तो अभव्य भी कर लेता है, पर उसे कभी भी आत्मलाभ नहीं होता। वास्तव में तो जिसे एक सम्यक् निश्चय शुद्धात्मद्रव्य का अन्तर में अनुभव हुआ है, उस समकिती को जो

व्रतादि के विकल्प हेयबुद्धि से होते हैं, उन्हें व्यवहार कहते हैं। उस व्यवहार को छोड़ने की बात यहाँ कह रहे हैं। जिसे अंतरंग में निश्चय का अनुभव नहीं हुआ है, उसके तो व्यवहार है ही कहाँ ?

समयसार नाटक में कविवर बनारसीदास ने इस कलश का पद्यानुवाद इसप्रकार किया है –

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं ।
जिन्हकौं मिथ्यात गयौ सम्यक् दरस भयौ,
ते नियत-लीन विवहारसौं मुकत हैं ॥
निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथकौं ढुकत हैं ।
तेई जीव परम दसा मैं थिररूप ह्वैके,
धरम मैं धुके न करम सौं रुकत हैं ॥

असंख्यात लोकप्रमाण जितने व्यवहारभाव हैं, उतने ही मिथ्यात्वभाव हैं; क्योंकि उन सब में अज्ञानी की अनादि से एकत्वबुद्धि है तथा उन सब व्यवहार भावों से अज्ञानी अपना लाभ मानता है। – ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

जिसके ऐसा मिथ्यात्वभाव नष्ट हो गया है और सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, वह व्यवहार से मुक्त हो जाता है। फिर उसे व्यवहार में रुचि नहीं रहती।

समकिती जीव व्यवहार को छोड़कर एक निश्चय के विषयभूत निर्विकल्प, निरुपाधि, निष्कम्प आत्मस्वरूप को अंगीकार करके समाधि साध कर, स्थिर होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग में लग जाते हैं। क्रमश: शुद्धोपयोग में – परमध्यान की दशा में स्थिर होकर निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं।

कलश १७३ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ विशेषरूप से सर्वज्ञ भगवान ने पर में आत्मबुद्धिरूप समस्त अध्यवसान छोड़ने का उपदेश दिया है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य भगवान ने सम्पूर्ण पराश्रित व्यवहार छुड़ाया है। पराश्रित व्यवहार में दया, दान, व्रत, तप,

भक्ति आदि व्यवहार के सभी विकल्प सम्मिलित हैं, वे सब छोड़ने को कहा है; क्योंकि इनमें आत्मा नहीं है। अरे भाई! व्यवहाररत्नत्रय के सभी परिणाम पराश्रित भाव हैं और पराश्रित होने से दु:खरूप हैं। अत: इन्हें छोड़कर स्व का आश्रय करो। – ऐसा स्पष्ट उपदेश जिनवाणी में आया है।

अहा! राग पराश्रितभाव है चाहे वह एकत्वबुद्धि का राग हो या अस्थिरताजनित राग हो। सभी परभाव छोड़ने योग्य हैं। उनमें अपनापन या आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्वभाव है। अत: शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मप्रभु का ही आश्रय एवं उसी में स्थिरता करके शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ग्रहण करो। – ऐसा उपदेश आचार्यदेव ने दिया है।

जो ऐसा कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय की प्राप्ति हो जायगी; उन्हें इस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए। यहाँ स्पष्ट कहा है कि व्यवहार के विकल्पों से निश्चयरूप निर्विकल्प स्थिति नहीं हो सकती; व्यवहार की रुचि तो संसार का ही कारण बनती है, बंध का ही कारण बनती है।

भाई! 'पर' की ओर के लक्ष्य से 'स्व' का लक्ष्य – आश्रय नहीं हो सकता। पर का लक्ष्य छूटने पर ही 'स्व' का लक्ष्य होना संभव है। इसीकारण सम्पूर्ण पराश्रित व्यवहार को छुड़ाया है और स्वाश्रित निश्चयस्वरूप आत्मा का आश्रय करने का उपदेश दिया है।

आचार्य करुणापूर्वक कहते हैं कि जब एकमात्र 'स्व' का आश्रय ही सुखी होने का उपाय है तो भी यह जीव उस ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा का ही आश्रय क्यों नहीं करते ? आचार्य ऐसा आश्चर्य व खेद भी प्रगट करते हैं।

वैसे तो वे यह भी जानते हैं कि अज्ञानी अपने अज्ञानभाव के कारण व्यवहार में रुचि होने से और ज्ञानी भी अपनी अंतरंग अस्थिरताजनित कमजोरी के कारण स्थिर नहीं हो पाते। अत: उनका खेद व आश्चर्य भी केवल करुणा व प्रेरणा का ही प्रतीक है।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ श्रद्धा, ज्ञान व वीतरागता के स्वभाव से भरा ज्ञानानन्द स्वरूपी है। वह एक-एक गुण की प्रभुता के स्वभाव से पूर्ण भरा हुआ है।

उपदेश तो देखो! एक ओर चिदानन्दघन प्रभु आत्मा एवं दूसरी ओर अनन्त विकारी परिणाम। देव-गुरु-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा आदि के परिणाम।

आगे की २७६ और २७७ गाथा में आनेवाला है कि शास्त्रज्ञान का आश्रय शब्दश्रुत है, आत्मा नहीं; इसलिए शब्दश्रुत का ज्ञान आत्मा नहीं है। इसीप्रकार नवतत्त्व की श्रद्धा का आश्रय जीवादि नौ तत्त्व हैं, आत्मा नहीं। इसकारण वह आत्मा का श्रद्धान नहीं है। वहाँ इस स्तर पर भी व्यवहार का निषेध किया है। इसीप्रकार छहकाय के जीवों की रक्षा के भाव का आश्रय छहकाय के जीव हैं, आत्मा नहीं; इसकारण वह व्यवहारचारित्र आत्मा का चारित्र नहीं है। इस स्तर पर व्यवहारचारित्र का निषेध किया गया है। इसप्रकार इस कलश में तीनों प्रकार के व्यवहाररत्नत्रय के परिणामों को छुड़ाया है।

तू सच्चिदानन्दस्वरूप आनन्द का नाथ आत्मा है। तुझमें केवलज्ञान व आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है। तू तो उसमें ही एकत्व करके पर में से एकत्वबुद्धि छोड़ दे। तथा पर के आश्रय से होनेवाले दया-दानादि भावों में से भी अपनापन छोड़ दे; क्योंकि ये सब पर के आश्रय से होनेवाले दुःखरूप भाव हैं।

आचार्य कहते हैं कि प्रभु! तू पर घर में क्यों भटकता है? निर्मलानन्द का नाथ चिदानन्दघन तेरा स्वघर है। इसे छोड़कर तू परवस्तुओं में क्यों अटकता है? अरे भाई! परघर में भटकने से एवं पर में अटकने से तो एकमात्र दुःख ही दुःख है।

अहो! त्रिलोकीनाथ देवाधिदेव सर्वज्ञदेव की वाणी में ऐसा आया है कि परवस्तु की एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है, असत्य है; इसी से वह दुःखरूप है। तथा स्व के आश्रयरूप स्वरूप में एकता सद्बुद्धि है और स्व-पर की एकत्वबुद्धि असद्बुद्धि है, मिथ्याबुद्धि है।

चिदानन्दघन प्रभु स्वयं सत् है, इस अपेक्षा सब परवस्तुएँ असत् हैं। इन असत् के साथ अपने सत् को मिलाने की बुद्धि – एकमेक करने की बुद्धि असत्

बुद्धि है, मिथ्याबुद्धि है। वह मिथ्या होने से दुःखदायक व दुःखरूप है। बस इसीकारण उसे त्याज्य – छोड़ने योग्य कहा गया है। उसे दुःखरूप व छोड़ने के योग्य जानकर छोड़ना चाहिए; परन्तु तू उसी में क्यों अटका है ? उसे छोड़कर अपने आश्रय में क्यों नहीं आ जाता ?

अहा! संतों की करुणा तो देखो! कहते हैं कि भाई ! तू अपने ऊपर दया क्यों नहीं करता ? पर के आश्रय से – दया-दानादि के भावों से तो तेरे स्वभाव का घात होता है; क्योंकि उसमें तेरे स्वभाव का अनादर होता है।

समयसार गाथा २७२

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ २७२॥
एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन ।
निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम् ॥ २७२॥

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एवं चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारनयस्यैकांतेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च।

अव इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं –

इसतरह ही परमार्थ से कर नास्ति इस व्यवहार की ।
निश्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ती करें निर्वाण की ॥ २७२॥

गाथार्थ – [एवं] इसप्रकार [व्यवहारनयः] (पराश्रित) व्यवहारनय [निश्चयनयेन] निश्चयनय के द्वारा [प्रतिषिद्धः जानीहि] निषिद्ध जान; [पुनः निश्चयनयाश्रिताः] निश्चयनय के आश्रित [मुनयः] मुनि [निर्वाणम्] निर्वाण को [प्राप्नुवंति] प्राप्त होते हैं।

टीका – आत्माश्रित (अर्थात् स्व-आश्रित) निश्चयनय है, पराश्रित (अर्थात् पर के आश्रित) व्यवहारनय है। वहाँ, पूर्वोक्त प्रकार से पराश्रित समस्त अध्यवसान (अर्थात् अपने और पर के एकत्व की मान्यतापूर्वक परिणमन) बंध का कारण होने से मुमुक्षुओं को उसका (–अध्यवसान का) निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनय के द्वारा वास्तव में व्यवहारनय का ही निषेध कराया है, क्योंकि व्यवहारनय के भी पराश्रितता समान ही है (जैसे अध्यवसान पराश्रित है उसीप्रकार व्यवहारनय भी पराश्रित है, उसमें अन्तर नहीं है)। और इसप्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनय का करनेवाले ही (कर्मों से) मुक्त होते हैं और पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकांततः मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य भी करता है।

भावार्थ – आत्मा के परके निमित्त से जो अनेक भाव होते हैं वे सब व्यवहारनय के विषय हैं इसलिये व्यवहारनय पराश्रित है, और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है वही निश्चयनय का विषय है इसलिये निश्चयनय आत्माश्रित है। अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है इसलिये अध्यवसान का त्याग व्यवहारनय का ही त्याग है, और जो पूर्वोक्त गाथाओं में अध्यवसान के त्याग का उपदेश है वह व्यवहारनय के ही त्याग का उपदेश है। इसप्रकार निश्चयनय को प्रधान करके व्यवहारनय के त्याग का उपदेश किया है उसका कारण यह है कि – जो निश्चयनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं वे ही कर्मों से मुक्त होते हैं और जो एकान्त से व्यवहारनय के ही आश्रय से प्रवर्तते हैं वे कर्मों से कभी मुक्त नहीं होते।

गाथा २७२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यहाँ स्वाश्रित में 'स्व' का अर्थ त्रिकाली द्रव्यस्वभाव किया गया है। इसप्रकार स्वाश्रित का अर्थ हुआ त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकभाव के आश्रित। यहाँ 'स्व' में द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे तीन भेद नहीं लेना है।

वैसे देखा जाय तो द्रव्य-गुण-पर्याय रूप तीनों के अस्तित्व को 'स्व' का अस्तित्व कहा जाता है, परन्तु यहाँ 'स्व' में तीन को ग्रहण नहीं किया गया है। यहाँ तो 'मुख्य निश्चय और गौण व्यवहार' के सिद्धान्तानुसार एकरूप वस्तु को मुख्य करके तथा एक समय की अवस्था को गौण करके पर्यायभेद का भी निषेध किया है। यहाँ अभेद एक शुद्धनिश्चयनय की विषयभूत वस्तु का लक्ष्य कराने के लिए त्रिकाली एक ज्ञायक स्वभावभाव को 'स्व' कहा है।

जिस अभेद एक ध्रुव वस्तु में कर्म नहीं हैं, पुण्य-पाप के भाव नहीं हैं, एक समय की पर्याय व पर्यायभेद नहीं है तथा गुणभेद भी नहीं है – ऐसा अखण्ड अभेद एकरूप स्वभाव-ज्ञायकभाव निश्चयनय का विषय है। ऐसे 'स्व' का आश्रय करनेवालों को ही समकित होता है।

निर्मलानंद का नाथ त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकभावमय वस्तु आत्मा ही भूतार्थ है, सत्यार्थ है तथा इसी के आश्रय से जीव समकिती होता है। अहा!

अन्दर तीन लोक का नाथ एक ज्ञायकस्वभावी जो सत्यार्थ प्रभु विराजता है, उसे मुख्य करके निश्चय कहा तथा उसके समक्ष पर्याय को गौण करके उसे व्यवहार कहा; क्योंकि निश्चयनयाश्रित अर्थात् अखण्ड अभेद एक आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। अतः निश्चय को मुख्य करना ही चाहिए।

आत्माश्रित अर्थात् स्वाश्रित, त्रिकाली एक ज्ञायकभाव के आश्रित। यह निश्चयनय का विषय है। इसी ध्रुव नित्यानन्द प्रभु का आश्रय करनेवाली पर्याय है, पर्याय को पर्याय का आश्रय नहीं, बल्कि नित्यानन्द ध्रुव का ही आश्रय होता है।

यहाँ टीका में आत्मा का अर्थ स्वाश्रित क्यों किया ? क्योंकि व्यवहार पराश्रित है, इसलिए आत्मा का अर्थ 'स्व' किया है। 'स्व' यानि एक अपना सहज-स्वाभाविकभाव, ज्ञायकभाव, नित्यानन्दस्वभाव, ध्रुवभाव, एकरूप सामान्यभाव – यही निश्चयनय का विषय है, सम्यग्दर्शन का विषय है। अतः जिसे सम्यग्दर्शन प्रकट करना हो, उसे त्रिकाली एक ज्ञायकभाव का ही आश्रय करना चाहिए।

भाई! गुण-गुणी का भेद ही पराश्रय है, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है – ऐसा भेद करना भी पराश्रितभाव है, व्यवहारनय का विषय है जो बन्ध के कारण है।

यह अध्यात्मशास्त्र है न ? अतः यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि त्रिकाली एक ज्ञायकभाव के आश्रित निश्चयनय है। इसके आश्रय से ही धर्म होता है। पाप से बचने के प्रयोजन से धर्मी के पुण्य भी होता है, पर वे उसे धर्म नहीं मानते। धर्म तो एक ज्ञायकभाव ही है, जिसे यहाँ 'स्व' कहा है। इस 'स्व' के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है।

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' – यह तत्वार्थसूत्र का सूत्र है। 'उत्पाद-व्यय' पर्यायें हैं और ध्रौव्य त्रिकालीध्रुव ज्ञायकभाव है। यदि 'उत्पाद' का अर्थ मिथ्यात्व के व्ययपूर्वक सम्यग्दर्शन की पर्याय लें तो इसका आश्रयरूप कारण त्रिकाली एक ज्ञायकभाव है। एक ज्ञायकभाव स्वरूप 'स्व' के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। यही 'स्व' यानि एक त्रिकाली ध्रुव स्वभावभाव सामान्य-

सामान्य-सामान्य ऐसा एक ज्ञायकभाव 'स्व' है। तथा इसके सिवाय पर्याय आदि भेद सहित सम्पूर्ण विश्व 'पर' है। पराश्रित व्यवहार नय है – इस व्यवहार में गुणभेद, पर्यायभेद आदि समस्त परभाव आ जाते हैं।

अब कहते हैं कि 'पूर्वोक्त सभी पराश्रित अध्यवसान बंध के कारण होने से त्याज्य हैं।' त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव की वाणी के आढ़तिया बनकर संतों ने जगत के समक्ष जाहिर कर दिया है कि 'पर में एकपने की मान्यतारूप परिणमन बंध का कारण है। अतः तू उसे छोड़ दे।'

'मैं पर जीवों को बचाता हूँ, सुखी करता हूँ, आहार-औषधि आदि देता हूँ' इसप्रकार के मिथ्याभाव छोड़ दे; क्योंकि वे सब पर की क्रियायें तो पर के कारण होतीं हैं, उनमें तेरा कोई कर्त्तृत्व नहीं है।

देखो, यहाँ पराश्रित व्यवहार के दो भेद कर दिये हैं। पहले स्थूल पराश्रित स्व-पर की एकतारूप व्यवहार दूसरा राग एवं भेद रूप व्यवहार। यहाँ दोनों का निषेध किया। और अब यहाँ कहते हैं कि पूर्वोक्त रीति से पराश्रित समस्त अध्यवसान बंध के कारण होने से उनका निषेध करनेवाले निश्चयनय से व्यवहारनय का ही निषेध कर दिया है; क्योंकि व्यवहारनय को भी पराश्रितपना समान ही है।

अरे भाई! जिससे लाभ हो, उसका निषेध कोई क्यों करेगा ? सभीप्रकार का शुभभाव पराश्रित होने से बन्ध का ही कारण है, इसीलिए वह निषिद्ध है।

प्रश्न – तो क्या धर्मी के शुभभाव होते ही नहीं हैं ?

उत्तर – हाँ, होते हैं, तभी तो इनका निषेध किया गया है। यदि होते ही न हों तो निषेध ही क्यों करते ? आत्मज्ञानी प्रचुर आनन्द में झूलनेवाले सच्चे भावलिंगी मुनिराजों को भी पाँच महाव्रतादि के विकल्प आते हैं, परन्तु उनमें मुनिराजों की हेयबुद्धि ही होती है। उन्हें वे बन्ध का कारण ही जानते हैं तथा शुद्धनिश्चय के उग्र आश्रय द्वारा वे उनका निषेध भी कर देते हैं। समकिती के भी जो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग होता है, वह भी पराश्रित होने से उसका निषेध किया गया है।

देखो, निश्चयनय के अर्थात् स्व-स्वभाव के आश्रय से वास्तव में व्यवहार का निषेध कराया है। जहाँ 'स्व' का आश्रय हुआ, वहाँ पर के भाव का सहज निषेध हो जाता है।

प्रश्न – 'हमें समकित है या नहीं ?' इस बात का अपने को पता तो लगता नहीं है। इसलिए व्यवहार साधन व्रत, तप आदि निषेध करना क्या एकान्त नहीं है ?

उत्तर – भाई! 'हमें समकित है या नहीं' जिनको ऐसी शंका है, वस्तुतः उनके समकित है ही नहीं, तो फिर उनको वह व्यवहार भी साधनरूप नहीं है।

देखो! व्यवहार करते-करते व्यवहार का निषेध होता ही नहीं है, किन्तु शुद्धनिश्चयनय के आश्रय से व्यवहार का निषेध होता है। 'स्व' के आश्रय से ही पराश्रय के भाव का निषेध होता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

जिसप्रकार पर में एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसान पराश्रित है, उसीप्रकार व्यवहारनय भी पराश्रित है। जिसप्रकार अध्यवसान बंध के कारण हैं, उसीप्रकार पर के आश्रय से हुए व्यवहार के शुभभाव भी बन्ध के कारण हैं। दोनों में पराश्रितपना समान ही है। इसप्रकार व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है।

प्रश्न – आप ऐसा कहोगे तो लोग शुभ को छोड़कर अशुभ में चले जायेंगे।

उत्तर – जो शुभ को भी छोड़ने लायक मानता है – ऐसे समयसार के श्रोता द्वारा इतनी मोटी भूल करना संभव नहीं है। फिर भी यदि कोई ऐसी भूल करता है तो उससे पूछते हैं कि तूने पहले अशुभ को छोड़ने लायक माना था कि नहीं ? भाई जो शुभ को भी छोड़ने लायक मानता है वह तो स्व का आश्रय करके शुद्ध में जाने का प्रयत्न करता है, अशुभ में जाने का नहीं।

अहा! शुद्ध चिदानन्दघन आत्मा के आश्रय से जो निर्मल रत्नत्रय की वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, वह मोक्ष का कारण है। इसके अलावा समकिती को जो शुभभाव होते हैं, वे बन्ध के ही कारण हैं। अतः वे निषेध करने योग्य ही हैं।

कहा है न –

"जिन सो ही है आतमा, अन्य सो ही है कर्म।
यही वचन से समझ ले, जिनप्रवचन का मर्म ॥"

देखो, नय दो हैं और उनके विषय भी भिन्न-भिन्न हैं। व्यवहारनय का विषय राग है, जो बंध का कारण है तथा निश्चयनय का विषय त्रिकाली एक ज्ञायकमात्र आत्मा है, जो मुक्ति का कारण है। अतः निश्चयनय के विषयभूत 'स्व' का आश्रय लो और व्यवहारनय के विषयभूत 'पर' का आश्रय छोड़ो – ऐसा भगवान कहते हैं।

मुक्ति के मार्ग को पर की, निमित्त की या व्यवहार की कोई अपेक्षा नहीं है।

देखो, आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय करनेवाला अर्थात् स्वभाव का, एक ज्ञायकभाव का आश्रय करनेवाला ही मोक्ष प्राप्त करता है। पराश्रित व्यवहार का आश्रय करनेवाले को कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न – आप एक ओर प्रवचनों में तो डंके की चोट पर व्यवहार का निषेध करते हो और दूसरी ओर स्वयं जिनमन्दिर, समोशरणमन्दिर, मानस्तम्भ बनवाते जा रहे हो, तीर्थयात्रायें करते हो, प्रतिदिन भक्ति, पूजा दान आदि व्यवहार को इतने श्रेष्ठ रूप से आचरण करते हो। क्या यह छल नहीं है ? स्वयं व्यवहार करते हो और दूसरों को उसी का निषेध करते हो। क्या यह छल नहीं है ?

उत्तर – अरे बापू! ये सब कार्य जो तुमने गिनाये हैं, इन्हें भी हम कहाँ करते हैं ? ये सब कार्य तो अपने-अपने समय में अपनी-अपनी स्वचतुष्टय की योग्यता से जो जैसे होने थे, वही हुए हैं तथा उस-उस काल में हमारे भी यथायोग्य शुभाशुभ भाव भी अपनी-अपनी स्व-चतुष्टय की योग्यतानुसार हुए हैं। यह सच है, पर वे आश्रय करने लायक नहीं हैं। भाई! यह उपदेश देने का विकल्प भी शुभ राग है। वह वर्तमान भूमिका में आता अवश्य है, पर करने योग्य कार्य नहीं है, धर्म नहीं है।

यदि कोई इसे एकान्त माने या कहे, तो यह उसका भ्रम है। स्वाश्रय से मुक्ति होती है तथा पराश्रय से नहीं होती। यही अटल सिद्धान्त है।

गाथा २७२ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो ! यहाँ व्यवहार निश्चय की व्याख्या करते हैं। आत्मा को पर के निमित्त से जो अनेक प्रकार के विभाव होते हैं, वे सब व्यवहार के विषय हैं। इसलिए व्यवहारनय पराश्रित है। भाई! एक 'स्व' के आश्रय के बिना जितनी परद्रव्य की एकताबुद्धि और पर के आश्रय से हुए भाव हैं, वे सब व्यवहारनय के विषय हैं।

यद्यपि ये ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि के भी होते हैं, पर ज्ञानी के इनका आश्रय नहीं है। ज्ञानी इनके ज्ञाता-दृष्टा हैं। यहाँ तो आश्रय की बात चल रही है। व्यवहारनय पर के आश्रय से होता है तथा निश्चयनय त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायकभाव के आश्रय से होता है। निश्चय मोक्ष का हेतु है एवं व्यवहार संसार का कारण है।

अध्यवसान भी व्यवहारनय के विषय हैं। इसकारण अध्यवसान का त्याग व्यवहारनय का ही त्याग है।

देखो ! परद्रव्य की क्रिया मैं करता हूँ, कर सकता हूँ, मैं अन्य जीवों की रक्षा करता हूँ, सुखी करता हूँ, जीवों को मुक्त कर सकता हूँ, इत्यादि अभिप्राय अध्यवसान हैं। ये अध्यवसान व्यवहारनय के विषय हैं। अतः इनका त्याग करने पर व्यवहारनय का त्याग भी हो ही जाता है। पर में एकत्वरूप मिथ्याभाव को छोड़ने पर सम्पूर्ण पराश्रित व्यवहार छूट जाता है।

इसप्रकार निश्चयनय को प्रधान करके व्यवहारनय के त्याग का उपदेश किया है। इसका कारण यह है कि जो निश्चय के आश्रय से प्रवर्तन करते हैं, वे ही कर्मों से छूटते हैं तथा जो एकान्त से व्यवहार के आश्रय से ही प्रवर्तते हैं, वे कर्मों से कभी नहीं छूटते।

निश्चय अर्थात् त्रिकाली एक ज्ञायकभाव-स्वभावभाव का आश्रय लेने वाले धर्म को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करते हैं, तथा जो व्रत, तप, भक्ति आदि के रागरूप व्यवहार के आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे कर्मों से कभी नहीं छूटते। यह बन्धमार्ग है, संसारमार्ग है। इसलिए हे भाई! व्यवहार के आश्रय की भावना छोड़ दे और 'स्व' का अर्थात् निजस्वरूप का आश्रय कर।

कथमभव्येनाप्याश्रीयते व्यवहारनयः इति चेत् -

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतव जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥ २७३ ॥
व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥ २७४॥

शीलतपः परिपूर्णं त्रिगुप्तिपंचसमितिपरिकलितमहिंसादिपंचमहाव्रतरूपं व्यवहारचारित्रं अभव्योऽपि कुर्यात्, तथापि स निश्चारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव, निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञानश्रद्धानशून्यत्वात्।

अव प्रश्न होता है कि अभव्य जीव भी व्यवहारनय का आश्रय कैसे करते हैं? उसका उत्तर गाथा द्वारा कहते हैं :-

व्रत-समिति-गुप्ती-शील-तप आदिक सभी जिनवरकथित ।
करते हुए भी अभव्यजन अज्ञानि मिथ्यादृष्टि हैं ॥ २७३ ॥

गाथार्थ – [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेव के द्वारा [प्रज्ञप्तम्] कथित [व्रतसमितिगुप्तयः] व्रत, समिति, गुप्ति, [शीलतपः] शील और तप [कुर्वन् अपि] करता हुआ भी [अभव्यः] अभव्य जीव [अज्ञानी] अज्ञानी [मिथ्यादृष्टिः तु] और मिथ्यादृष्टि है।

टीका – शील और तप से परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियों के प्रति सावधानी से युक्त, अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र (का पालन) अभव्य भी करता है; तथापि वह (अभव्य) निश्चारित्र (चारित्ररहित), अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि (वह) निश्चयचारित्र के कारणरूप ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है।

भावार्थ :- अभव्य जीव महाव्रत-समिति-गुप्तिरूप व्यवहार चारित्र का पालन करे तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञानश्रद्धान के बिना वह चारित्र 'सम्यग्चारित्र'

नाम को प्राप्त नहीं होता; इसलिये वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है।

गाथा २७३ पर प्रवचन

यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि क्या अभव्य जीव भी व्यवहारनय का आश्रय करते हैं? यदि करते हैं तो किसप्रकार करते हैं तथा व्यवहार का आश्रय करते हुए भी उन्हें धर्म क्यों नहीं होता ? कृपया स्पष्ट कीजिए।

उत्तर – देखो ! अभव्य का तो मात्र उदाहरण दिया है, यही स्थिति भव्य जीवों के बारे में भी है; अतः इन पर भी यही सब लागू पड़ता है। भव्य यह न समझें कि यहाँ तो अभव्यों को समझाया जा रहा है।

सर्वज्ञ परमात्मा ने व्रत, तप, शील, इत्यादि बाह्य व्यवहार जिसप्रकार कहा है, अभव्य जीव राग की मंदता सहित परिपूर्ण रीति से उसीप्रकार पालन करता है तो भी वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसे ज्ञायकस्वभाव का आश्रय नहीं है।

तथा छह प्रकार का प्रायश्चित, विनय, वैयाव्रत आदि अंतरंग व्यवहार तप करे, परन्तु ये सब भाव शुभराग है। भाई! चित्त की अंतःशुद्धि बिना धर्म नहीं हो सकता।

अभव्य सर्वज्ञ वीतराग अरहंतदेव, निर्ग्रन्थगुरु तथा जिनेश्वर के द्वारा निरूपित शास्त्र की विनय-बहुमान खूब करे, तो भी ये सब 'स्व' से भिन्न पर की विनय है, अतः शुभभाव होने से धर्म नहीं है।

प्रश्न – जहाँ विनय को मोक्ष का द्वार कहा है, उस कथन का क्या तात्पर्य है?

उत्तर – हाँ, कहा है, पर वह अपेक्षा जुदी है, वहाँ अपने ज्ञायकस्वभावी निर्मलानन्द 'स्व' परमात्मा के विनय की बात है। वस्तुतः वही यथार्थ विनय है। उसके साथ जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की विनय का भाव आता है, वही वस्तुतः व्यवहार विनय है। उसके बिना व्यवहार में कोई कितना ही क्यों न नमे, पर यथार्थ विनय नहीं होती।

देखो ! यहाँ उन अभव्यों का उदाहरण देकर समझा रहे हैं, जो वीतराग परमेश्वर भगवान जिनेश्वरदेव द्वारा कहे गये शील-तप को परिपूर्ण रूप से

पालते हैं, फिर भी उन्हें धर्म नहीं होता; क्योंकि वह व्यवहार व्रत, तप आदि एकान्ततः पराश्रित राग का परिणमन है। राग से वीतराग धर्म नहीं होता।

वे ग्यारह अंग व नवपूर्व तक श्रुत को कंठस्थ कर लें, परन्तु वह सब भी राग है, विकल्प है, व्यवहार है, बंध का कारण है। भगवान के द्वारा निरूपित व्यवहार ध्यान भी अभव्य ने अनंत बार किया, पर विकल्प रहित आत्मा का निर्विकल्पध्यान न होने से धर्मलाभ नहीं हुआ। और तो ठीक, अभव्य कायोत्सर्ग में महीना-महीना तक बिम्ब की भाँति स्थिर होकर खड़ा रहा, परन्तु पराश्रित राग की क्रिया होने से धर्मलाभ नहीं होता।

निश्चयचारित्र तो एक ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक अंतर में रमणता-लीनता करने से होता है। वाह्य में अकेली काया की क्रिया से कुछ नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि वाह्य विकल्परूप काय की दृष्टि का त्याग करके चिदानन्दघन आत्मा में स्थिर रहने रूप निश्चय कायोत्सर्ग के बिना अकेला व्यवहार कायोत्सर्ग तो अभव्य जीवों ने भी अनंतबार किया, पर उससे क्या ? वे सब तो संसार के ही कारण हैं।

अहा! आत्मज्ञान के बिना – सम्यग्ज्ञान के बिना भव्य-अभव्य – सभी ने अनन्तबार मुनिव्रत पाले, अट्ठाइस मूलगुणों की निरतिचार पालन किया; परन्तु अंश मात्र भी सुख नहीं मिला, दुःख ही मिला।

महाव्रतादि के फलस्वरूप अनन्तबार नवग्रैवेयक तक गया, किन्तु आत्मदर्शन के बिना जरा भी आनन्द नहीं मिला। शुभ से अशुभ व अशुभ से शुभ – ऐसे शुभ-अशुभ में भटकना तो एकमात्र दुःख ही है। शुभ-अशुभ दोनों से भेदज्ञान करके आनन्दमूर्ति सच्चिदानन्द निज आत्मा के आश्रय से निराकुल निर्विकार पवित्र शान्तिरूप निर्मल रत्नत्रय प्रगट करना ही एकमात्र धर्म है।

प्रश्न – धर्मी सम्यग्दृष्टि जीवों को भी व्रत, तप, शील आदि व्यवहार होता है या नहीं और उन्हें इस व्यवहार का पालन करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर – हाँ, यद्यपि धर्मी जीवों ने अन्दर में 'स्व' का – अपने शुद्ध चिदानन्दघन आत्मा का आश्रय प्राप्त कर लिया है, इसकारण उनके अंतरंग में निर्मल निश्चयरत्नत्रयरूप धर्म प्रगट हो गया है, तथापि जबतक निश्चयरत्नत्रय की पूर्णता नहीं हो जाती; तबतक उन्हें भी व्रत, तप, शील, आदि व्यवहार का भाव आये बिना नहीं रहता। आता ही है और आना ही चाहिए; क्योंकि बहुत समय तक लगातार अन्तर में लीन रहना तो संभव है नहीं, बाहर में तो आना ही पड़ता है; वहाँ यदि व्रतादि शुभभाव नहीं होंगे तो अशुभ होगा, जो धर्मी जीवों को कतई इष्ट नहीं है। यद्यपि ज्ञानी शुभभावों को चाहते नहीं हैं तो भी उनके व्रत, तपादि व्यवहार होता अवश्य है। ज्ञानी के व्यवहार का आश्रय नहीं है, स्वामित्व नहीं है। वे उन्हें श्रद्धान में हेय मानते हैं।

देखो, टीका में कहते हैं कि अभव्य जीव भी मन-वचन-काय को वश में करने के लिए तीन गुप्तियों को सावधानीपूर्वक पालता है अर्थात् अशुभ से बचाकर शुभ में रखता है। इस प्रक्रिया को अभव्य व भव्य भी अनन्तबार करते हैं; परन्तु ये सब धर्मलाभ की दृष्टि से निष्फल हैं।

सच्चे भावलिंगी संतों के भी समिति-गुप्ति के शुभ भाव होते हैं, पर ये भाव हैं तो प्रमाद ही न ? भले ही उनमें अशुभरूप एवं तीव्र कषायरूप प्रमाद नहीं है। अभव्य के तो तत्त्वदृष्टि ही नहीं है। इसकारण उसका तो सर्व व्यवहार बन्ध का ही कारण है। अभव्य जीव ईर्यासमिति की भाँति भाषा समिति आदि सभी व्यवहार धर्म के पालन में सावधान रहता है, तत्पर रहता है; परन्तु वह सब शुभराग है।

देखो ! मुनिराज के मोरपीछी व कमण्डलु-मात्र दो ही वस्तुएँ होती हैं, उनके वस्त्र व पात्र आदि कुछ भी नहीं होते। कोई वस्त्र वा पात्र रखे और स्वयं को मुनि या साधु माने व मनवाये तो वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है तथा उन्हें मुनि मानने वाले भी मिथ्यादृष्टि हैं।

यहाँ कहते हैं कि अभव्य जीव भगवान के द्वारा कहे गये महाव्रतादि को निरतिचार पालता है, मन्द कषाय में ऐसी क्रियायें अभव्यों ने भी अनन्तबार

की, परन्तु उन्हें धर्म नहीं हुआ; क्योंकि पराश्रय छोड़कर कभी स्वाश्रय नहीं किया। अहा ! ऐसा स्वाश्रय का मार्ग तो शूरवीरों का मार्ग है।

हाँ, तो यहाँ कह रहे थे कि मुनियों के बाह्य शुद्धि के लिए एक कमण्डलु, जीव-जन्तुओं की सुरक्षा के लिए एक मोरपंखों की पीछी तथा स्वाध्याय के लिए एक शास्त्र - बस ये तीन शुद्धि, संयम व ज्ञान के उपकरण होते हैं। इनके अतिरिक्त मुनिराज के कुछ भी परिग्रह नहीं होता। तथा वे आत्मज्ञानसहित हों, सभी सार्थक होते हैं। उनका बाह्य व्यवहार वैसा ही होता है, जैसा कि जिनेन्द्र भगवान द्वारा आगम में कहा गया है। उसमें कोई समझौता या शिथिलता स्वीकार नहीं है, मान्य नहीं है। सच्चे मुनिराजों की स्वयं की अन्तरात्मा को ही शिथिलता स्वीकार नहीं होती। वे यद्यपि किसी आगम या जिनेन्द्र की आज्ञा के अधीन नहीं हैं, तथापि उनकी सहज चर्या एवं जिनेन्द्र की आज्ञा का अथवा आगम का ऐसा ही स्वाभाविक सुमेल है; क्योंकि जिनेन्द्र की वाणी वस्तुस्वभाव का ही तो निरूपण करती है।

आचार्यदेव पुकार-पुकार कर कहते हैं कि अभव्य भी अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र पालते हैं, परन्तु मात्र इतने से उनके अनन्त भवों में से एक भव भी कम नहीं होता; क्योंकि महाव्रतादि की सम्पूर्ण व्यवहार क्रियाएँ अनात्मरूप हैं। अनात्मरूप क्रियाओं से आत्मधर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

महाव्रतादि के परिणाम तो विकल्परूप हैं, शुभ-राग हैं। किसी जीव को नहीं मारना, झूठ नहीं बोलना आदि महाव्रत रूप जो विकल्प होते हैं, वे सब शुभराग हैं, चारित्र नहीं। चारित्र तो स्वरूप में रमणतारूप परम आनन्दरूप वीतरागी आत्मपरिणाम है। तथा वह आत्मा के सम्यक्ज्ञान-श्रद्धान सहित ही होता है। सम्यग्दर्शन बिना व्यवहार चारित्र वस्तुतः चारित्र ही नहीं है। इसलिए मोक्षमार्ग में सभी प्रकार का व्यवहार निषेध करने लायक है - यह इस गाथा का तात्पर्य है।

गाथा २७३ के भावार्थ पर प्रवचन

जो लोग ऐसा मानते हैं कि 'व्यवहार करते-करते निश्चयरूप धर्म की प्राप्ति हो जाती है' उनका वैसा मानना यथार्थ नहीं है; क्योंकि दुःख पर्याय में से निराकुल सुख की प्राप्ति नहीं होती।

भाई! व्यवहारचारित्र की दिशा पर की ओर है। तथा समकित आदि धर्म की दिशा 'स्व' की ओर है। दोनों की दिशाएँ ही परस्पर विरुद्ध हैं।

देखो ! समयसार की १७वीं-१८वीं गाथा की टीका में कहा है कि ज्ञान की वर्तमान पर्याय में बाल-गोपाल को भगवान 'ज्ञायक' जानने में आता है। तो भी भगवान ज्ञायक की दृष्टि बिना जिसे उस आत्मा का सम्यक्ज्ञान-श्रद्धान नहीं हुआ, वह अकेला बाह्य व्यवहार कितना भी क्यों न पाले, परन्तु उसे वह व्यवहार बन्ध का ही कारण होता है। स्व-स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान बिना सभी प्रकार का व्यवहार संसार ही है। जिन भावों से स्वर्ग का पद मिले, वे भाव भी संसार हैं, दुःख हैं।

४५वीं गाथा में कहा है कि ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मों का फल दुःख है। भाई! इस व्यवहार के शुभराग से सातावेदनीय कर्म बंधता है तथा उसके उदय में बाह्य संयोग - सम्पत्ति, कीर्ति आदि मिलते हैं, जोकि सभी दुःख के कारण हैं। व्यवहारव्रत वर्तमान में भी दुःखमय है तथा इसके निमित्त से जो पुण्य बंधता है, वह विषवृक्ष है। भाई ! पुण्य के फल देवपद, राजपद, चक्रवर्तीपद सब आकुलता के जनक होने से दुःखरूप ही हैं तथा इनको भोगते-भोगते मरनेवालों की नियम से अधोगति ही होती है। हे भाई ! यह वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है।

प्रभु ! तू कौन है ? यद्यपि इस बात की तुझे खबर नहीं है, पर तू चिदानन्दघन परिपूर्ण-ज्ञान से भरा हुआ त्रिकाल परमात्मस्वरूप है। बस, अपने इस स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान बिना अपने को वर्तमान पर्याय जितना शुभराग स्वरूप मानने के कारण तेरी यह दुर्दशा हो रही है।

यहाँ कहते हैं कि निश्चय सम्यग्ज्ञान-श्रद्धान बिना वह व्यवहार चारित्र 'सम्यक्चारित्र' नहीं कहला सकता।

देखो ! यह बंध अधिकार है न ? इसकारण बंध के परिणाम का स्वरूप बता रहे हैं। इसके विरुद्ध त्रिकाल अबंधस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से जो परिणाम होता है, वह अबंध परिणाम निर्मल रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का परिणाम है। उन अबंध परिणामों के बिना एकान्त बन्ध परिणाम वाला जीव बाह्यक्रियारूप व्यवहारचारित्र पाले तो वह चारित्र सम्यक्चारित्र नाम नहीं पाता।

अतः यह स्पष्ट है कि सम्यग्ज्ञान बिना अर्थात् पर्याय में अपने भगवान आत्मा की प्राप्ति के बिना बाह्यव्यवहार की शुभक्रिया कितनी भी कठोरता से पाले, तो भी वह सब जिनदेव द्वारा अचारित्र ही कहा गया है।

तस्यैकादशाङ्गज्ञानमस्ति इति चेत् –

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत ।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ॥ २७४॥

मोक्षं हि न तावदभव्यः श्रद्धत्ते, शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात्। ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धत्ते। ज्ञानमश्रद्दधानश्चाचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानी स्यात्। स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानं; तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्दधानस्याभव्यस्य श्रुताध्ययनेन न विधातुं शक्येत। ततस्तस्य तद्गुणाभावः। ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियतः।

अब शिष्य पूछता है कि – उसे (अभव्य को) ग्यारह अंग का ज्ञान तो होता है; फिर भी उसको अज्ञानी क्यों कहा है? इसका उत्तर कहते हैं :-

मोक्ष के श्रद्धान बिन सब शास्त्र पढ़कर भी अभवि ।
को पाठ गुण करता नहीं है ज्ञान के श्रद्धान बिन ॥ २७४॥

गाथार्थ – [मोक्षम् अश्रद्दधानः] मोक्षकी श्रद्धा न करता हुआ [यः अभव्य-सत्त्व;] जो अभव्य जीव है वह [तु अधीयीत] शास्त्र तो पढ़ता है, [तु] परन्तु [ज्ञानं अश्रद्दधानस्य] ज्ञानकी श्रद्धा न करनेवाले उसको [पाठः] शास्त्रपठन [गुणम् न करोति] गुण नहीं करता।

टीका – प्रथम तो अभव्य जीव (स्वयं) शुद्ध ज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण मोक्ष की ही श्रद्धा नहीं करता। इसलिये वह ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं करता। और ज्ञान की श्रद्धा न करता हुआ वह (अभव्य) आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप श्रुत को (शास्त्रों को) पढ़ता हुआ भी, शास्त्रपठन के जो गुण उसके अभाव के कारण ज्ञानी नहीं हैं। जो भिन्नवस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा

का ज्ञान वह शास्त्र पठन का गुण है; और वह तो (ऐसा शुद्धात्मज्ञान तो), भिन्न वस्तुभूत ज्ञान की श्रद्धा न करनेवाले अभव्य के शास्त्र-पठन के द्वारा नहीं किया जा सकता (अर्थात् शास्त्र-पठन उसको शुद्धात्मज्ञान नहीं कर सकता); इसलिये उसके शास्त्र पठन के गुण का अभाव है; और इसलिये ज्ञान-श्रद्धान के अभाव के कारण वह अज्ञानी सिद्ध हुआ।

भावार्थ – अभव्य जीव ग्यारह अंगों को पढ़े तथापि उसे शुद्ध आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता; इसलिये उसे शास्त्रपठन ने गुण नहीं किया; और इसलिये वह अज्ञानी ही है।

गाथा २७४, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ शिष्य पूछता है कि जिसे ग्यारह अंग तक का ज्ञान है, उसे अज्ञानी क्यों कहा ?

ग्यारह अंगों में पहला आचारांग है, जिसमें १८ हजार पद (प्रकरण) हैं, एक-एक पद में ५१ करोड़ से अधिक श्लोक हैं। इसीप्रकार दूसरे सूत्रकृतांग में पहले से तिगुने पद हैं और प्रत्येक पद में ५१ करोड़ से अधिक श्लोक हैं। इसीप्रकार क्रम से ग्यारहवें अंग तक तिगुने-तिगुने पद करते जाओ। जिसे ऐसे-ऐसे ग्यारह अंग का ज्ञान कंठस्थ हो – उसे आप अज्ञानी कैसे कहते हो ?

इसी प्रश्न के उत्तर में यह गाथा प्रस्तुत की गई है। गाथा में स्पष्ट कहा है कि 'पाठो न करेदि गुणं' अर्थात् ग्यारह अंगों का पाठ (मात्र शब्दज्ञान) लाभदायक नहीं है। जिस शब्दज्ञान में जाननहार ज्ञायक प्रभु – भगवान आत्मा नहीं आया हो, वह ग्यारह अंग का ज्ञान मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है।

यद्यपि अनुभव में भी आत्मा तो परोक्ष ही है, आत्मा के प्रदेश प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते; परन्तु स्वरूप में परिणाम मग्न होने से जो स्वानुभव प्रगट हुआ, वह स्वानुभव प्रत्यक्ष है। यह स्वानुभव का स्वाद आगमादि परोक्ष प्रमाण से ज्ञात नहीं होता। स्वानुभव में रसास्वाद को ही वेदता है। अतः वेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है और मति-श्रुतज्ञान की अपेक्षा आत्मा परोक्ष है।

समकिती को स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि की अपेक्षा से आत्मा परोक्ष है। स्मृति अर्थात् पूर्व में जाना हुआ याद आना, प्रत्यभिज्ञान यानि स्मृति व प्रत्यक्ष का जोड़रूप ज्ञान। अनुमान अर्थात् व्याप्तिज्ञान - जहाँ ज्ञान वहाँ आत्मा, तथा ज़हाँ आत्मा नहीं वहाँ ज्ञान नहीं। ऐसे अनुमान ज्ञान को परोक्ष कहते हैं।

प्रश्न – इनको प्रत्यक्ष किस अपेक्षा कहा जाता है?

उत्तर – मति-श्रुतज्ञान को स्वानुभव के काल में प्रत्यक्ष कहा जाता है; क्योंकि स्वानुभव के काल में पर की अपेक्षा नहीं होती और वह सीधा आत्मा को जानने में प्रवर्तता है।

यहाँ कहा है कि ग्यारह अंग का ज्ञान होते हुए भी अभव्यजीव अज्ञानी है; क्योंकि उसका ज्ञान स्वरूप को जानने के प्रति कभी भी नहीं प्रवर्तता।

आचार्य अमृतचन्द्र टीका में कहते हैं कि प्रथम तो अभव्य व अज्ञानी जीव मोक्ष की श्रद्धा ही नहीं करते; जवकि वे अज्ञानी भी स्वयं पूर्ण शुद्ध ज्ञानमय आत्मा हैं परन्तु उन्हें ऐसा ज्ञान ही नहीं है। अपने पूर्ण शुद्ध ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा व जानकारी के अभाव में आत्मा की पूर्ण शुद्ध दशा, वीतराग-विज्ञान दशा की श्रद्धा भी कहाँ से होगी, जिसका कि दूसरा नाम मोक्ष है।

आत्मा स्वभाव से तो चैतन्यप्रकाश का पुंज त्रिकाल शुद्ध ज्ञानानन्दमय वस्तु ही है, इसी की श्रद्धा एवं ज्ञान से यह आत्मा पर्याय में भी पूर्ण पवित्र हो जाता है, जिसे मोक्ष कहते हैं। अभव्य व अज्ञानी इन दोनों से ही अपरिचित है। जव उसे अपने स्वभाव की सामर्थ्य की ही खवर नहीं है, तो प्रगट शुद्ध वीतरागी पर्याय अर्थात् मोक्ष की श्रद्धा कहाँ से होगी ?

पंचाध्यायी में आता है कि शास्त्र पढ़कर जो श्रद्धा की, वह श्रद्धा ही नहीं है। जिसमें शुद्धज्ञानमय आत्मवस्तु प्राप्त न हो, वह ज्ञान भी ज्ञान ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि - जिस ज्ञान की पर्याय में आत्मा की प्राप्ति न हुई हो, वह भले ग्यारह अंग तक का ज्ञान भी क्यों न हो, तो भी वह ज्ञान नहीं है, वह तो मात्र शव्दजाल है, कोरा शाव्दिकज्ञान है। कहा भी है -

"आत्म ज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान"

भगवान ! तू एकबार सुन तो सही। जिसे अपने शुद्ध ज्ञानमय स्वभाव का पता नहीं, स्वानुभव नहीं; मात्र शास्त्राधार से शब्दज्ञान है, वह वस्तुतः ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि वह सब तो परलक्ष्यी ज्ञान है।

प्रश्न – शास्त्र से आत्मज्ञान होता है – ऐसा कथन भी तो शास्त्रों में ही आता है, उसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – भाई ! वह तो निमित्त-नैमित्तिक सहज सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिए निमित्त की मुख्यता से किया गया उपचार का कथन है। निश्चय से तो शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप के आश्रय से आत्मज्ञान होता है। जब जीव स्वयं अपने शुद्ध आत्मा का आश्रय करे, तब वाह्य में शास्त्र पर अनुकूलता का आरोप आता है; क्योंकि शास्त्र के निमित्त से उसे आत्मा का परिचय मिला है।

अभव्य के ग्यारह अंग के ज्ञान को विकल्प बताते हुए कलश टीकाकार श्री ब्र. राजमलजी १३वें कलश की टीका में लिखते हैं कि कोई जानेगा कि द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है, परन्तु भाई ! द्वादशांग का ज्ञान भी विकल्प है तथा शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है। देखा, सर्वज्ञ कथित शास्त्र में भी यह कहा है कि शुद्ध ज्ञानमय आत्मा को उपादेय रूप से अनुभव करने से उत्पन्न जो शुद्धात्मानुभूति है, वह मोक्षमार्ग है; शास्त्रज्ञान नहीं। अभव्य जीव शास्त्रज्ञान के विकल्प में अटका रहकर अन्दर जो आनन्दघनस्वरूप भगवान आत्मा विराज रहा है, उसका अनुभव नहीं करता। इसीकारण शुद्धज्ञानमय मोक्षभाव का इसे श्रद्धान नहीं होता।

भगवान आत्मा सदा मोक्षस्वरूप है, अबद्ध है। १४वीं गाथा में 'अबद्ध' शब्द आया है, और यहाँ मोक्ष-स्वरूप कहा – ये दोनों ही नास्ति के कथन हैं, दोनों एक ही बात है। यह शुद्धज्ञानमय आत्मा मेरा ही स्वरूप है, यह अबद्ध व मोक्ष-स्वरूप आत्मा के रूप में मेरी ही चर्चा है – ऐसा अभव्य नहीं जानता। वह शास्त्रज्ञान के विकल्प में ही अटका है। इस कारण अंग का ज्ञान होने पर भी उसे धर्मलाभ नहीं होता।

आचार्य कहते हैं कि शास्त्रज्ञान का यथार्थलाभ तो यह है कि जीव स्वयं को भिन्न वस्तुभूत अनुभव करे। अपने आत्मा को शरीरादि परद्रव्य से भिन्न,

देव-शास्त्र-गुरु से भिन्न, द्रव्यकर्म-भावकर्म से भिन्न तथा नोकर्म से भी भिन्न मात्र ज्ञानप्रकाश का पुंज शुद्ध ज्ञानमय जाने-माने और वैसा ही अनुभव करे।

अभव्य का तो उदाहरण दिया है, पर यहाँ सामान्यतया सिद्ध यह करना है कि भगवान जिनवर के द्वारा निरूपित बाह्याचार रूप, व्रत, तप आदि को धर्म कहना उपचार मात्र है। आत्मज्ञान शून्य होने से उन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता। वे धर्म तो हैं ही नहीं, धर्म के कारण भी नहीं हैं। यह बात गाथा २७३ में भी आ गई है। वहाँ कहा है कि अभव्य जीव ने शील, तप आदि परिपूर्ण रीति से पाले, समिति-गुप्ति की क्रियायें सावधानपने की और महाव्रतादि अनंतवार पाले। इसप्रकार भगवान के द्वारा प्रतिपादित व्यवहारचारित्र के भाव अनन्तबार प्रगट किये; तथापि वे अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि व अचारित्रवंत ही हैं। अतः शास्त्रज्ञान या पांडित्यप्रदर्शन के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास न करके शुद्धचिदानन्दघन प्रभु आत्मा को समझने एवं प्राप्त करने के लक्ष्य के शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए।

प्रवचनसार गाथा २३३ के आदि में भी इस बात का स्पष्टीकरण आ गया है।

भाई ! यहाँ मुख्य बात यह कही जा रही है कि आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप द्रव्यश्रुत का अभ्यास होने पर भी अभव्य को उस का वास्तविक लाभ जो आत्मानुभवरूप होना चाहिए, नहीं होता। इसकारण वह अज्ञानी ही है।

पंचास्तिकाय गाथा १७२ में शास्त्रतात्पर्य वीतरागता कहा है। वस्तुतः द्वादशांग का फल एकमात्र वीतरागता ही है। यदि ज्ञान के फल में आत्मानुभव एवं वीतराग परिणति नहीं होती तो वह ज्ञान वस्तुतः ज्ञान ही नहीं है।

यह वीतरागता कैसे हो ? इसके उत्तर में कहते हैं कि स्वभाव से तो भगवान आत्मा त्रिकाल सच्चिदानन्दस्वरूप चैतन्यमूर्ति एवं वीतरागस्वरूप ही है। तथा अपने उस भगवान आत्मा का ज्ञान और अनुभव करने से पर्याय में वीतरागता प्रगट होती है। सर्वशास्त्र पढ़ने का भी यही एकमात्र इष्ट फल है।

पंचास्तिकाय में तो यह कहा है कि – भिन्न वस्तुभूत शुद्धज्ञानमय आत्मा का ज्ञान ही शास्त्रज्ञान का सुफल है। तथा ब्र. राजमलजी ने १३वें कलश में यह कहा है कि बारह अंग का ज्ञान भी विकल्प है। श्रुत में भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है। अर्थात् द्वादशांग का सार मात्र आत्मानुभूति ही है। चारों ओर जहाँ भी देखो, सब ओर एक ही बात है कि आत्मा स्वयं चिदानन्दस्वरूप है। उसका ज्ञान-श्रद्धान करके उसी में ठहर जा! उसी के स्वाद में तृप्त हो जा; परन्तु शुभक्रिया के पक्ष वालों को यह बात कैसे बैठे ? एक आत्मा के ज्ञान बिना अभव्य बाह्य क्रियायें कर-कर के मर-पच गया, फिर भी संसार परिभ्रमण में एक भव भी कम नहीं हुआ। भाई ! बात बहुत गंभीर है, सूक्ष्म है, अपरिचित जनों को कठिन भी पड़ती है, पर समझने जैसी है।

अहा ! शास्त्र पढ़ना विकल्प है, व्यवहार है। इस व्यवहार द्वारा निश्चय की विषयभूत एक परमार्थ वस्तु को समझना है। वस्तुस्वरूप को समझने का इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। अत: भेद करके अभेद वस्तु को समझाया जाता है। आठवीं गाथा में भी कहा है कि जिसतरह अनार्यजनों को अनार्यभाषा के बिना समझाना अशक्य है, उसीप्रकार व्यवहार बिना परमार्थ नहीं समझाया जा सकता; परन्तु जिसतरह अनार्यभाषा का अनुशरण करना योग्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार आदरणीय नहीं है।

प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंग ग्रहण के छठवें बोल में आया है कि 'लिंग द्वारा नहीं, बल्कि स्वभाव द्वारा जिसका ग्रहण होता है, वह अलिंग ग्रहण है। इसप्रकार आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।'

भगवान आत्मा दया, दान, व्रत, तप तथा विनय-भक्ति के विकल्पों से या देव-शास्त्र-गुरु आदि निमित्तों से या शास्त्रपठन-पाठन के विकल्पों से जाना जाय – ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नहीं है।

परमात्मप्रकाश में भी कहा है कि भगवान आत्मा दिव्यध्वनि से भी नहीं जाना जाता; क्योंकि दिव्यध्वनि श्रुतज्ञान है। भगवान केवली भी श्रुतज्ञान से

कहते हैं; केवलज्ञान से नहीं। इसकारण केवली दिव्यध्वनि में श्रुतज्ञान से कहते हैं। उस श्रुतज्ञान में ऐसा आया कि हमें सुनकर तू अपने को जाने - ऐसा तेरा स्वरूप नहीं है। तू तो अपने स्वभाव से जाना जाए - ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है।

अब कहते हैं कि इसलिए तुझे शास्त्र पढ़ने से होनेवाला लाभ नहीं मिला। तात्पर्य यह है कि अभव्य जीव ने एवं भव्य जीव ने भी अनन्तबार ११ अंग तक का शास्त्रज्ञान किया, किन्तु अन्दर शुद्धज्ञानमय अपने भगवान ज्ञायक का आश्रय नहीं लिया; इसकारण वे अज्ञानी ही रहे। विकल्परूप शास्त्रज्ञान जो आत्मा का स्वरूप नहीं है, उसका अभ्यास तो किया, उसे बार-बार पढ़ा व याद भी किया तथा जो अपनी चीज है, जो शुद्ध ज्ञानमय आत्मा स्वयं है, उसे जाना नहीं, जानने का प्रयत्न किया नहीं, इसकारण अज्ञानी ही रहा।

देखो ! समयसार के १३वें कलश की टीका करते हुए कहा है कि बारह अंग का ज्ञान अपूर्व नहीं है। यद्यपि वह बारह अंग का ज्ञान समकिती को ही होता है, तो भी उसे अपूर्व नहीं है - ऐसा कहा। बारह अंग का ज्ञान महत्व देने जैसा नहीं है; क्योंकि शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है, शास्त्रज्ञान नहीं है।

अहा ! शास्त्रज्ञान का गुण तो अन्दर विद्यमान देहादि से भिन्न शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा का अनुभव करना है। जो अभव्य जीव ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करता, उसने परलक्ष्य से भले ऐसा जाना हो कि आत्मा अभेद एक परम पवित्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, परन्तु अन्तर्मुख होकर वह आत्मानुभव नहीं करता; इसकारण उसे शास्त्र का पठन-पाठन लाभदायक सिद्ध नहीं होता। •

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत् –

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ २७५॥

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ॥ २७५॥

अभव्यो हि नित्यकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धत्ते, नित्यज्ञानचेतनामात्रं न तु श्रद्धत्ते, नित्यमेव भेद विज्ञानानर्हत्वात्। ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धत्ते, भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रभूतार्थमेव श्रद्धते। तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्ययनरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयकभोगमात्रमास्कंदेत्, न पुनः कदाचनापि विमुच्येत। ततोऽस्य भूतार्थधर्म श्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति। एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव।

शिष्य पुनः पूछता है कि – अभव्य को धर्म का श्रद्धान तो होता है; फिर भी यह क्यों कहा है कि 'उसके श्रद्धान नहीं है' ? इसका उत्तर कहते हैं –

अभव्यजन श्रद्धा करें रुचि धरें अर रच-पच रहें ।
जो धर्म भोग निमित्त हैं न कर्मक्षय में निमित्त जो ॥ २७५॥

गाथार्थ – [सः] वह (अभव्य जीव) [भोगनिमित्तं धर्मं] भोग के निमित्तरूप धर्म की ही [श्रद्दधाति च] श्रद्धा करता है, [प्रत्येति च] उसी की प्रतीति करता है, [रोचयति च] उसी की रुचि करता है [तथा पुनः स्पृशति च] और उसी का स्पर्श करता है, [न तु कर्मक्षयनिमित्तम्] परन्तु कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म को नहीं। (अर्थात् कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म की न तो श्रद्धा करता है, न उसकी प्रतीति करता है, न रुचि करता है और न उसका स्पर्श करता है।)

टीका – अभव्य जीव नित्यकर्मफलचेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है किन्तु नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तुकी श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह सदा (स्व-

पर के) भेदविज्ञान के अयोग्य है। इसलिये वह कर्मों से छूटने के निमित्तरूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता, (किन्तु) भोग के निमित्तरूप, शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है; इसीलिये वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन से ऊपर के ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता। इसलिये उसे भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है।

ऐसा होने से निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय का निषेध योग्य ही है।

भावार्थ – अभव्य जीव के भेदज्ञान होने की योग्यता न होने से वह कर्मफल-चेतना को जानता है किन्तु ज्ञानचेतना को नहीं जानता; इसलिये उसे शुद्ध आत्मिक धर्म की श्रद्धा नहीं है। वह शुभ कर्म को ही धर्म समझकर उसकी श्रद्धा करता है इसलिये उसके फलस्वरूप ग्रैवेयक तक के भोगों को प्राप्त होता है। किन्तु कर्मों का क्षय नहीं होता। इसप्रकार सत्यार्थ धर्म का श्रद्धान न होने से उसके श्रद्धान ही नहीं कहा जा सकता।

इसप्रकार व्यवहारनय के आश्रित अभव्य जीव को ज्ञान-श्रद्धान न होने से निश्चयनय द्वारा किया जानेवाला, व्यवहार का निषेध योग्य ही है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि – यह हेतुवादरूप अनुभवप्रधान ग्रन्थ है इसलिये इसमें अनुभव की अपेक्षा से भव्य अभव्य का निर्णय है। अब यदि इसे अहेतुवाद आगम के साथ मिलायें तो – अभव्य को व्यवहारनय के पक्ष का सूक्ष्म, केवलीगम्य आशय रह जाता है जो कि छद्मस्थ को अनुभवगोचर नहीं भी होता, मात्र सर्वज्ञदेव जानते हैं; इसप्रकार केवल व्यवहार का पक्ष रहने से उसके सर्वथा एकांतरूप मिथ्यात्व रहता है। इस व्यवहारनय के पक्ष का आशय अभव्य के सर्वथा कभी भी मिटता ही नहीं है।

गाथा २७५ की टीका पर प्रवचन

यहाँ शिष्य पूछता है कि, अभव्यों को धर्म का श्रद्धान तो होता है, फिर भी आप ऐसा क्यों कहते हो कि उसे श्रद्धान नहीं है ?

इसी प्रश्न के उत्तर में यह गाथा आचार्यदेव ने लिखी है। इसमें वे कहते हैं कि अभव्य जीव भोगों के निमित्त ही धर्म की श्रद्धा करता है, कर्मक्षय के निमित्त नहीं। यहाँ अभव्य को तो मात्र उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। वैसे देखा जाय तो अभव्य की भाँति भव्य जीवों ने भी यह सब अनन्त बार किया है। दिगम्बर जैन साधु होकर अनन्त बार नवमें ग्रैवेयक तक गया, पर आत्मज्ञान नहीं हुआ, अतः लेश मात्र भी सच्चा सुख नहीं मिला; क्योंकि वह मिथ्यादृष्टि ही रहा। इसकारण वहाँ भी नित्यकर्मफलचेतना का ही अनुभव करता रहा। नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं की। वह जीव भोग के हेतु मात्र से शुभकर्म रूप धर्म को ही करता है, स्वानुभव के हेतु से धर्म नहीं करता। शुभराग तो कर्मचेतना है, यह आत्मचेतना या शुद्ध ज्ञान चेतना नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि अभव्य जीव नित्य राग व राग के फल में ही चेतता है। उसे जो महाव्रत का भाव है, शास्त्रस्वाध्याय करने का भाव है; वह सब कर्मचेतना - राग में एकाकारपने का भाव है। उसे वह अपना कर्तव्य समझता है। उसका झुकाव नित्य ज्ञानचेतनामात्र वस्तु की ओर नहीं होता। पर सन्मुख होकर क्रियाकांड में पड़े रहनेवालों को स्वसन्मुख हुए बिना नित्य ज्ञानचेतनामात्र वस्तुस्वरूप का श्रद्धान कहाँ से हो ?

अभव्यजीव नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तु का श्रद्धान नहीं करता; क्योंकि वह सदा ही स्व-पर भेदविज्ञान के अयोग्य है। भगवान आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूपी नित्य ज्ञाता-दृष्टा प्रभु शुद्धज्ञानचेतनामात्र वस्तु है; परन्तु उस भगवान आत्मा को अभव्य जानता नहीं है, श्रद्धान नहीं करता। राग की क्रिया से;व्यवहार की क्रिया से लाभ होगा, धर्म होगा - ऐसा वह मानता है तथा सदैव कर्मचेतना से लिप्त रहता है; क्योंकि वह सदैव स्वपर का भेदज्ञानरूप विवेक करने में अक्षम है, अयोग्य है। अतः वह कितने भी व्रत-तप क्यों न करे। तो भी वह भगवान आत्मा का ज्ञान करने में अयोग्य है।

यहाँ कोई कहे कि अभव्य की अपेक्षा तो यह आपका कहना बराबर है; पर भव्य को तो व्रत-तप आदि करने से आत्मा का ज्ञान होता है न ?

बापू ! अभव्य का तो दृष्टान्त दिया है; भव्य जीवों ने भी ऐसे व्रत-तप-तीर्थयात्रा आदि व्यवहार धर्म अनन्तबार किये, उन्हें भी आजतक ज्ञानस्वभाव की प्राप्ति नहीं हुई। जबतक पुण्य की रुचि छोड़कर स्वरूप की रुचि नहीं करता, तबतक भव्य को भी भेदविज्ञान प्रगट नहीं होता।

मोक्षमार्गप्रकाशक में भी ऐसा ही प्रश्न उठाया है कि मिथ्यादृष्टि तपश्चरणादि क्रियायें करता है, व्यवहारधर्म की क्रियायें करता है, फिर भी उसे धर्म की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

वहाँ कहा है कि तपश्चरणादि व्यवहारधर्म में अनुरागी होकर प्रवर्तन करने का फल तो बंध है और वह उससे मोक्ष की इच्छा करता है; सो उस बाह्य क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति कैसे संभव है ? व्रत-तप आदि के परिणाम तो राग के परिणाम हैं न ? मिथ्यादृष्टि करे तो रागरूप कर्म और फल चाहे वीतरागतारूप धर्म का, तो यह कैसे हो सकता है ?

तू सर्वज्ञस्वभावी है न प्रभु ? तेरा स्वरूप ही 'ज्ञ' स्वभाव है, 'सर्वज्ञ' स्वभाव है। उसका ज्ञान-श्रद्धान तो करे नहीं और राग को भला जानकर उसमें ही अटका रहे सो यह तो स्वपर के भेदज्ञान के लिए अयोग्यता है। इसप्रकार अभव्य जीव भेदविज्ञान के लिए सदा ही अयोग्य है।

अब कहते हैं कि देखो, रागादि विकार से तथा जड़ कर्मों से छूटने में निमित्त ज्ञान की परिणति है। कर्म छूटते तो अपनी स्वयं की योग्यता से ही हैं, स्वयं के कारण से ही है; इन कर्मों के छूटने में ज्ञान की परिणति तो निमित्तरूप है।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु है। उसका शुद्ध ज्ञानमात्र परिणाम ही भूतार्थ है, सत्यार्थ धर्म है। यहाँ 'भूतार्थ' से त्रिकाली द्रव्य ग्रहण नहीं करना, किन्तु भूतार्थ भगवान आत्मा के आश्रय से जो आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान प्रगट होता है; उसे भूतार्थ धर्म कहा। अभव्य जीव इस भूतार्थ धर्म की तो श्रद्धा नहीं करता। वह तो भोग के निमित्तरूप शुभकर्ममात्र अभूतार्थ धर्म का ही श्रद्धान करता है।

देखो, शुद्ध चैतन्यघन आत्मा के आश्रय से जो ज्ञानमात्र परिणाम उत्पन्न होता है, वह कर्म से अर्थात् संसार से छूटने में निमित्त है; इसकारण उसे भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ धर्म कहा। तथा जो पर के आश्रय से शुभकर्ममात्र परिणाम होता है, वह बन्ध में एवं भोग में निमित्त है; इसकारण वह अभूतार्थ है ऐसा कहा। यहाँ यह कहते हैं कि अभव्य जीव शुभकर्मरूप मात्र अभूतार्थ धर्म का ही श्रद्धान करता है, सत्यार्थ धर्म का तो वह श्रद्धान करता ही नहीं है।

शुभभाव निश्चय से अशुद्धभाव ही है। तथा वह शुभभाव भोग सामग्री की उपलब्धि में निमित्तभूत पुण्यकर्म का निमित्त है। अभव्यजीव ऐसे शुभकर्म को तो धर्म मानता है और सत्यधर्म को, भूतार्थधर्म को जानता भी नहीं है। भूतार्थ अर्थात् ज्ञानमात्र भाव। ज्ञानमात्र भाव भूतार्थ है, सच्चा धर्म है। ज्ञानमात्र अर्थात् एक ज्ञायकभाव स्वरूप वस्तु; अकेला चैतन्य का बिम्ब; जो कि अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप से त्रिकाल विराजमान है, उसका ज्ञान-श्रद्धान तथा उसी में ही लीनता-रमणता होने रूप भाव को यहाँ ज्ञानमात्र कहा है, इस ज्ञानमात्र भाव में राग नहीं है, इसलिए इसे ज्ञानमय कहा गया है।

प्रश्न – आप आत्मा को ज्ञानमात्र कहते हो तो श्रद्धान व चारित्र कहाँ गया ?

उत्तर – अरे भाई ! यहाँ शुद्ध, चिद्रूप, त्रिकाल ध्रुव, एक ज्ञायकभावरूप आत्मा की श्रद्धा, सन्मुखता एवं उसी आत्मा में रमणता को यहाँ 'ज्ञानमात्र' कहा है । राग के अभावरूप आत्मा की मुख्यता से आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहा है। अर्थात् आत्मा रागादि विकार से रहित 'ज्ञानमात्र' है।

अभव्य जीव निमित्तरूप 'शुभकर्म मात्र' अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा करते हैं। इस प्रकरण में कुछ लोग 'कर्म' शब्द का अर्थ मात्र जड़कर्म करते हैं। पर यहाँ यह अर्थ नहीं हो सकता। पुण्य-पाप अधिकार में आ भी गया है कि व्रत-तप-शील-नियम आदि सभी शुभकर्म हैं अर्थात् शुभराग रूप विकल्प हैं। ये बंध के कारण हैं, इसी कारण इन्हें अभूतार्थ कहा है, मिथ्याधर्म कहा है। अर्थात्

ये धर्म नहीं हैं, धर्म के कारण भी नहीं हैं। इन्हें तो अभव्यों ने भी अनन्तबार किया, फिर भी उनका एक भी भव कम नहीं हुआ।

यहाँ तो ऐसा सीधा ही कहा है कि शुभराग के परिणाम से नवग्रैवेयक के भोगों को प्राप्त करते हैं। पर वास्तव में तो वे शुभपरिणाम नवीन कर्मबन्ध के निमित्त मात्र हैं तथा कर्मों का उदय भोगसामग्री प्राप्त होने में निमित्त मात्र हैं। उपादान तो अपना-अपना स्वतंत्र है। शुभराग के स्पर्शन-अनुभवन से अज्ञानी नवग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त करता है, किन्तु कर्मों से कदापि छूटता नहीं है।

देखा, शुभभाव चैतन्य भगवान से विरुद्ध भाव है। इसे धर्म मानकर आचरण करनेवाला किसी समय भी कर्मों से नहीं छूटता।

जो लोग शुभभाव को धर्म का कारण कहते हैं, उन्हें आचार्यों के उपर्युक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए। बापू ! धर्म व सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। वह शुभभाव से नहीं मिलती। शुभभाव कारण व सम्यग्दर्शन कार्य - यह त्रिकाल संभव नहीं है। सम्यग्दर्शन तो एकमात्र अपने अन्दर में विराजमान त्रिकाली चिन्मात्र ज्योति भगवान आत्मा - कारण परमात्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है। अहो ! अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार में परमामृत घोल दिया है।

अब कहते हैं कि ऐसा होने से निश्चयनय द्वारा व्यवहारनय का निषेध योग्य ही है।

देखो, यह सिद्धान्त नक्की किया कि ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर भी आत्मज्ञान बिना सम्यक्श्रद्धान व सम्यग्ज्ञान नहीं होता एवं शुभाचरण से धर्म नहीं होता। दूसरे, निश्चय द्वारा व्यवहार का निषेध योग्य ही है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि मदिरा पीने वालों के सामने मदिरापान का निषेध करें तो उसे बुरा लगता ही है, इसीप्रकार पुण्य या व्यवहार की रुचिवालों के सामने पुण्य व व्यवहार का निषेध करें तो उन्हें बुरा लगना स्वाभाविक ही है। परन्तु निषेध करने के सिवाय कोई उपाय भी तो नहीं है।

इस विवेचन से ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए कि कोई शुभ को संसार का कारण मानकर शुभ की प्रवृत्ति छोड़कर अशुभ प्रवृत्ति करने लगेगा।

भाई ! तुझे खबर नहीं है, ज्ञानी को तो भूमिका के अनुसार शुभभाव आये बिना रहता ही नहीं है। मोक्षमार्ग के क्रम में शुभराग आता तो अवश्य है, पर वह हेयपने ही आता है। उसे ज्ञानी उपादेय करने योग्य नहीं मानते।

आता तो ज्ञानी व अज्ञानी दोनों को ही है, पर अज्ञानी उसे ही धर्म मानकर बैठ जाता है और ज्ञानी उसे राग-पुण्यबंध का कारण भोगों का निमित्त जानकर उसे हेय रूप से आचरते हुए उसके भी ज्ञाता-दृष्टा बने रहते हैं।

गाथा २७५ भावार्थ पर प्रवचन

भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु, एक, चिद्रूप-ज्ञानस्वरूप है। उसमें एकाग्रता ही ज्ञानचेतना है, सत्यार्थ धर्म है। अभव्य मिथ्यादृष्टि ऐसे ज्ञानचेतनास्वरूप अपने आत्मा को नहीं जानता।

पण्डित बनारसीदासकृत परमार्थवचनिका में आया है कि मूढ़ जीवों को आगम पद्धति सुगम है, इससे वे उसका अधिक अनुशरण करते हैं। अध्यात्मपद्धति को वे वस्तुतः जानते ही नहीं है। व्रत, शील, तप आदि में सावधानपना आगमपद्धति है और सुगम होने से वे इसका ही चिरकाल से आचरण कर रहे हैं। तथा इसी में संतुष्ट रहने के कारण अध्यात्म को जानने का वे प्रयत्न ही नहीं करते, इसकारण जानते ही नहीं हैं।

त्रिकाली भगवान आत्मवस्तु में एकाग्रता के निश्चय तथा उसके आश्रय से जो परिणति होती है, वह अध्यात्म का व्यवहार है, उसे ही यहाँ ज्ञानचेतना कहा है। अभव्य जीव उस ज्ञानचेतना को नहीं जानते। वे शुभकर्म को ही धर्म समझते हैं, 'शुभकर्म' का अर्थ जड़कर्म नहीं, बल्कि शुभभाव-पुण्यभाव है। शुभभावरूप कर्म चेतना को यहाँ शुभकर्म कहा है।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि शुभकर्म कहकर शुभभावों का भी निषेध किया है। तात्पर्य यह है कि शुभभाव धर्म नहीं है, धर्म का कारण भी नहीं है।

देखो, अज्ञानी को अकेली कर्मधारा है और भगवान केवली को अकेली ज्ञानधारा है। तथा ज्ञानी को ज्ञानधारा व कर्मधारा - दोनों ही होती हैं। यद्यपि ज्ञानी के ज्ञानमय परिणमन है, परन्तु अपूर्णदशा में ज्ञान की पूर्णता न होने से अथवा द्रव्य का पूर्ण आश्रय नहीं होने से पुरुषार्थ की कमजोरी में शुभभाव आये विना नहीं रहता। इसकारण ज्ञानी के ज्ञानधारा व कर्मधारा - दोनों होती हैं। उनमें ज्ञानधारा धर्म है तथा कर्मधारा अधर्म है।

आत्मावलोकन में आया है कि ज्ञानी को धर्म व अधर्म दोनों है। वस्तु के स्वभाव का आश्रय धर्म है तथा राग वस्तुस्वभाव से विरुद्ध होने से राग अधर्म है।

अभव्य को भेदज्ञान की अयोग्यता होने से वह शुभकर्मों को ही धर्म समझकर श्रद्धान करता है और उसके फल में नववें ग्रैवेयक तक के भोगों को प्राप्त कर लेता है, परन्तु उसके कर्मों का क्षय नहीं होता। कर्मक्षय हो भी कहाँ से? शुभकर्म तो बंधभाव है न ?

यहाँ कोई यह कह सकता है कि इससे कम से कम पाप तो घटता है और पुण्य बढ़ता है, इतना लाभ तो होता है न ?

उत्तर में आचार्य कहते हैं कि अरे भाई ! आखिर हैं तो दोनों बन्धनरूप ही न ? इससे कर्मक्षय कैसे हो सकता है ? तथा जिसे सत्य का श्रद्धान नहीं है, उसे तो श्रद्धान ही नहीं है - ऐसा कहा जाता है।

इसप्रकार व्यवहारनयाश्रित अभव्य जीवों को ज्ञान-श्रद्धान नहीं होने से निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय निषेध योग्य ही है।

पण्डित जयचन्दजी छावड़ा भावार्थ में यहाँ कहते हैं कि इतना विशेष जानना कि यह हेतुवाद रूप अनुभवप्रधान ग्रंथ है, इसकारण इसमें भव्य-अभव्य के अनुभव के अपेक्षा से निर्णय है।

अब कहते हैं कि यदि इसे आगम के साथ मिलायें तो अभव्य को व्यवहारनय के पक्ष का सूक्ष्म-केवलीगम्य आशय रह जाता है, जो छद्मस्थ के अनुभवगोचर नहीं होता। केवलीगम्य कहने का अभिप्राय यह है कि वह भूल

भरा आशय अति सूक्ष्म होता है, तो जनसामान्य के लक्ष्य में नहीं आता। इसका ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं करना कि केवली के सिवाय किसी छद्मस्थ के ज्ञान में आता ही नहीं है। कोई विशेष उपयोग एकाग्र करे तो छदमस्थ के ज्ञान में भी वह व्यवहारपक्ष का भूल भरा आशय आ सकता है।

'मात्र सर्वज्ञदेव जाने' यह कहने का आशय यह है कि सर्वज्ञ भगवान विशेष स्पष्ट जानते हैं। पंचाध्यायी में ऐसा कहा है कि 'सम्यग्दर्शन को भगवान केवली जान सकते हैं' - वहाँ उनके कहने का आशय यह है कि सम्यग्दर्शन अवधि, मनःपर्यय व मतिज्ञान का विषय नहीं है। पर यहाँ वेदन की अपेक्षा से कहा गया है। अनुभूति के साथ अविनाभावी समकित होता है, तो अनुभूति के साथ समकित का ज्ञान भी होता है, समकित को वह बराबर जान सकता है।

अब कहते हैं कि व्यवहार होता है - यह बात जुदी है, व्यवहार तो ज्ञानी को व मुनिराजों को भी होता है, परन्तु व्यवहार का पक्ष ज्ञानी या मुनिराजों को नहीं होता। व्यवहार का पक्ष होना तो सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यात्व है।

'व्यवहार से धर्म होता है' - ऐसा मानना सर्वथा एकान्त पक्ष है। और अभव्यों को ऐसा व्यवहार का पक्ष कभी मिटता ही नहीं है। इसकारण उनके संसार का परिभ्रमण सदा बना ही रहता है।

अहा ! जबतक सच्चे मार्ग को पहचान कर स्वरूप का लक्ष्य नहीं करेगा, तबतक चौरासी का चक्कर बना ही रहेगा और कषायाग्नि में जलता ही रहेगा। इन संयोगों की जगमगाहट में तू अपने स्वरूप को भूल गया है, पर जिसप्रकार सन्निपात का रोगी जब हँसता है, तब भी दु:खी ही है, ठीक इसीप्रकार श्रद्धा-ज्ञान-आचरण - इन तीनों का सन्निपात तुझे हो गया है, अत: अपने स्वरूप को जानने में, सत्य को समझने में सावधान हो जा।

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवणिकं च तहा भणदि चरित्तं तु ववहारो ॥ २७६ ॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥ २७७ ॥

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयम् ।
षड्जीवनिकायं च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥ २७६ ॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च ।
आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो योगः ॥ २७७ ॥

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वाज्ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्रयत्वाद्दर्शनं, षड्जीवनिकायश्चारित्रस्याश्रयत्वाच्चारित्रमिति व्यवहारः। शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाज्ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्राश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः। तत्राचारादीनां ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यानैकांतिकत्वाद्व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकांतिकत्वात्तत्प्रतिषेधकः। तथाहि–नाचारादिशब्दश्रुतमेकांतेन ज्ञानस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात; न च जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्; न च षड्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात्। शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादि शब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव दर्शनस्याश्रयः, जीवादिपदार्थसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रयः, षड्जीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात्।

अब यह प्रश्न होता है कि "निश्चयनय के द्वारा निषेध्य व्यवहारनय, और व्यवहारनय का निषेधक निश्चयनय वे दोनों नय कैसे हैं ?" अतः व्यवहार और निश्चयनय का स्वरूप कहते हैं –

जीवादि का श्रद्धान दर्शन शास्त्र-अध्ययन ज्ञान है ।
चारित्र है षट्काय रक्षा यह कथन व्यवहार है ॥ २७६॥
निज आतमा ही ज्ञान है दर्शन चरित भी आतमा ।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी है आतमा ॥ २७७॥

गाथार्थ – [आचारादि] आचारांगद शास्त्र [ज्ञानं] ज्ञान है, [जीवादि] जीवादि तत्त्व [दर्शनं विज्ञेयं च] दर्शन जानना चाहिये [च] तथा [षड्जीवनिकायं] छह जीव-निकाय [चरित्रं] चारित्र है – [तथा तु] ऐसा तो [व्यवहारः भणति] व्यवहारनय कहता है।

[खलु] निश्चय से [मम आत्मा] मेरा आत्मा ही [ज्ञानम्] ज्ञान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [दर्शनं चारित्रं च] दर्शन और चारित्र है, [आत्मा] मेरा आत्मा ही [प्रत्याख्यानम्] प्रत्याख्यान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [संवरःयोगः] संवर और योग (- समाधि, ध्यान) है।

टीका – आचारांगादि शब्दश्रुतज्ञान है क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञान का आश्रय है, जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं क्योंकि वे (नव पदार्थ) दर्शन के आश्रय हैं, और छह जीव-निकाय चारित्र है क्योंकि वह (छह जीवनिकाय) चारित्र का आश्रय है; इसप्रकार व्यवहार है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है क्योंकि वह (शुद्धात्मा) ज्ञान का आश्रय है, शुद्ध आत्मा दर्शन है क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है, और शुद्ध आत्मा चारित्र है क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है; इसप्रकार निश्चय है। इनमें, व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है, क्योंकि आचारांगादि को ज्ञानादि का आश्रयत्व अनैकान्तिक है - व्यभिचारयुक्त है; (शब्दश्रुतादि को ज्ञानादि का आश्रयस्वरूप मानने में व्यभिचार आता है क्योंकि शब्दश्रुतादि के होने पर भी ज्ञानादि नहीं भी होते, इसलिये व्यवहारनय प्रतिषेध्य है;) और निश्चयनय व्यवहारनय का प्रतिषेधक है, क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानादि का आश्रयत्व ऐकान्तिक है। (शुद्ध आत्मा को ज्ञानादिक आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता ही है।) यही बात हेतुपूर्वक समझाई जाती है :-

आचारांगादि शब्दश्रुत एकान्त से ज्ञान का आश्रय नहीं है, क्योंकि उसके (अर्थात् शब्दश्रुत के) सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण ज्ञान का अभाव है; जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण दर्शन का अभाव है; छह जीव-निकाय चारित्र के आश्रय नहीं है, क्योंकि उनके सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण चारित्र का अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है, क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुत के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (- शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही ज्ञान का सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही दर्शन का आश्रय है, क्योंकि जीवादि नवपदार्थों के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (- शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही दर्शन का सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है, क्योंकि छह जीव-निकाय के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव होता है।

भावार्थ – आचारांगादि शब्दश्रुत का ज्ञान, जीवादि नव पदार्थों का श्रद्धान तथा छह काय के जीवों की रक्षा - इन सबके होते हुये भी अभव्य के ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होते, इसलिये व्यवहारनय तो निषेध्य है। और जहाँ शुद्धात्मा होता है वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र होता ही है, इसलिये निश्चयनय व्यवहार का निषेधक है। अतः शुद्धनय उपादेय कहा गया है।

गाथा २७६ व २७७, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ 'आचारांगादि' शब्द से वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत दिगम्बर जैनदर्शन के आचारांग आदि शास्त्रों को निमित्तरूप में लिया गया है। कहा है कि आचारांगादि शास्त्रों का ज्ञान शब्दश्रुत है, अतः व्यवहारज्ञान है और निषेद्य है; क्योंकि वे आचारांगादि व्यवहार ज्ञान के आश्रय हैं। जिसज्ञान की पर्याय में भगवान आत्मा आश्रयभूत या निमित्त न होकर 'शब्दश्रुत' निमित्त हो, वह शब्द श्रुतज्ञान व्यवहार है और निषेध करने योग्य है।

जीव, अजीव, आस्रव आदि नव पदार्थ दर्शन हैं, जैसा शब्दश्रुत ज्ञान है वैसा ही जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं; क्योंकि जीवादि भेदरूप नव पदार्थ दर्शन

के आश्रय हैं, इसलिए सात तत्त्व या नव पदार्थ दर्शन हैं। यह व्यवहार है। यह व्यवहारदर्शन निषेध है।

प्रश्न – जीवादि नव पदार्थों में संवर, निर्जरा व मोक्ष भी तो आये हैं न ?

उत्तर – हाँ, आये हैं, परन्तु वे भेदरूप आये हैं, इसकारण वे व्यवहार हैं। व्यवहार श्रद्धान के या व्यवहार समकित के ये नव पदार्थ निमित्त, आश्रय, हेतु या कारण हैं; इसलिए नव पदार्थ व्यवहार से सम्यग्दर्शन हैं।

प्रश्न – तत्वार्थसूत्र में भी तो 'तत्वार्थश्रद्धानम्' तथा 'जीवाजीवास्त्रवबंध' इन दो सूत्रों में इसीप्रकार कहा है न ?

उत्तर – हाँ, कहा है; परन्तु वहाँ निश्चय समकित की बात है। वहाँ नवभेद कहकर भी एक वचन के प्रयोग द्वारा नवभेद रूप पदार्थों से भिन्न शुद्धनय के बल से प्राप्त अभेद एकरूप ज्ञायकभावमात्र आत्मा के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहकर निश्चयसम्यग्दर्शन की बात कही है।

यहाँ तो नव भेद कहकर नव पदार्थ कहे हैं। एक आत्मा नहीं, बल्कि जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं - ऐसा यहाँ स्पष्ट कहा है। अतः यह व्यवहार दर्शन है, क्योंकि इनका आश्रय (निमित्त) भेदरूप नव पदार्थ है। व्यवहार समकित का विषय, आश्रय, हेतु, आधार, भेदरूप नव पदार्थ हैं। अतः निषेध करने योग्य हैं।

अब कहते हैं कि 'छह जीव निकाय चारित्र है' यह भाषा तो देखो ! छहकाय के जीवों का समूह चारित्र है।' - ऐसा कह रहे हैं। यहाँ पाँच महाव्रतादि के विकल्परूप व्यवहार चारित्र की बात है।

प्रश्न – फिर भी 'छहनिकाय' को चारित्र क्यों कहा ?

उत्तर – ये व्यवहार चारित्र के जो विकल्प हैं न ! इनका आश्रय छहजीव निकाय हैं। अतः पाँच महाव्रत के परिणामों को चारित्र न कहकर इन परिणामों में जो छह निकाय निमित्त हैं, उन छहजीव निकाय को ही चारित्र कह दिया है।

अहा ! यह सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है कि जो छह जीव निकाय की श्रद्धा है, यही जीव निकाय का ज्ञान है तथा जो छह

जीवनिकाय की रक्षा की ओर के ढलन (झुकाव) वाला चारित्र है। वह सब व्यवहार हैं।

अहा ! निगोद के एक शरीर में अनन्त जीव, अंगुल के असंख्यात भाग में असंख्य औदारिक शरीर और एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव; अहा ! सम्पूर्ण लोक ऐसे निगोदिया जीवों से भरा है। सभी निगोदिया जीव स्वभावदृष्टि से भगवान स्वरूप हैं; परन्तु ये सब भेदज्ञान की दृष्टि वालों की दृष्टि में स्पष्ट परद्रव्य रूप ही दिखाई देते हैं। इसकारण छहकाय की श्रद्धा व्यवहारश्रद्धा है, छहकाय का ज्ञान व्यवहारज्ञान है तथा छहकाय के लक्ष्य से महाव्रतों का पालन करना व्यवहारचारित्र है।

यह तो व्यवहार की अपेक्षा कथन हुआ। अब निश्चय की अपेक्षा बात करते हैं - शुद्ध आत्मा ज्ञान है; क्योंकि शुद्ध आत्मा ज्ञान का आश्रय है। यह निश्चयज्ञान, सत्यार्थज्ञान, सम्यग्ज्ञान की बात है। व्यवहार श्रुतज्ञान में जिसतरह शब्द निमित्त थे, उसीतरह यहाँ शुद्धात्मा निमित्त हैं - आश्रय है।

शुद्ध आत्मा ज्ञान है; क्योंकि निश्चयज्ञान का हेतु-आश्रय शुद्ध आत्मा है। त्रिकाली एक ज्ञायकमूर्ति सच्चिदानन्द प्रभु ज्ञान का आश्रय है, इसलिए वह सम्यग्ज्ञान है।

अहा ! जिस ज्ञान में आत्मा हेतु, करण या आश्रय न हो, वह ज्ञान वस्तुतः ज्ञान ही नहीं है। कहा भी है - "आदा खु मज्झज्ञानं" - निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है। आत्मा व ज्ञान दोनों अभिन्न हैं।

प्रश्न – यदि दोनों एक ही हैं तो सम्यग्ज्ञान का कारण-आश्रय आत्मा को क्यों कहा ?

उत्तर – भाई ! त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा सम्पूर्ण वस्तु है, ज्ञान की पर्याय में वह सम्पूर्ण वस्तु तो आ नहीं जाती, किन्तु शुद्ध आत्मवस्तु अपनी ज्ञान की पर्याय में कारण या आश्रय रूप होकर जैसी-जितनी है, उसका सम्पूर्ण ज्ञान उस ज्ञान-पर्याय में आ जाता है। तात्पर्य यह हैं कि ज्ञान की पर्याय में अनन्त-अनन्त गुण सामर्थ्य से युक्त परिपूर्ण शुद्ध आत्मा जैसा/जितना है, पूरा

का पूरा जानने में आ जाता है। उसे ही यहाँ अभेद विवक्षा से ऐसा कहा है कि शुद्ध आत्मा ज्ञान ही है, आत्मा व ज्ञान अभिन्न हैं।

शुद्धात्मा का ज्ञान होने में कारण - आश्रय शुद्ध आत्मा है, इसलिए कहा है कि शुद्ध आत्मा ज्ञान है। वह यथार्थज्ञान है कि जिस ज्ञान की पर्याय में परिपूर्ण भगवान आत्मा ज्ञात होता है, परन्तु परिपूर्ण भगवान आत्मा त्रिकाली प्रभु पर्याय में नहीं आता। इसकारण शुद्ध आत्मा को ज्ञान का हेतु - आश्रय एवं निमित्त कहा है।

प्रश्न – पंचास्तिकाय आदि शास्त्रों में भिन्न साध्य-साधन कहा है न ? व्यवहार साधन व निश्चय साध्य - ऐसा कहा है न ? और यहाँ व्यवहार का निषेध किया जा रहा है। इन दोनों परस्पर विरोधी बातों में सुमेल कैसे हो ?

उत्तर – जहाँ भिन्न साध्य-साधन कहा है; वहाँ अभूतार्थनय से, व्यवहार उपचार करके कहा है। जैसा कि यहाँ निश्चयनय से कहा कि शुद्ध आत्मा ज्ञान है; क्योंकि ज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा है और शुद्ध आत्मा व ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। उसीप्रकार पहले 'शब्दश्रुत ज्ञान है' - ऐसा जो कहा - वह व्यवहार है; क्योंकि उस ज्ञान का आश्रय आत्मा नहीं, बल्कि भिन्न शब्दश्रुत है। तथा जिस ज्ञान में आत्मा जानने में न आवे, वह ज्ञान किस काम का ? इसकारण निश्चय आत्मज्ञान द्वारा व्यवहार शब्दश्रुतज्ञान निषेध करने लायक ही है।

आचारांगादि शब्दश्रुतज्ञान को व्यवहार व आत्मज्ञान को निश्चय कहने का तात्पर्य यह है कि आचारांगादि व्यवहार ज्ञान में शब्दश्रुत निमित्त है। उस आचारांगादि में शब्दश्रुत जानने में आया, पर आत्मा जानने में नहीं आया; इसकारण उसे व्यवहार कहा । तथा सत्यार्थज्ञान में, निश्चयज्ञान में परिपूर्ण भगवान आत्मा जानने में आया; इसकारण इसे निश्चय कहा। शब्दश्रुत ज्ञान तो विकल्प है। वास्तविक रूप से देखें तो वह तो बंध का कारण है।

जो ज्ञान त्रिकाली शुद्ध आत्मा को जानता है, वह यथार्थ ज्ञान है। तथा शुद्ध को जानने वाले ज्ञान को शुद्ध का आश्रय होता है।

वैसे तो आत्मा व ज्ञान – दोनों में एक द्रव्य है व दूसरी पर्याय है – इसप्रकार दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, फिर भी 'आत्मा ही ज्ञान है' – इसमें यद्यपि आत्मा द्रव्य व ज्ञान पर्याय – इसप्रकार भिन्न होने से दोनों एक नहीं हैं, तथापि 'शुद्ध आत्मा ज्ञान है' – ऐसा जो कहा है, उसका कारण यह है कि ज्ञान की पर्याय ने आत्मा को ही जाना तथा आत्मा के आश्रय से ही आत्मा को जाना, इसकारण 'शुद्ध आत्मा ज्ञान है' – ऐसा अभेदनय से कहा है ।

अब दूसरा बोल – शुद्धात्मा दर्शन है अर्थात् शुद्धात्मा समकित है। पहले जीवादि नव पदार्थों को दर्शन कहा था; क्योंकि नव पदार्थ दर्शन के आश्रय हैं। दर्शन में – श्रद्धान में शुद्ध आत्मा का ही श्रद्धान किया है, श्रद्धा की पर्याय में भगवान शुद्धात्मा ही हेतु-आश्रय हुआ है। यह निश्चय श्रद्धान व निश्चय सम्यग्दर्शन है। तथा इनका हेतु-आश्रय शुद्ध आत्मा ही होता है। इसकारण यहाँ कहा है कि शुद्धात्मा दर्शन है।

प्रश्न – एक ओर समकित की पर्याय व शुद्ध आत्मा – दोनों को भिन्न-भिन्न कहते हो और आत्मा (द्रव्य) पर्याय का दाता नहीं है – ऐसा कहते हो और दूसरी ओर यहाँ शुद्ध आत्मा दर्शन है – ऐसा कहते हो, यह सब परस्पर विरुद्ध कथन कैसे संभव है ?

उत्तर – भाई ! इस श्रद्धा की पर्याय में आत्मा (त्रिकाली द्रव्य) आता नहीं है और पर्याय आत्मा से (द्रव्य से) होती नहीं है, वह अपने उपादान की जागृति से स्वतः होती है। सम्यग्दर्शन को त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ने प्रगट नहीं किया; किन्तु सम्यग्दर्शन पर्याय का आश्रय-हेतु-कारण-निमित्त शुद्ध आत्मा (त्रिकाली द्रव्य) ही है; इसकारण 'शुद्ध आत्मा दर्शन है' – ऐसा अभेदनय से कहा गया है। वस्तुतः देखा जाय तो द्रव्य व पर्याय – दोनों स्वतंत्र हैं।

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् सत्" – ऐसा जो मोक्षशास्त्र में कहा है न ? वे तीनों ही स्वयं – स्वतंत्र सत् हैं। एक सत् दूसरे सत् का परमार्थतः हेतु नहीं है। सम्यग्दर्शन का आश्रयरूप कारण – (हेतु) द्रव्य है – यह जुदी बात है।

पर आत्मद्रव्य से सम्यग्दर्शन की पर्याय उत्पन्न हुई हो - ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन में आत्मा का मात्र श्रद्धान किया गया है। सम्यग्दर्शन का आत्मा मात्र आश्रयभूत-निमित्त है, इसलिए 'शुद्धात्मा दर्शन है' - ऐसा अभेदनय से कहा गया है।

बापू ! सम्यग्दर्शन का उपादान तो सम्यग्दर्शन की पर्याय स्वयं है। तथा उसमें निमित्त-आश्रय-हेतु त्रिकाली भगवान शुद्ध आत्मा है। तथा उसमें सम्पूर्ण भगवान आत्मा श्रद्धान में आत्मा है, श्रद्धेय बनता है, इसकारण कहा है कि 'शुद्धात्मा दर्शन है।'

११वीं गाथा में आता है कि भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। अहा ! समकित तो स्वतः है, किन्तु वह भूतार्थ के आश्रय से होता है। भूतार्थ के आश्रय से होते हुए भी जिसतरह यह दर्शन की पर्याय द्रव्य में नहीं जाती, उसीतरह त्रिकाली द्रव्य प्रभु आत्मा भी दर्शन की पर्याय में नहीं आती। परस्पर स्पर्श किए बिना श्रद्धा की पर्याय में सम्पूर्ण त्रिकाली द्रव्य का श्रद्धान आ जाता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन भी समय-समय में पलटता होने से, यदि द्रव्य श्रद्धान की पर्याय में आवे तो सम्पूर्ण आत्मा (द्रव्य) पलट जाय। परन्तु ऐसा कभी संभव ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि यद्यपि सम्यग्दर्शन का आश्रयभूत-निमित्त द्रव्य है, तथापि आत्मद्रव्य व श्रद्धा की पर्याय-सम्यग्दर्शन भिन्न-भिन्न हैं। सम्यग्दर्शन पर्याय में द्रव्य आता ही नहीं है; पर्याय को द्रव्य स्पर्शता ही नहीं है। तथा जिस पर्याय ने त्रिकाली द्रव्य की प्रतीति की है, वह भी द्रव्य का स्पर्श नहीं करती।

अब तीसरा बोल - 'शुद्ध आत्मा चारित्र है' यह इसकारण कहा कि शुद्ध आत्मा चारित्र का आश्रय है! परम पवित्र त्रिकाली एक शुद्ध ज्ञायकभावमय सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा चारित्र का आश्रय है। यह वीतरागभावरूप निश्चयचारित्र है।

पहले तो 'छह जीव निकाय चारित्र है' - ऐसा जो कहा, वह व्यवहार चारित्र की अपेक्षा कहा; क्योंकि उसका आश्रय भगवान आत्मा नहीं, बल्कि

छह जीवनिकाय है। वस्तुतः जो वह व्यवहार चारित्र है, वह विकल्प है, राग है, वंध की पंक्ति में है। जबकि यह जो वीतराग परिणति रूप निश्चयचारित्र है उसका आश्रय-निमित्त स्व-स्वरूप त्रिकाली शुद्ध आत्मा है। वह अबन्ध है, मोक्ष का कारण है।

जहाँ तक पूर्ण वीतरागता न हो, वहाँ तक व्यवहार के विकल्प आते हैं, पर वे निषेध करने योग्य ही हैं।

प्रश्न – पंचमहाव्रत के परिणाम चारित्र हैं कि नहीं ?

उत्तर – नहीं हैं, यह वास्तविक चारित्र नहीं। अहा ! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर वेदन हो, अनुभव हो, वह वास्तविक चारित्र है। ज्ञानी के यह महाव्रतादिरूप व्यवहारचारित्र भी होता अवश्य है, पर ज्ञानी उसमें तद्रूप-एकमेक नहीं होते।

निश्चयचारित्र जो अतीन्द्रिय आनन्द की रमणतारूप है, उसका आश्रय आनन्दमूर्ति शुद्ध आत्मा है। चारित्र का उपादान तो चारित्र की वीतरागी पर्याय स्वयं है। पर उसका निमित्त-आश्रय भगवान त्रिकाली शुद्धात्मा है। भाई ! मोक्षमार्ग का आश्रय मोक्ष का मार्ग नहीं है, किन्तु उसका आश्रय-ध्येय भगवान् आत्मा है। ३२०वीं गाथा में आता है कि सम्यग्दर्शन का ध्येय सम्यग्दर्शन नहीं, वरन् त्रिकाली शुद्ध आत्मा है। जब सच्चा-निश्चय मोक्षमार्ग भी ध्येय नहीं है तो व्यवहार के विकल्प तो कैसे हो सकेंगे ? वे तो बन्ध के ही कारण हैं।

इस स्थिति में 'व्यवहार से निश्चय होता है' ऐसा जो हो-हल्ला वर्तमान में हो रहा है, वह तो बात ही कहाँ रही ? भाई ! यह तो आगम के आलोक में गंभीरता से विचार करने की बात है। कोरे हो-हल्ला करने से सत्य बात हाथ नहीं आयेगी।

११वीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहा था, उसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहार है ही नहीं अथवा सर्वथा असत्यार्थ है। है तो अवश्य, पर उसे गौण करके निषेध किया है, अभावरूप निषेध नहीं समझना चाहिए। वहाँ तो मोक्षमार्ग की पर्याय को भी असत्यार्थ कहा है। सो उसे भी गौण ही किया है।

उसका भी अभाव रूप निषेध नहीं समझना चाहिए। इसप्रकार व्यवहार निषेध्य है एवं निश्चय आदरणीय है।

अब कहते हैं कि व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है; कारण कि आचारांग आदि को ज्ञानादि का आश्रयपना अनैकांतिक है - व्यभिचारयुक्त है - सदोष हैं।

देखो, अज्ञानी के तो अकेला रागमय परिणमन है, उसके न तो व्यवहार होता है और न निश्चय ही। व्यवहार मात्र उन ज्ञानी के ही होता है, जिनके निश्चयस्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव है। वह व्यवहार ज्ञानी के निषेध्य है। ये शब्दश्रुत का ज्ञान, नवतत्व का भेदरूप श्रद्धान व छह जीवनिकाय की रक्षा का विकल्प अर्थात् पंचमहाव्रत का परिणाम ज्ञानी के निषेध्य है, हेय है - ऐसा कहा है; क्योंकि ये मोक्ष के कारण नहीं है।

यद्यपि व्यवहार को निश्चय का साधन भी कहा गया है, पर वास्तव में तो शुद्ध रत्नत्रयधारी के अन्दर में जो स्वरूप स्थिरता हुई है, वही वास्तविक साधन है। तथा उस काल में उसे जो व्रतादि का राग होता है, उसे सहचर देखकर उपचार से उस व्रतादि के व्यवहार को साधन कहा जाता है। वस्तुतः यह शुभरागरूप व्यवहार निश्चय का साधन नहीं है, बल्कि यह तो हेय है, प्रतिषेध्य है।

देखो, शब्द श्रुतज्ञानरूप ज्ञान, नवतत्व की श्रद्धारूप दर्शन तथा छहनिकाय की दया के भावरूप चारित्र - इसप्रकार तीनों के रहते हुए भी आत्माश्रित निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होने का नियम नहीं है, इसकारण वे तीनों ही प्रकार का व्यवहार निषेध करने लायक है।

जो निश्चय के वास्तविक साधन तो नहीं हैं, किन्तु उसके सहचर आदि हैं; इसकारण उन्हें उपचार से व्यवहार कह दिया जाता है। देखो, पहले कहा था कि 'स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः' वहाँ निश्चय स्वाश्रित होने से सत्यार्थ व व्यवहार पराश्रित होने से असत्यार्थ है। अब कहते हैं कि जिसके

निश्चय होता है, उसके व्यवहार तो होता ही है, पर जिसके व्यवहार हो उसके निश्चय होने का कोई नियम नहीं है अर्थात् व्यवहार निश्चय का नियामक कारण नहीं है; क्योंकि अभव्यों ने अनंतबार व्यवहार का पालन किया, पर उन्हें निश्चयधर्म प्रगट नहीं हुआ। अतः वह वस्तुतः कारण ही नहीं है, मात्र सहचारी होने से उसे उपचार से कारण कहा गया है। अतः व्यवहार प्रतिषेध्य है।

जिसको 'स्व' के आश्रय से आत्मज्ञान होता है, उसे उस काल में शब्दश्रुत आदि व्यवहार होता है। जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं हुई हो - ऐसी साधकदशा में आत्मा का ज्ञान, आत्मदर्शन व आत्मा का चारित्र हो, तब उसके साथ शब्दश्रुत आदि व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र का राग होता है। ऐसा राग भावलिंगी मुनिराज के भी होता है, परन्तु यहाँ यह कहते हैं कि इस राग के आश्रय से निश्चय-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं होता। निश्चयधर्म व्रत-तप आदि व्यवहार के आश्रय से प्रगट नहीं होता, स्वस्वरूप के आश्रय से ही प्रगट होता है। इसलिए व्यवहार प्रतिषेध्य है।

भाई! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है। बापू ! अन्दर भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध नित्यानन्दमय एक ज्ञायकभावरूप परमपारिणामिकभाव से नित्य विराजमान है, वह ही सम्यग्दर्शन का विषय व ध्येय है। इस पूर्ण परमात्मा का दर्शन ही जैनदर्शन है।

शुद्ध आत्मा का ज्ञान, शुद्ध आत्मा का दर्शन, शुद्ध आत्मा का चारित्र-शुद्धरत्नत्रय - ये ही मोक्ष का मार्ग है, अतीन्द्रिय सुखरूप आनंद की दशा है। तथा व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प दुःख का वेदन है। यदि कोई ऐसा कहे कि ज्ञानी के तो दुःख का वेदन होता ही नहीं है तो उसका यह कहना या सोचना ठीक नहीं है, बात भी ऐसी नहीं है। भगवान केवली को ही पूर्ण सुख की दशा है तथा अज्ञानी के अकेला दुःख ही दुःख है, सुख नहीं है। जबकि साधक को जो शुद्धरत्नत्रय है, वह सुख की दशा है एवं जो व्यवहाररत्नत्रय है, वह दुःख के वेदनरूप है।

'दृष्टि व दृष्टि के विषय की अपेक्षा से ज्ञानी को साधक अवस्था में भी राग नहीं है, दुःख नहीं है' - ऐसा जो कहा जाता है, वह अपेक्षा जुदी है; पर ज्ञान की अपेक्षा से किंचित् राग है तथा जितना राग है, उतना दुःख का वेदन भी है। प्रवचनसार के नय अधिकार में आया है कि - आत्मद्रव्य कर्तृनय से रागादि का कर्ता है। तथा भोक्तृनय से रागादि का भोक्ता भी है।

अहा ! जबतक पूर्ण वीतरागता न हो, तबतक भले ही क्षायिक समकिती हो, मुनिवर हो, गणधर हो, या छद्मस्थ तीर्थंकर हो; उन्हें किंचित् राग व राग का वेदन होता है। साधक को चौथे, पाँचवें व छठवें आदि गुणस्थानों के पूर्व आनन्द की दशा नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द की अपूर्ण दशा है तथा साथ ही किंचित् राग व राग का वेदन भी होता है। साधक को चौथे, पाँचवें, छठवें आदि गुणस्थानों में पूर्ण आनन्द की दशा नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द की अपूर्ण दशा है। तथा साथ में किंचित् राग का - दुःख का वेदन भी है।

देखो, आचार्य अमृतचन्द ने तीसरे कलश में जो कहा है, उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानी के अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन के साथ रागादिरूप क्लेश का परिणाम भी वर्तता है।

अन्तर में प्रचुर अतीन्द्रिय आनंद का वेदन करते हुए छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले आचार्य यह कहते हैं कि मुझे जो रागादि क्लेश का परिणाम वर्तता है, उससे मेरी परिणति मैली हो रही है, रागादिस्वरूप हो रही है। वहाँ जितना करुणाभाव है, उतना दुःख का वेदन भी है। पूर्ण आनन्द की दशा नहीं है।

इसप्रकार पंचपरमेष्ठी पद में विराजमान आचार्य कहते हैं कि प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द की दशा के साथ जो किंचित् राग की - दुःख की दशा है, वह व्यवहार है और वह हेय है, प्रतिषेध्य है।

भाई ! जो लोग दुकान, धंधा-व्यापार में तथा स्त्री-कुटुम्ब-परिवार के भरण-पोषण व राग-रंग में पड़े हैं, वे तो पाप में ही पड़े हैं, उनका तो निषेध है ही; किन्तु जो शब्दश्रुत के ज्ञानरूप व्यवहारज्ञान, नवतत्त्व के भेदरूप व्यवहार

श्रद्धान तथा छह जीवनिकाय की अहिंसारूप व्यवहारचारित्र है, वह पुण्यभाव भी निषेध्य है; क्योंकि उसे मोक्ष के कारणरूप निर्मल रत्नत्रय का आश्रयपना नहीं है। जिसको 'स्व' के आश्रय से - एक ज्ञायकभाव के आश्रय से - निश्चयपनय प्रगट हुआ है, उसे व्यवहार होता तो अवश्य है; परन्तु जिसको निश्चयरत्नत्रय नहीं है, जो निश्चयनय रहित है उसका व्यवहार वस्तुतः व्यवहार ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार के आश्रय से निश्चय प्रगट नहीं होता। यद्यपि ज्ञानी के यह व्यवहार होता है, पर हेयपने होता है। तथा स्वभाव के आश्रय से वह उसका प्रतिपेध भी करता है।

यहाँ यही कहा है कि निश्चयनय व्यवहारनय का प्रतिपेधक है; क्योंकि शुद्ध आत्मा को ज्ञान आदि का आश्रयपना ऐकान्तिक है। यहाँ कहते हैं कि शुद्धात्मा को ज्ञान आदि का आश्रय ऐकान्तिक है अर्थात् शुद्धात्मा को ज्ञानादि का आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है, दोष नहीं है; क्योंकि जहाँ शुद्धात्मा होता है वहाँ शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र होता ही है। अहा ! जिसमें शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का आश्रय होता है, वे ज्ञान-दर्शन-चारित्र-निर्मल सत्यार्थ ही हैं, इनमें व्यभिचार नहीं है; तथा जिसमें पर का - श्रुत का, नवतत्वों का व छहजाति - निकाय का आश्रय होता है, वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र असत्यार्थ हैं, उसमें व्यभिचार आता है; क्योंकि पर आश्रय से तीन काल में भी निर्मल रत्नत्रय नहीं होता।

प्रश्न – तत्वार्थसूत्र में तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः' कहकर पहले दर्शन की बात कही। और यहाँ पहले ज्ञान कहकर फिर दर्शन चारित्र की बात की - ऐसा क्यों किया ?

उत्तर – यहाँ ज्ञान को मुख्य इस कारण किया कि ज्ञान जाननहार है। ज्ञान स्वयं को भी जानता है तथा दर्शन चारित्र की पर्याय को भी जानता है, जबकि दर्शन की पर्याय स्वयं को भी नहीं जानती तथा ज्ञान व चारित्र को भी नहीं जानती।

शुद्ध चिद्रूप चैतन्य रसकंद प्रभु आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान की पर्याय हुई, वह दर्शन को जानती है, चारित्र को जानती है तथा निराकुल आनन्द के

वेदन को भी जानती है। इसप्रकार ज्ञान की स्वपर को जानने की अद्भुत सामर्थ्य है। इसलिए ज्ञान को प्रथम कहकर बाद में दर्शन व चारित्र को लिया है।

जब आचारांगादि शब्दश्रुत भी एकान्ततः ज्ञान के आश्रय नहीं हैं, साक्षात् दिव्यध्वनि के सार रूप 'शब्दश्रुत' का ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान का कारण नहीं है। तात्पर्य यह है कि जब मोक्ष का कारणभूत सम्यग्ज्ञान वस्तुतः केवली कथित शब्दश्रुत के आश्रय से भी नहीं होता, तो कल्पित शास्त्रों का ज्ञान अथवा लौकिक ज्ञान की तो कथा ही क्या है ? लौकिक ज्ञान व कल्पित शास्त्र तो निरा पापबन्ध के ही कारण हैं। यहाँ तो सच्चे शास्त्रों के ज्ञान को भी जब पुण्यभाव होने से एकान्ततः आत्मज्ञान का हेतु नहीं माना गया है तो अन्य की तो बात ही क्या है।

देखो न ! अभव्यों को शास्त्रज्ञान में ग्यारह अंग तक का ज्ञान है, फिर भी शुद्ध आत्मा का आश्रय नहीं होने से कभी भी सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

जिसतरह शकरकन्द के ऊपर की छाल न देखो तो अन्दर पूरा का पूरा शकरकंद मिठास का ही पिण्ड है; ठीक उसीतरह भगवान आत्मा द्वादशांगरूप शास्त्रज्ञान के विकल्प से भिन्न, व्यवहारज्ञान के विकल्प से पार अन्दर अकेला ज्ञान का घनपिण्ड शुद्ध ज्ञानमय है।

भाई ! यह त्रिकोलीनाथ सीमंधर भगवान के श्रीमुख से निकली बात है। सीमंधर परमात्मा वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में अरहंत अवस्था में मौजूद हैं। उनकी आयु एक करोड़ पूर्व की है, जो इतनी लम्बी है कि वे २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के समय से हैं और आगामी चौबीसी के जब यहाँ १३वें तीर्थंकर होंगे तबतक रहेंगे, उसके बाद उनका मोक्ष होगा। भगवन् कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में वहाँ सीमन्धर समोशरण में गये थे। आठ दिन वहाँ रहे थे। वहाँ से आकर समयसार शास्त्र की रचना की है। उस समयसार शास्त्र में यह कहा है कि चिद्ब्रह्म चिदानन्द स्वरूप अपने भगवान आत्मा का जबतक आश्रय नहीं है, तबतक चारित्र नहीं है। भले ही वह छहकाय के जीवों की दया का पालन करे, पंचमहाव्रतादि व्यवहार पाले: परन्त यह कोई चारित्र का आश्रय नहीं है, इससे चारित्र प्रगट नहीं होता

इसप्रकार व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र सत्यार्थ दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है - ऐसा कहा है।

देखो, अब सत्यार्थ कथन करते हैं, कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान का शुद्ध आत्मा ही एक आश्रय है। 'शुद्ध आत्मा ही' कहकर अन्य सभी प्रकार के व्यवहार आश्रयों को पृथक् कर दिया है। यही सम्यक्एकान्त है।

देखो, चार अनुयोगों का तात्पर्य एक वीतरागता है। ज्ञान की पर्याय जब शुद्ध आत्मा के आश्रय से भगवान आत्मा का ज्ञान करती, तो वीतरागता प्रगट होती है। ज्ञान-शरीर-मन-वाणी व इन्द्रियों से तो होता नहीं है; क्योंकि वे सब तो रूपी, जड़, पुद्गल हैं तथा भगवान आत्मा का ज्ञान अरूपी चैतन्यमय है तथा पुण्य-पाप के विकल्पों से भी ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वे विकल्प भी जड़ स्वभावी हैं। चारों अनुयोगों के पढ़ने से भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ये सब परलक्ष्यी हैं। जब दिशा पलटे व अन्दर 'स्व' में लक्ष्य करके स्वरूप को जानने में प्रवृत्ति करे तब आत्मा का ज्ञान होता है। वही सम्यग्ज्ञान है।

प्रश्न – यह तो सब ठीक है, पर जब काललब्धि होगी तभी सम्यग्दर्शन होगा न ?

उत्तर – हाँ, यह सत्य है, पर काललब्धि भी उसी समय होती है, जब अपने त्रिकाली ध्रुव स्व-स्वभावी एक ज्ञायक स्वरूप भगवान आत्मा को ध्येय बनाया; उसी समय - (१) स्वभाव का आश्रय हुआ (२) काललब्धि आ गई (३) वर्तमान पर्याय का पुरुषार्थ हुआ तथा (४) कर्मों का उपशम आदि भी उसी समय हो जाते हैं तथा (५) होने योग्य सम्यग्दर्शन की पर्याय होने से भवितव्य या होनहार भी आ ही जाता है। इसप्रकार एक ही साथ पांचों समवाय मिलते ही हैं और कार्य होता ही है। जब कार्य होता है, तब पांचों समवाय एकसाथ मिलते ही मिलते हैं।

तीसरी चारित्र की बात है। इसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है। शुद्धात्मा ही चारित्र का आश्रय है; क्योंकि छह जीवनिकाय के सद्भाव में या असद्भाव में शुद्धात्मा के सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव है।

देखो, जिसे मोक्ष का कारणभूत चारित्र कहा जा सकता है, उसका आश्रय तो एकमात्र शुद्धात्मा ही है, छह जीवनिकाय की रक्षा नहीं। शुद्धात्मा में जमना, रमना, ठहरना, स्थिर होना ही चारित्र है।

अरे भाई ! शुभभाव की- राग की दिशा पर तरफ की दिशा है, जबकि चारित्र की दिशा स्व तरफ की दिशा है। जब दो परस्पर विरुद्ध दिशायें हैं तो दोनों धर्म कैसे हो सकते हैं ? एक-दूसरे की पूरक भी कैसे हो सकती हैं ? राग में से वीतरागता कैसे हो ? राग में अर्थात् दुःख में रहते अतीन्द्रिय सुख कैसे प्रकट हो ? बापू ! अतीन्द्रिय सुख के सागर चिदानन्दघन भगवान आत्मा के आश्रय से ही अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है।

भाई ! दुनिया तो ऐसा मानती है कि पर जीवों को नहीं मारना ही अहिंसा है। पर वास्तविकता यह है कि अपने आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और तत्वज्ञान के आश्रय से आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति न होने देना ही सच्ची अहिंसा है। अहा ! आनन्द के नाथ में रमणता करने का नाम ही चारित्र है। भावार्थ यह है कि पराश्रय से तीनकाल में भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट नहीं होता। पराश्रय के परिणाम से काललब्धि भी नहीं होती।

अरे भाई ! जो कुछ करना है, वह सब अंतरंग में ही करना है, अपने आत्मा में ही करना है। और आत्मा में भी क्या करना है, कुछ भी नहीं। मात्र आत्मा को जानना है, उसी का श्रद्धान करना है एवं उसी में स्थिर होना है, जमना है। इसके सिवाय आत्मा में भी कुछ नहीं करना है।

इसीलिए तो कहते हैं कि समस्त ही व्यवहार निषेध करने लायक हैं; क्योंकि वह सब बन्ध का ही कारण है।

अहा ! जिसके ज्ञान में शुद्धात्मा आ गया, दर्शन में शुद्धात्मा आ गया तथा शुद्धात्मा में ही रमणता हो गई; उसे शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र होता ही है। इसकारण निश्चयनय व्यवहार का निषेधक है और व्यवहार निषेध्य है। जब व्यवहारनय निषेध्य ही हो गया तो फिर व्यवहार से निश्चय होता है - यह बात ही कहाँ रही ?

अतः ऐसा ही समझना कि एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा ही आश्रय करने योग्य है।

(उपजाति)

रागादयो बंधनिदानमुक्ता-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त -
मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥ १७४॥

अव आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं :-

श्लोकार्थ :- "[रागादयः वन्धनिदानम् उक्ताः] रागादि को वन्ध का कारण कहा और [ते शुद्ध-चिन्मात्र-मह – अतिरिक्ताः] उन्हें शुद्धचैतन्यमात्र ज्योति से (-अर्थात् आत्मा से) भिन्न कहा, [तद्-निमित्तम्] तव फिर उस रागादि का निमित्त [किमु आत्मा वा परः] आत्मा है या कोई अन्य ?" [इति प्रणुन्नाः पुनः एवम् आहुः] इसप्रकार (शिष्य के) प्रश्न से प्रेरित होते हुए आचार्यभगवान पुनः इसप्रकार (निम्नप्रकार से) कहते हैं ॥ १७४॥

१७४वें कलश पर प्रवचन

इस कलश में अगले कथन की सूचना है। यहाँ प्रश्न उठाया है कि भगवान ! आपने राग को वन्ध का कारण कहा – आचारांग आदि का ज्ञान, देव-गुरु-शास्त्र की तथा नवपदार्थों की श्रद्धा, तथा छहनिकाय के जीवों की दया का विकल्प आदि सभी प्रकार के व्यवहार को वंध का कारण कहा तथा आपने यह भी कहा कि - रागादि आत्मा से भिन्न हैं, राग आत्मा का है ही नहीं; तो फिर इस आत्मा को वंध क्यों होता है, किसप्रकार होता है ?

रागादि को शुद्ध चैतन्यमात्रज्योति से भिन्न कहते हो, तव रागादि उत्पन्न होने का निमित्त अथवा कारण कौन है ? क्या शुभाशुभ राग का कारण आत्मा है कि अन्य कोई है ?

इसी प्रश्न के उत्तर में अगली गाथा का अवतार हुआ है।

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९॥

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥ २७८॥
एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥ २७९॥

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः, परिणामस्वभाववत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्ध स्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः परिणम्यते; तथा केवलः किलात्मा, परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः, परिणम्यते। इति तावद्वस्तुस्वभावः।

उपरोक्त प्रश्न के उत्तररूप में आचार्यदेव कहते हैं :-

ज्यों लालिमामय स्वयं परिणत नहीं होता फटिकमणि ।
पर लालिमायुत द्रव्य के संयोग से हो लाल वह ॥२७८॥
त्यों ज्ञानिजन रागादिमय परिणत न होते स्वयं ही ।
रागादि के ही उदय से वे किए जाते रागमय ॥२७९॥

गाथार्थ – [यथा] जैसे [स्फटिकमणिः] स्फटिकमणि [शुद्धः] शुद्ध होने से [रागाद्यैः] रागादिरूप से (ललाई-आदिरूप से) [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परन्तु [अन्यैः रागादिभिः द्रव्यैः]

अन्य रक्तादि द्रव्यों से [सः] वह [रज्यते] रक्त (-लाल) आदि किया जाता है, [एवं] इसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [शुद्धः] शुद्ध होने से [रागाद्यैः] रागादिरूप [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परन्तु [अन्यैः रागादिभिः दोषैः] अन्य रागादि दोषों से [सः] वह [रज्यते] रागी आदि किया जाता है।

टीका – जैसे वास्तव में केवल (-अकेला स्फटिकमणि, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी अपने को शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से (स्वयं अपने में ललाई – आदि रूप परिणमन का निमित्त न होने से) अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, किन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से स्फटिकमणि के रागादि का निमित्त होता है ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ, रागादिरूप परिणमित किया जाता है; इसीप्रकार वास्तव में केवल (-अकेला) आत्मा, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी, अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से (स्वयं अपने को रागादिरूप परिणमन का निमित्त न होने से) अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से आत्मा को रागादि का निमित्त होता है ऐसे परद्रव्य द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ ही, रागादिरूप परिणमित किया जाता है। – ऐसा वस्तुस्वभाव है।

भावार्थ – स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है; वह परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप ललाई-आदिरूप नहीं परिणमता किन्तु लाल आदि परद्रव्य के निमित्त से (स्वयं ललाई आदि रूप परिणमते ऐसे परद्रव्य के निमित्त में) ललाई-आदि रूप परिणमता है। इसीप्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है; वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता परन्तु रागादिरूप परद्रव्य के निमित्त से (– अर्थात स्वयं रागादिरूप परिणमन करने वाले परद्रव्य के निमित्त से) रागादिरूप परिणमता है। ऐसा वस्तु का ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तर्क को अवकाश नहीं है।

गाथा २७८-२७९, टीका पर प्रवचन

देखो, निर्मल स्वभाव वाला स्फटिक मणी अकेले अपने कारण ही लालिमा आदि रूप नहीं होता; किन्तु परद्रव्य का संसर्ग होने से यानि लाल-पीले फूल के संसर्ग से उसमें लाल-पीली झाँईं होती है। तथा उसमें जो लाल-पीली झाँईं पड़ती है, वह मात्र लाल-पीले फूल के कारण भी नहीं हुई है। यदि वह स्फटिक की झाँईं लाल-पीले फूलों के संसर्ग से ही हुई हो तो लाल-पीले फूलों के संसर्ग से लकड़ी में भी लाल-पीली झाँईं पड़नी चाहिए। पर ऐसा तो होता नहीं है; क्योंकि लकड़ी की वैसी योग्यता ही नहीं है। मात्र स्फटिक में ही वैसी योग्यता होती है, अत: स्पष्ट है कि यह लाल-पीले रूप होना स्फटिक की ही अपनी पर्यायगत योग्यता है।

प्रश्न – टीका में तो स्पष्ट लिखा है कि 'परद्रव्य के द्वारा ही शुद्ध-स्वभाव से च्युत होता हुआ, रागादि रूप से परिणमित किया जाता है।'

उत्तर – हाँ, लिखा है, परन्तु यह तो निमित्त की भाषा है, निमित्त सापेक्ष कथन है। वास्तव में तो स्फटिक मणी स्वयं अपनी वर्तमान योग्यता से एवं परद्रव्य के निमित्त से लालिमारूप परिणमित होता है। निमित्त की अपेक्षा लाल-पीले फूलों को कारण कहा जाता है। वस्तुत: निमित्त ने उसमें कोई विलक्षणता नहीं की।

यह तो दृष्टान्त कहा, अव इसी दृष्टान्त से आत्मा का स्वरूप समझाते हैं।

देखो, अकेला आत्मा शुद्धचैतन्यघन प्रभु अपने कारण रागादिरूप परिणमित नहीं होता; क्योंकि स्वयं त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायकस्वभावपने के कारण रागादि का निमित्तपना या कारणपना नहीं है। आत्मा स्वयं पर्यायरूप से बदलने के स्वभाववाला होते हुए भी शुद्धस्वभावपने से उसमें रागादि विकार का कारणपना नहीं होने के कारण अकेले अपने कारण रागादि विकार रूप नहीं परिणमता।

यह बात सुनकर/पढ़कर कुछ निमित्ताधीन दृष्टि रखनेवाले पण्डित यह कहते हैं कि यही तो हम कहते हैं कि कार्य निमित्त से ही होता है।

उनका समाधान यह है कि – निमित्त होता तो अवश्य हैं, परन्तु निमित्त पर में (उपादान में) कुछ करता नहीं है। जिसप्रकार अग्निरूप निमित्त ईंधन को जलाने में निमित्त तो है, पर कर्ता नहीं। ईधन में स्वयं जलने की योग्यता न हो तो अग्नि उसे नहीं जला सकती। जिसप्रकार अभ्रक में जलने की योग्यता नहीं है तो अग्नि उसे नहीं जला पाती। यदि अग्नि जलाने का कार्य करने में समर्थ हो तो अभ्रक (भोडल) को भी जला देना चाहिए। उसीप्रकार शुद्ध आत्मा का आश्रय होने पर दृष्टि, ज्ञान व रमणता में व्यवहार का राग निमित्त होता है; परन्तु उस निमित्त या राग ने यहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति में कुछ किया हो – ऐसा नहीं है। जिसप्रकार ईंधन अपने ज्वलनशील स्वभाव से ही जलता है और अग्नि उसमें अग्नि की निमित्तता होती ही है, उसीप्रकार उपादान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य अपनी उपादानगत योग्यता से होता है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु उसमें निमित्त होते ही हैं, वे उसमें कुछ करते नहीं है। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

निमित्त का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए यहाँ यह कहा जा रहा है कि भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु निमित्तकारण के अभाव में अकेला स्वयं राग-द्वेषरूप परिणमन नहीं करता; किन्तु आत्मा जब अपने अशुद्ध उपादान से स्वयं रागरूप परिणमता है, तब कर्म का रागरूप उदय नियम से निमित्त होता ही है। वस, इसीकारण यह कहा है कि आत्मा परद्रव्य के द्वारा ही रागादिरूप परिणमता है।

पण्डित फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री ने भी अपनी जैनतत्वमीमांसा में यही अर्थ किया है। वे लिखते हैं दो गुण अधिक परमाणु का अर्थात् चार गुण वाले व दो गुण वाले परमाणुओं का स्कन्ध होता है। तव उन चार गुण वाले परमाणुओं द्वारा दूसरे दो गुण वाले परमाणु को चार गुणवाला परिणमाता है। इसका अर्थ ही यह है कि दो गुणवाला परमाणु चार गुणवाले परमाणु के निमित्त से स्वयं चार गुणपने परिणमता है। और तव निमित्त से परिणमता है या निमित्त परिणमाता है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। भगवान आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड, परमपवित्र, त्रिकाल शुद्ध, पूर्ण वीतरागस्वभावी है। कोई गुणस्वभाव

इसमें ऐसा नहीं है कि स्वत: अपने से विकाररूप से परिणमित हो; किन्तु पर्याय में कर्म के निमित्त से वह रागादिरूप होता है। अत: वह परद्रव्य द्वारा परिणमित होता है - ऐसा कहा जाता है। पर्याय में विकार स्वद्रव्य के निमित्त से नहीं होता; किन्तु परद्रव्य के निमित्त से होता है; इसलिए परद्रव्य के द्वारा ही रागादिरूप परिणमता है - ऐसा व्यवहार से निमित्त की मुख्यता की अपेक्षा से कहा जाता है। वस्तुत: देखा जाय तो उस समय जीव को रागादिरूप अवस्था होने का स्वयं का ही जन्मक्षण है, परद्रव्य तो फिर भी निमित्तमात्र ही है। पर ने उसे रागादिरूप परिणमाया नहीं है।

प्रश्न – इस कोरे बौद्धिक व्यायाम में धर्म सम्बन्धी क्या लाभ है ? छोड़ो न इन व्यर्थ की बातों को ?

उत्तर – अरे भाई ! ये व्यर्थ की बातें नहीं हैं, इसकी यथार्थ समझ से ही धर्म होता है। देखो, भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वरूप स्वयं त्रिकाली ध्रुव है। यदि हम अपने उस ध्रुव आत्मा में अपने उपयोग को ले जावें, उस ओर अपनी दृष्टि करें तो वह विकाररूप नहीं होता, किन्तु निर्मल-निर्विकार रूप परिणमति होता है, जो कि साक्षात् धर्म है। अर्न्तदृष्टि रूप परिणमित होना ही तो धर्म है न ? परन्तु वर्तमान दशा में हम पर का लक्ष्य करके परिणमित हो रहे हैं, इससे हमारी परिणति रागादिरूप हो रही है। इससमय हमारी स्वयं की योग्यता ही ऐसी है, जो पर का लक्ष्य करके विकारी हो रही है। इसमें पर का या कर्म का कोई दोष नहीं है। फिर भी परलक्ष्यी होने से पर के ऊपर आरोप तो आता ही है, व्यवहार से ऐसा कहा भी जाता है कि पर ने विकार कराया अथवा कर्मोदय से विकार हुआ। परन्तु यह सब उपचार कथन है।

यह तो तीसरी गाथा में भी आया ही है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता भी नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य में रहकर अपने अनन्त धर्मों के चक्र को चूमता है; परन्तु परद्रव्य को कभी भी स्पर्श नहीं करता।

देखो, यह हाथ में लकड़ी है न ? यह हाथ की लकड़ी हाथ का स्पर्श नहीं करती। देखो, ये दो अंगुली जो एक-दूसरे पर चढ़ीं हैं, परस्पर मिल रही हैं, ये भी एक-दूसरे का स्पर्श नहीं कर रहीं, क्योंकि एक में दूसरे का अभाव है।

प्रश्न – इस बात को सुनकर/पढ़कर लोग कहते हैं कि प्रत्यक्ष एक-दूसरे को स्पर्श करते दिखाई दे रहे हैं, फिर आप ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर – भाई ! तुझे संयोग दिखाई देते हैं। तू संयोगों को देखता है। इसकारण ऐसा जानता है, मानता है। वस्तुतः यदि स्पर्श करें तो दोनों एक हो जायेंगे।

ऐसी चर्चा पहले एक बार हो चुकी है। उस बात में जलते हुए तिनकों को अग्नि ने स्पर्श ही नहीं किया – ऐसा स्पष्ट किया था। अग्नि के परमाणुओं ने तिनके के परमाणुओं को छुआ ही नहीं। अरे, वे तिनके के परमाणु तो अपनी तत्समय की योग्यता से स्वयं ही अग्निरूप हुए हैं। उसके जलने में बाहर की अग्नि तो निमित्तमात्र है। इसीतरह, दूध स्वयं अपनी योग्यता से दही रूप हुआ है, बाहर का जामन का दही तो निमित्तमात्र है, जामन के दही ने दूध में कुछ भी नहीं किया।

ठीक इसीप्रकार आत्मा में जो विकार होता है, वह उसकी अपनी तत्समय की पर्यायगत योग्यता से होता है, परद्रव्य-कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। निमित्त उसमें कुछ करता नहीं है। यदि निमित्त पर में कुछ करे तो निमित्त व वह परवस्तु, जिसमें निमित्त ने कुछ किया है – दोनों मिलकर एक हो जाना चाहिए। और ऐसा कभी होता नहीं है। इसप्रकार आत्मा अपनी तत्कालीन योग्यता से ही पर्याय में रागादिरूप से परिणमता है और परद्रव्य की उससमय उसमें निमित्त रूप से उपस्थिति होती है।

गाथा २७८-२७९ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, पहले उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि विकार कैसे होता है। स्फटिकमणि स्वयं स्वभाव से तो शुद्ध ही है। इसकारण वह अकेला अपने से तो लालिमारूप कभी परिणमता ही नहीं है, परन्तु जब लाल या पीला फूल हो तो उसके निमित्त से एवं अपनी स्वभावगत योग्यता से वह लाल-पीलेरूप परिणमता है। यद्यपि स्फटिक अपनी वर्तमान पर्याय की योग्यता से ही लाल-

पीला आदिरूप परिणमता है तथापि परद्रव्यरूप फूल आदि उसमें नियम से निमित्तरूप होते हैं। यह तो समझने हेतु दृष्टान्त कहा।

इसीप्रकार आत्मा स्वभाव से परमपवित्र सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु शुद्ध शाश्वत् है। वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने से ही रागादिरूप परिणमे ऐसा तो संभव नहीं है; क्योंकि आत्मा में ऐसा कोई गुण या शक्ति ही नहीं है कि जिसके कारण उसमें विकार हो। परन्तु परद्रव्यरूप जड़कर्मों के उदय के निमित्त से जीव रागादिरूप से परिणमित होता है। ऐसा वस्तु का ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तर्क की गुंजाइस नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब आत्मा में ऐसी कोई शक्ति या गुण ही नहीं है कि वह स्वतः से रागरूप परिणमे तो इससे स्पष्ट है कि आत्मा में विकार के कर्ता एकमात्र कर्मरूप निमित्त ही हैं। अन्यथा आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध ही है।

इसका समाधान इसप्रकार है कि जिसतरह पूर्वोक्त स्फटिक के उदाहरण में फूल का संयोग स्फटिक को ही लाल-पीला करता है, लकड़ी को नहीं। यदि फूल ही लाल-पीला करता हो तो जिससे भी उसका संसर्ग हो, उसे लाल-पीला होना चाहिए। चाहे वह लकड़ी हो या पत्थर, पर ऐसा नहीं होता। केवल स्फटिक ही उससे प्रभावित होता है। इससे स्पष्ट है कि जिसमें स्वयं की तत्समय की वैसी योग्यता हो उसे ही परद्रव्य अपनेरूप परिणमा सकता है, सबको व सब काल में नहीं। अतः वह परद्रव्य तो निमित्तमात्र हुआ। कार्य तो उपादानगत तत्समय की योग्यता से ही हुआ है। इसप्रकार आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु स्वयं तो शाश्वत शुद्ध है। उसमें वर्तमान दशा में जो राग-द्वेष, काम-क्रोध, मान-मत्सर, लोभादि भाव होते हैं, वे सब उसकी वर्तमान पर्याय की योग्यता के जन्मक्षण-उत्पत्तिक्षण से हुए हैं। और उनमें कर्मों का उदय अवश्य है, परन्तु वे कर्म जीव में विकार करें - ऐसी योग्यता कर्मों में नहीं है।

(उपजाति)

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांतः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

श्लोकार्थ – [यथा अर्ककान्तः] सूर्यकांतमणिकी भाँति (– जैसे सूर्यकांतमणि स्वतः से ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्यबिम्ब निमित्त है, उसीप्रकार) [आत्मा आत्मनः रागादिनिमित्तभावम् जातु न याति] आत्मा अपने को रागादि का निमित्त कभी भी नहीं होता, [तस्मिन् निमित्तं परसङ्गः एव] उसमें निमित्त परसंग ही (– परद्रव्य का संग ही) है। – [अयम् वस्तुस्वभावः उदेतितावत्] ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है। (सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसी ने बनाया नहीं है।) ॥ १७५ ॥

कलश १७५ पर प्रवचन

देखो, यहाँ सूर्यकान्तमणि का दृष्टान्त देकर आत्मा के विकारी परिणमन की प्रक्रिया को समझा रहे हैं। कहते हैं कि जिसतरह सूर्यकान्तमणि अकेला स्वयं अपने आप अग्निरूप नहीं परिणमता, बल्कि उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्तभूत है। यद्यपि सूर्य के कारण भी सूर्यकान्तमणि में अग्नि नहीं होती; तथापि सूर्य सूर्यकान्तमणि को अग्निरूप होने में निमित्त अवश्य है। ऐसा ही दोनों का सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यदि सूर्य को अग्नि का उत्पादक मानें तो अन्य साधारण पत्थर में भी सूर्य से अग्नि उत्पन्न हो जाना चाहिए और सूर्य के बिना ही सूर्यकांतमणि में अग्नि का उत्पाद मानें तो रात्रि के काल में जब सूर्य नहीं उगा, तब भी सूर्यकान्तमणि में अग्नि उत्पन्न होते रहना चाहिए; पर ऐसा कभी नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि सूर्यकान्तमणि में सूर्य की निमित्तता के बिना अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि सूर्यकान्तमणि जो अग्निरूप होता है, वह अपनी उस समय की पर्यायगत योग्यता से होता है और सूर्यबिम्ब उसमें निमित्तमात्र है।

सूर्य का बिम्ब उसमें कुछ नहीं करता। ठीक इसीप्रकार आत्मा स्वयं अपने आप कभी विकारी नहीं होता। विकार का निमित्त भी नहीं बनता। आत्मा तो त्रिकाल चिद्रूपस्वरूप एक शुद्ध ही है। वह स्वयं अकेला विकाररूप कैसे हो, क्यों हो ? आत्मा की वर्तमान पर्याय में जो विकार - पुण्य-पाप के भाव, दया-दान-भक्ति आदि के शुभभाव व हिंसा-झूठ-चोरी आदि के पापभाव-अशुभभाव होते हैं, उनका निमित्तकारण भगवान आत्मा स्वयं नहीं है। उसमें तो परसंग ही निमित्त है। जब आत्मा कर्मों का संग करता है तो पर्याय में विकार होता है। विकार होने में भगवान आत्मा निमित्त नहीं है, पर परसंग अर्थात् जड़कर्मों का उदय निमित्त होता है।

देखो, परसंग का अर्थ ऐसा कदापि नहीं है कि कर्म विकार कराता है। हाँ, अपने तत्समय की योग्यता से आत्मा में जब जैसा विकार होता है, तब तदनुकूल 'परसंग' निमित्तरूप होता अवश्य है।

अहा ! जैसा अन्य मतों में ईश्वर के कर्तृत्व पर बल दिया जाता है; यदि वैसा ही जैनमत में कर्मों के या परद्रव्य के कर्तृत्व को स्वीकार कर लिया गया तो अन्यमत व जैनमत में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

यहाँ जो यह कहा है कि "तस्मिन्निमित्तम् परसंगएव" आत्मा में उत्पन्न हुए विकार का हेतु परसंग ही है। उस 'परसंग' की व्याख्या यह है कि आत्मा स्वभाव से शुद्ध चिद्रूप परमपवित्र पदार्थ होते हुए भी पर के संग में जो इसका लक्ष्य जाता है, वह परलक्ष्यी उपयोग उसकी उस विकारी पर्याय में विकार का कारण होता है; परवस्तु उसे विकार नहीं कराती।

देखो, श्वेताम्बर मत में तो यही बात कही जाती है कि कर्मों से विकार होता है। तथा दिगम्बर मत में भी आजकल कुछ निमित्ताधीन विचारधारा वाले लोग ऐसा कहने लगे हैं कि 'विकार कर्म से होता है।' आगम में से भी वे लोग ऐसे शब्दों की खोज कर लेते हैं। आगम में ऐसे कथन मिल भी जाते हैं; क्योंकि आगम में तो अनेक अपेक्षाओं से कथन किया है न ? अत: ऐसे कथनों की विवक्षा को समझना चाहिए।

यहाँ जो 'परसंगएव' कथन है उसका अभिप्राय यह है कि जब यह जीव स्वयं परसंग करे तो विकार होता है।

जो अपने सत्यानन्दस्वरूप को भूलकर निमित्तों के संग परिणमन करते हैं, उनकी वह भूल ही विकार का कारण है तथा परसंग उसमें निमित्त है।

ज्ञानी अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को जानता है। उसकी दृष्टि सदा स्वभाव पर ही होती है। इसकारण कर्मों के निमित्त से अपनी पर्याय में ज्ञानी को जो उपाधिभाव होते हैं, वह उन सबका स्वामी एवं कर्त्ता नहीं बनता। तथा अज्ञानी अपने शुद्धस्वभाव को जानता नहीं है, इसकारण कर्म के निमित्त से जो औदयिकभाव होते हैं, वह उनका स्वामी बनकर अपनी मान्यता में उनका कर्ता बन जाता है।

अरे भाई ! यह मानना अज्ञान है कि 'कर्म के कारण विकार होता है, कर्म मार्ग दे, रुकावट न डाले तो धर्म हो।' वस्तुतः कर्म तो आत्मा का स्पर्श ही नहीं करते। यहाँ तो बस इतनी-सी बात कही है कि शुद्ध स्वभाव के आश्रय से परिणमन करे तो विकार उत्पन्न न हो, धर्म की प्राप्ति हो। तथा पर के साथ - निमित्तों के साथ परिणमन करे तो विकार हो।

अनन्त शक्तियों का पिण्ड प्रभु आत्मा शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वभावी है। इसकी अनंत शक्तियों में कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो विकार को करे। अज्ञानी मात्र समय की वर्तमान पर्याय में तत्समय की योग्यता में निमित्त के संग विकारी होकर एवं उनका स्वामी होकर उसे भोगता है। यद्यपि ज्ञानी के भी निमित्त के साथ उपाधि भाव होता है, तथापि वह उन विकारी भावों का स्वामी व कर्ता नहीं होता।

अरे भाई ! कर्म तो तुझे छूता ही नहीं है। यहाँ तो मात्र इतनी-सी बात है कि शुद्धस्वभाव के आश्रय से परिणमे तो विकार नहीं होता, धर्म होता है। तथा निमित्त के साथ परिणमे तो अवश्य ही विकार होता है। कर्म निमित्त होतें हैं, परन्तु कर्म विकार के कर्ता नहीं हैं, कर्मों के कारण विकार नहीं होता।

प्रवचनसार में ४७ नयों के प्रकरण में आया है कि आत्मा कर्तानय से रागादिभावों का करनेवाला है तथा भोक्ता भी है। उस कथन का तात्पर्य यह

है कि ज्ञानी की गणधर अथवा तीर्थंकर की पर्याय भी क्यों न हो, वे भी जितने अंश में पर के संग परिणमन करते हैं, उतने अंश में उस भाव के कर्ता कहे जाते हैं। यद्यपि उनमें कर्ताबुद्धि नहीं है, अतः वे अज्ञानी की तरह श्रद्धा की अपेक्षा कर्ता नहीं हैं, फिर भी अस्थिरता के कारण पर के निमित्त से उन्हें जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदिरूप परिणमन होता है, उन भावों के कर्ता तो वे भी कहे ही जाते हैं। भले ही उनका वह परिणमन कर्म के कारण नहीं होता। पर, उनके उन भावों में कर्मों की निमित्तता तो होती ही है। यह बात जुदी है कि उनका वह परिणमना उनकी अपनी उपादानगत तत्समय की योग्यता से होता है।

'परसंगएव' ऐसा जो कहा, उसका अर्थ यह नहीं है कि परवस्तु जबरन राग कराती है। वस्तुतः बात यह है कि जब जीव स्वयं अपनी उपादानगत तत्समय की योग्यता से परसंग करता है, तब विकार होता है। स्वस्वभाव के आश्रय से विकार नहीं होता।

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥१७६॥

"ऐसे वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि को निजरूप नहीं करता।" इस अर्थ का तथा आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :-

श्लोकार्थः– [**इति स्वं वस्तुस्वभावं ज्ञानी जानाति**] ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभावको जानता है [**तेन सः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात्**] इसलिये वह रागादि को निजरूप नहीं करता, [**अतः कारकः न भवति**] अतः वह (रागादि का) कर्त्ता नहीं है ॥ १७६॥

कलश १७६ पर प्रवचन

ज्ञानी उसे कहते हैं जो अपने वस्तुस्वभाव को जानता है। 'मैं स्वयं परिपूर्ण शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव से भरपूर हूँ' - ऐसा जो जानता है, अनुभवता है; वह ज्ञानी है।

ये शरीर व स्त्री-पुत्रादि तो कहीं एक ओर ही रह गये, यहाँ तो यह कहते हैं कि एक समय की पर्याय से भी भिन्न अन्दर एक शुद्ध चिदानन्द रस से भरा स्वयं भगवान आत्मा है, उस आत्मा को ज्ञानी जानते हैं, अनुभवते हैं। जिसको अन्दर में अतीन्द्रिय-आनन्द के अमृत का स्वाद आया है, वह ज्ञानी है। वह अपने निर्विकारी शुद्ध निरंजन वस्तुस्वभाव को जानता है।

ज्ञानी अपने वस्तुस्वभाव को, अकेले ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को, पूर्ण आनन्दामृत से भरे तत्व को जानता है; इसकारण वह रागादि को अपना नहीं करता, उनमें आत्मबुद्धि नहीं करता। भले ही वे रागादिभाव वर्तमान दशा में पर के लक्ष्य से आत्मा में हुए हों, हो रहे हों; परन्तु उनमें ज्ञानी को अपनापन नहीं होता।

धर्मी की पर अथवा निमित्तों पर से पर्यायबुद्धि टूट गई है तथा अन्तर में स्वभावदृष्टि प्रगट हो गई है, इसकारण पर के निमित्त से पर्याय में जो रागादि होते हैं, उन्हें वह अपने नहीं मानता।

रागादि भावों को ज्ञानी अपना नहीं मानता, इसका अर्थ यह भी नहीं है कि उसे भक्ति पूजा, दया-दान आदि के रागभाव होते ही नहीं हैं; भूमिकानुसार होते हैं; परन्तु ज्ञानी उन्हें अपने स्वरूपरूप से नहीं स्वीकारता। वह तो उन्हें उनसे भिन्न रहकर मात्र जानता है। तटस्थरूप से रहकर मात्र उनका ज्ञाता रहता है। शुद्ध चैतन्यरस-ज्ञानानन्दरस के रसिया ज्ञानी पुरुषों के अन्दर पुण्य-पाप के भावों का प्रवेश नहीं होता है। वे भाव बाहर-बाहर ही तैरते रहते हैं। अत: वे उनके कर्ता नहीं होते।

जिन्होंने अपने वस्तुस्वरूप को जान लिया, वे धर्मी पुरुष रागादि के कर्ता नहीं है, अकर्ता हैं, मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हैं। यद्यपि वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण रागादिभाव होते हैं, पर वे उनके मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं; उनके कर्ता नहीं होते।

समयसार गाथा २८०

ण य रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥२८०॥
न च रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा ।
स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम् ॥ २८०॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते, न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति प्रतिनियम ।

अब इसीप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं :-

ना स्वयं करता मोह एवं राग-द्वेष-कषाय को ।
इसलिए ज्ञानी जीव कर्ता नहीं है रागादि का ॥२८०॥

गाथार्थ – [ज्ञानी] ज्ञानी [रागद्वेषमोहं] रागद्वेषमोहका [वा कषायभावं] अथवा कषायभाव को [स्वयं] अपने आप [आत्मनः] अपने में [न च करोति] नहीं करता [तेन] इसलिये [सः] वह, [तेषां भावानाम्] उन भावों का [कारकः न] कारक अर्थात् कर्ता नहीं है।

टीका – यथोक्त (अर्थात् जैसा कहा वैसा) वस्तु स्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी (अपने) शुद्धस्वभाव से ही च्युत नहीं होता इसलिये वह रागद्वेषमोहादि भावरूप स्वतः परिणमित नहीं होता और दूसरे के द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता, इसलिये टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अकर्ता ही है – ऐसा नियम है।

भावार्थ – आत्मा जब ज्ञानी हुआ तब उसने वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि 'आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है – द्रव्यदृष्टि से अपरिणमनस्वरूप है, पर्यायदृष्टि से परद्रव्य के निमित्त से रागादिरूप परिणमित होता है;' इसलिये अब ज्ञानी स्वयं उन भावों का कर्ता नहीं होता, जो उदय आते हैं उनका ज्ञाता ही होता है।

गाथा २८० एवं उसकी टीका पर प्रवचन

भगवान आत्मा अकेला पवित्रता का पिण्ड प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का रसकंद है। ज्ञानी अपने ऐसे स्वभाव को जानता है। वह सोचता है कि ये पुण्य-पाप के भाव और पुण्य के फल में प्राप्त पाँच-पचास करोड़ की सम्पत्ति मेरे आनन्द के स्थान नहीं हैं। मेरे आनन्द का धाम तो मैं स्वयं ही हूँ। ऐसा ज्ञानी जानते हैं, अनुभवते हैं। ऐसे अपने स्वरूप को जानता - अनुभवता हुआ ज्ञानी शुद्ध स्वभाव से च्युत नहीं होता।

जिसको शुद्ध एक चैतन्य मूर्ति प्रभु आत्मा ज्ञान श्रद्धान व अनुभव में आया, वह अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव से च्युत नहीं होता। उनकी दृष्टि निरंतर शुद्ध एक अखंड चिन्मात्र भाव पर ही रहती है।

प्रश्न – तो क्या ज्ञानी अजीवादि तत्वों तथा व्यवहार को जानता नहीं है ?

उत्तर – अरे भाई ! वह सब जानता है और जानने लायक भी है। पर आत्मवस्तु को प्राप्त करने में इसका कोई विशेष स्थान नहीं है, योगदान नहीं है। अतः आत्मवस्तु को प्राप्त करने के लिए तो एक अखण्ड-पूर्ण ज्ञान व आनन्द का घनपिण्ड निज भगवान आत्मा का अनुभव करना ही योग्य है। अन्य पदार्थों के जानने का कोई विशेष महत्व नहीं है। यह बात इसके पहले २७६ व २७७वीं गाथा में आ चुकी है वहाँ कहा है कि शब्दश्रुत तथा जीव आदि नव पदार्थों के सद्भाव या असद्भाव में शुद्धात्मा के सद्भाव से ही ज्ञान-दर्शन है, शुद्धात्मा के ही आश्रय से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होता है, अन्य किसी के आश्रय से नहीं।

अनन्तकाल में इस जीव ने चौरासी के अवतार में रखड़-रखड़ कर परिभ्रमण ही किया है। अबतक वीतराग भगवान की भी सच्ची पहचान नहीं हुई, क्योंकि अन्दर में अपने स्वरूप को जाने बिना भगवान जिनेन्द्र की सच्ची पहचान होती ही नहीं है। अपना शुद्धात्मा और परमात्मा अर्थात् जिनेन्द्र भगवान - दोनों की एक ही जाति है, एक सा ही स्वभाव है, दोनों में किसी

प्रकार से कोई अन्तर ही नहीं है। अतः आत्मा की पहचान से परमात्मा की तथा परमात्मा की पहचान से आत्मा की पहचान हो जाती है।

जिसप्रकार श्रीमाली बनिया के दो पुत्र हों, उनमें एक १०० रुपया माह की नौकरी करता हो और दूसरा करोड़पति हो तो भी दोनों श्रीमाली जाति की अपेक्षा तो एक जाति के ही हैं न ?

ठीक इसीप्रकार भगवान आत्मा भले ही अपनी पर्याय में निगोद से लेकर एकेन्द्रियादि अनेक अवस्थाओं में रहा हो या अभी हो, तथापि अन्दर स्वभाव से तो संसारी आत्मा भी चैतन्यघन वस्तु ही है। भगवान जिनवर की जाति में और संसारी जीव की जाति में कोई फेर ही नहीं है। ऐसे शुद्धस्वभाव की अन्तर्दृष्टि करके इसमें ही जिसने एकाग्रता व रमणता की है, वह ज्ञानी अपने शुद्धस्वभाव से च्युत नहीं होता, भ्रष्ट नहीं होता। उसने अपनी दृष्टि को अपने शुद्धचैतन्य पद में ही स्थित कर रखा है।

सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान जिनेन्द्रदेव ने आत्मा का स्वरूप शुद्धज्ञान व आनन्दरूपी अमृतरस से भरा देखा है। जिसने अपने आत्मा के ऐसे आनन्द का रसपान किया है, उस ज्ञानी को अब पुण्य-पाप के भाव में रस नहीं है। उसे इन्द्रियों के विषय भी नीरस – फीके लगते हैं। अतीन्द्रिय आनन्दरस का रसिया अपने उस आनन्दरस से कभी च्युत नहीं होता।

जिसप्रकार शक्कर की डली चूसती मक्खी शक्कर पर से हटती नहीं है, उड़ाने पर भी बार-बार उसी पर आकर बैठती है; ठीक इसीप्रकार अतीन्द्रिय आनन्दरस का रसिया धर्मी जीव आनन्द रसकंद प्रभु आत्मा से हटता नहीं है। भगवान त्रिकाली नाथ ने इसे ही धर्म कहा है।

ऐसा अन्तरंग स्वरूप समझना तो संसारी रागी जीवों को कठिन लगता है। अतः प्रतिक्रमणादि पाठ बोलकर संतुष्ट हो जाते हैं और ऐसा मान लेते हैं कि हो गया हमारा धर्म तथा हमने अपना धार्मिक कर्तव्य पूरा कर लिया; परंतु बापू ! ये सब शुभराग की क्रियायें हैं, ये धर्म नहीं हैं। अपने अन्दर जो आनन्द का रसकन्द प्रभु आत्मा विराजमान है, उसमें एकाग्रता का होना ही वास्तविक

धर्म है। धर्मीपुरुष अपने शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वभाव को नहीं छोड़ता। लोक में भी जब व्यक्ति लौकिक जनों के प्रति हुए प्रेम को नहीं छोड़ता तो क्या धर्मी का प्रेम उससे भी गयागुजरा है? जो वह छोड़ दे। नहीं, धर्मात्मा का आत्म-प्रेम तो सच्चा है, फिर वह उसे कैसे छोड़ सकता है? अतः धर्मी की दृष्टि शुद्धस्वभाव से च्युत नहीं होती।

धर्मी पुरुष शुद्धस्वभाव से ही च्युत नहीं होता, इसकारण राग-द्वेष-मोहरूप शुभाशुभभावरूप स्वयं से तो परिणमता ही नहीं है, दूसरों के द्वारा भी विभावरूप नहीं परिणमता।

निमित्तों की अपेक्षा व्यवहार से ऐसा कह दिया जाता है कि कर्मों ने या परपदार्थों ने इसे विकाररूप परिणमाया है, परंतु कोई भी परद्रव्य किसी को बलजोरी से विभावरूप नहीं परिणमाता।

यहाँ जो यह कहा है कि 'पर से भी परिणमता नहीं है' उसका तात्पर्य यह है कि जब स्वयं से पररूप नहीं परिणमता तब वहाँ ऐसे 'पर' निमित्त भी होते ही नहीं है, जिनसे पररूप परिणमे।

जिनको स्व-स्वरूप में रुचि जागृत हुई है, उनकी पर में या पुण्य में रुचि नहीं रही। इसकारण वे राग-द्वेष-मोह के भावरूप नहीं परिणमते। धर्मात्मा के व्यवहार में – पुण्य में व पुण्य के फल में, स्वर्गादिक के वैभव में – कहीं भी सुख-बुद्धि नहीं होती। देखो राजा ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के घर ९६ हजार रानियां थीं। हजारों देवता उनकी सेवा में रहते थे। देव व इन्द्र मित्र बनकर आते तथा हीरा-मोती के सिंहासनों पर जोड़े से बैठते। इसप्रकार बाह्य में वह अपार वैभव का स्वामी था, परंतु अन्दर में उसे किंचित् भी रस-रुचि एवं उत्साह नहीं था। उसे इस पुण्य की सामग्री में ऐसा कोई प्रेम नहीं रहा था, ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती थी, जिस कारण वह स्वभाव से च्युत होवे।

वीतरागता का मार्ग ही कुछ ऐसा है। एक-एक गाथा में कितना तत्त्व का रस भरा है ? जिसको दूधपाक का स्वाद मिल गया हो, उसे आकड़ा के दूध में स्वाद कैसे आ सकता है ? 'भगवान आत्मा ज्ञानानन्द रस का समुद्र है,

उसमें रुचि उत्पन्न करके उसी का अनुभव करो। ऐसा करने से वीतराग मार्ग में प्रवेश होता है, धर्म का शुभारंभ हो जाता है। जो वस्तु स्वभाव को जानता है, वह धर्मी है तथा वह अपने स्वभाव से च्युत होकर शुभाशुभ भावरूप परिणत नहीं होता। तथा उसे अन्य कोई कर्म आदि विकारी नहीं करते।

इसमें दो बोल आये हैं, दो तथ्य स्पष्ट हुए हैं –

१. धर्मी स्वयं से तो राग-द्वेष-मोह आदि भावरूप परिणमित होता ही नहीं

२. कर्म आदि पर से भी वह रागादि रूप परिणमित नहीं होता।

जिसने आत्मा के शुद्ध वीतराग स्वभाव को जान लिया एवं अनुभव कर लिया, उसकी दृष्टि शुद्धस्वभाव पर निरंतर रहने से उसके ज्ञानमय परिणमन ही है। वह राग-द्वेष-मोह आदि भाव से कैसे परिणम सकता है ? तथा जो स्वयं विकार रूप न परिणमे, उसको कर्म आदि परपदार्थ विकाररूप कैसे परिणमा सकते हैं ? 'दूसरा परिणमाता है' यह तो निमित्त का कथन मात्र है।

जैसे सूर्य प्रकाश का पुंज है, उसीप्रकार आत्मा अकेला चैतन्यप्रकाश का पुंज है। ऐसा चैतन्यप्रकाश् का पुंज जिसकी दृष्टि में आया है, वह टंकोत्कीर्ण वीतरागी - जिनबिम्ब की भांति पुण्य-पाप, राग-द्वेष-मोह आदि भावों से पृथक ज्ञायकस्वरूप ज्ञानी ही है। सदा एक ज्ञायक भावमयपने के कारण वह राग-द्वेष-मोह आदि भावों का कर्ता नहीं है, अकर्ता ही है।

भूमिकानुसार ज्ञानी को दया, दान, पुण्य-पाप के भाव आते तो हैं, पर वह उनका कर्ता नहीं है। वह तो एक ज्ञानमय भाव का ही कर्ता है और रागादि भावों का अकर्ता ही है। उसके राग करने का अभिप्राय नहीं है। निर्मल ज्ञान भाव का करनेवाला ज्ञानी मलिन रागादि को कैसे करें ?

यहाँ आचार्य कहते हैं भाई ! अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द के रस का समुद्र भगवान आत्मा विराजमान है। तू इसे छोड़कर इन पुण्य-पाप रूप मलिन भावों के स्वाद में अटक रहा है। अरे ! ये तो नाक के मैल से भी बदतर हैं। ऐसा आचार्य कहते हैं।

अज्ञानी कहता है कि मुझे इन मलिन भावों में रहने की ही टेव पड़ गई है। ऐसे अज्ञानी को समझाते हुए ज्ञानी कहते हैं कि भाई ! जिसे अन्तर्दृष्टि हो जाती है, आत्मानुभूति हो जाती है, उन धर्मी पुरुषों को अतीन्द्रिय आनन्दरस के स्वाद के समक्ष फिर पुण्य-पाप का स्वाद सुहाता ही नहीं हैं। इसलिए तू भी अन्तर्दृष्टि कर।

भगवान ! तू स्वभाव से चिदानन्द रस का समुद्र है न ? उस स्वभाव में ही अन्तर्मग्न हो जा ! जिन्होंने भी उस अतीन्द्रिय रस का स्वाद क्रिया है, उन धर्मी जीवों को पुण्य-पाप का स्वाद वेस्वाद लगने लगता है, नीरस लगने लगता है। फिर वह पुण्य-पाप रूप नहीं होता। तथा कर्म उसे पुण्य-पापरूप नहीं परिणमाते। कर्मों में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो किसी को अपने रूप परिणमा सके। मात्र उपचार से निमित्त पर आरोप करके यह कहा जाता हैं कि कर्मों के कारण राग-द्वेष-मोह हुए। यह सव व्यवहार का कथन है। ज्ञानी तो राग-द्वेष-मोह भावों का अकर्ता ही है।

गाथा १८० के भावार्थ पर प्रवचन

जव आत्मा ज्ञानी हुआ, धर्मी हुआ; तव उसने ऐसा जाना कि मैं स्वयं स्वभाव से तो शुद्ध ही हूँ, एकाकार पवित्र ही हूँ। यह विकार तो मात्र मेरी वर्तमान पर्याय में वाहर ही है। अन्दर वस्तु तो निर्विकार ही है। द्रव्यदृष्टि से तो आत्मा अपरिणमनस्वरूप ही है। अपरिणमनस्वरूप अर्थात् त्रिकाली आत्मद्रव्यरूप। यद्यपि उसमें प्रति समय पलटने वाली पर्याय निरंतर होती हैं, पर वह पर्याय त्रिकाली आत्मा से भिन्न है, पृथक् है। आत्मद्रव्य तो त्रिकाल अक्रिय-अपरिणमनरूप है। त्रिकाल ध्रुववस्तु में पलटती दशा नहीं है।

परमात्मप्रकाश गाथा ६८ में आया है कि -

"ण कि उप्पज ण कि मरइ बन्धु न मोक्खु करेई"

जिसको त्रिकाली कहा, 'वह भगवान आत्मा जन्म-मरण नहीं करता तथा उसका वंध-मोक्ष भी नहीं होता। अहा ! त्रिकालीद्रव्य पर्याय को करता ही नहीं है, ऐसा अपरिणामी है। तथा मोक्ष का मार्ग व मोक्ष भी इसी पलटती दशा

में अर्थात् पर्याय में है। द्रव्यदृष्टि से द्रव्य में तो बंध-मोक्ष है ही नहीं। आत्मद्रव्य सदा अपरिणमनस्वरूप पदार्थ है।

द्रव्य अर्थात् चैतन्यवस्तु। यहाँ द्रव्य का अर्थ धन-दौलत नहीं, बल्कि आत्मद्रव्य है। वह आत्मद्रव्य जो देह से भिन्न, पुण्य-पाप के विकारों से भिन्न तथा एकसमय की बंध-मोक्षरूप पर्यायों से भिन्न अखण्ड एक रूप रहनेवाला है। उस आत्मद्रव्य को द्रव्यदृष्टि से देखें तो वह अपरिणमनरूप है, ध्रुव है। उसमें अज्ञान-ज्ञानरूप तथा मिथ्यात्व-सम्यक्त्वरूप पर्याय या पलटन नहीं है। आत्मा ऐसा त्रिकाल अनादि-अनंत शाश्वत एक सदृश चिन्मात्रभाव से रहनेवाला द्रव्य है।

आत्मा में दो रूप भिन्न-भिन्न हैं - एक त्रिकाली ध्रुवता तथा दूसरी पलटती दशा। त्रिकाली द्रव्य कभी पलटता नहीं, एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्यरूप होता नहीं, पलटकर कभी नष्ट होता नहीं।

यह त्रिकाली जीवद्रव्य परद्रव्य का कर्ता नहीं है, अपने एकक्षेत्रावगाही शरीर मन-वाणी का कर्ता भी नहीं है तथा अपनी पर्याय का कर्ता भी नहीं है। यह ऐसा अपरिणामस्वभावी है।

इसे पर्यायदृष्टि से अर्थात् कर्म के निमित्त से होती हुई वर्तमान दशा से देखें तो यह रागादि विकाररूप होती है एवं मोक्षमार्गरूप अर्थात् धर्मदशारूप से भी होती है। मोक्षमार्ग व मोक्ष की दशा भी इसकी पर्याय में होती है, किन्तु द्रव्यदृष्टि से यह बदलता नहीं है। ऐसा इसका अपरिणामस्वरूप है।

भाई ! एक त्रिकाली ध्रुवद्रव्य और दूसरी उत्पाद-व्ययरूप पर्याय - यह वीतरागदेव का कहा सत्य है। द्रव्य में जो नवीन-नवीन अवस्थाएँ होतीं हैं, वे उत्पाद-व्ययरूप हैं। द्रव्य में कर्म के निमित्त से विकार होता है तथा उसकी अवस्था में कर्म का अभाव करके निर्विकारी धर्म होता है, निर्दोष पूर्ण केवलज्ञान व मोक्षप्राप्त होता है। यह सब उत्पाद-व्ययरूप पलटती अवस्था में होता है, किन्तु त्रिकाली ध्रुव में कुछ नहीं होता। ध्रुव तो त्रिकाल एक सदृश चिन्मात्रपने से है।

त्रिकाली ध्रुव आत्मा का कोई कर्ता नहीं है, इसे किसी ईश्वर ने किया नहीं है। यह तो अनादि-अनंत, ध्रुव, शाश्वत अकृत्रिम द्रव्य है; उसमें परिवर्तन नहीं होता, क्रिया नहीं होती। बदलना या पलटना तो पर्याय में होता है, ध्रुव में नहीं।

जिसप्रकार आकाश में ध्रुवतारा होता है उस ध्रुवतारा को लक्ष्य बनाकर नाविक समुद्र पार कर लेते हैं, उसीप्रकार जो त्रिकाली ध्रुव चैतन्यमात्र आत्मा के लक्ष्य से स्वरूपसन्मुख परिणमता है, उसे सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, वह संसार समुद्र के पार हो जाता है।

आत्मद्रव्य की भाँति पुद्गल द्रव्य (पुद्गलपरमाणु) भी द्रव्यदृष्टि से अपरिणमनस्वरूप है। देखो, भोजन के दाल-भात आदि परमाणु जो अभी दाल-भातरूप हैं, ये ही पेट में पहुँचकर खून-हाड़-मांसरूप से शरीर में पलट जाते हैं। बाद में यही शरीर जलकर भस्म हो जाता है। ये सब परमाणु परमाणुपने तो ध्रुव हैं। मात्र इनकी अवस्थायें पलटती रहेंगी। परंतु जो ध्रुव परमाणु है, उनका कभी नाश नहीं होता। उसीप्रकार भगवान आत्मा जो शाश्वत ध्रुव चैतन्यरूप हैं, वह नहीं पलटता, उसके आश्रय से मात्र उसकी अवस्थायें पलटतीं हैं। ऐसे वस्तु के स्वरूप को ज्ञानी यथार्थ जानते हैं। इसकारण ज्ञानी स्वयं उन रागादि भावों का कर्ता नहीं बनता तो उनका ज्ञाता ही रहता है।

ज्ञानी को अस्थिरता जनित राग होता अवश्य है, किन्तु वह उनका कर्ता नहीं होता; वह उनका ज्ञाता ही रहता है। ज्ञानी को किंचित् राग है, परंतु उसे उसकी रुचि नहीं है, राग का स्वामित्व नहीं है। इसको राग का परिणमन है; किन्तु यह उसे अपना कर्त्तव्य नहीं मानता। इसकारण वह रागादि का कर्ता नहीं होता।

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १७७॥

'अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभाव को नहीं जानता इसलिये वह रागादि भावों का कर्ता होता है' इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :-

श्लोकार्थ – [**इति स्वं वस्तुस्वभावं अज्ञानी न वेत्ति**] अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभाव को नहीं जानता [**तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्**] इसलिये वह रागादि को (-रागादिभावों को) अपना करता है, [**अतः कारकः भवति**] अतः वह उनका कर्त्ता होता है ॥ १७७॥

कलश १७७ पर प्रवचन

अज्ञानी अपने अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द के रसकन्द, शुद्ध, एक, ज्ञानानन्द-स्वभावी आत्मा को नहीं जानता। वस्तु के स्वभाव पर उसकी दृष्टि नहीं है, उसका ज्ञानोपयोग स्वरूपसन्मुख नहीं है। वह बाहर में निमित्त के तथा पुण्य-पाप के भावों के सन्मुख हो रहा है, इसकारण वह निरन्तर रागादि भाव से परिणमित होता हुआ पर का कर्ता बनता है, जो कि अज्ञान भाव है।

भले ही बाहर से वह साधु हो गया हो, व्रतादि का पालन करता हो, परंतु अन्तर्दृष्टि के बिना, स्वरूप के भान बिना, अज्ञानी रागादि का कर्ता होता है अर्थात् वह राग को करने लायक मानता है। ऐसा मानकर वह रागादि को अपनाता है, उसे अपना कर्तृत्व और कर्तव्य मान लेता है। पुण्यभाव – दया, दान, व्रत आदि के भावों को भला मानता है और करने योग्य हैं – ऐसा मानता हुआ उनका कर्ता बनता है।

जितने भी जीव सिद्ध दशा को प्राप्त हुए हैं, उन्हें सिद्ध पद की प्राप्ति कहाँ से हुई ? आकाश से तो आई नहीं है। अरे ! अन्दर आत्मा में जो स्वभावभूत शक्ति पड़ी है, उसमें पूर्ण एकाग्र होने से ही वह शक्ति प्रगट हुई है। पर अज्ञानी आत्मा के उस पूर्ण स्वरूप को जानता नहीं है, उसमें वह अन्तर एकाग्र होता नहीं है; इसकारण वह पराश्रय में परिणमता हुआ रागादि का कर्ता होता है।

समयसार गाथा २८१

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रागादि बंधदि पुणो वि ॥२८१॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥ २८१॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव, ततः कर्मविपाकप्रभवै रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः।

अब इसी अर्थ की गाथा कहते हैं :-

राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो ।
उनरूप परिणत जीव फिर रागादि का बंधन करे ॥ २८१॥

गाथार्थ – [राग च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव] राग, द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [ये भावाः] जो भाव होते हैं [तैः तु] उन-रूप [परिणममानः] परिणमित होता हुआ (अज्ञानी) [रागादीन्] रागादि को [पुनः अपि] पुनः-पुनः [बध्नाति] बाँधता है।

टीका – यथोक्त वस्तुस्वभाव को न जानता हुआ अज्ञानी अनादि संसार से लेकर (अपने) शुद्धस्वभाव से च्युत ही है इसलिये कर्मोदय से उत्पन्न रागद्वेषमोहादि भावरूप परिणमता हुआ अज्ञानी रागद्वेषमोहादि भावों का कर्ता होता हुआ (कर्मों से) बद्ध होता ही है – ऐसा नियम है।

भावार्थ – अज्ञानी वस्तुस्वभाव को तो यथार्थ नहीं जानता और कर्मोदय से जो भाव होते हैं उन्हें अपना समझकर परिणमता है, इसलिये वह उनका कर्ता होता हुआ पुनः-पुनः आगामी कर्मों को बाँधता है – ऐसा नियम है।

गाथा २८१, उसकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

अज्ञानी जीव अनादि से अपने एक शुद्ध चैतन्य रसकंद एवं सहजानंद स्वभाव से अनजान होने से अपने अनन्त सुख के लाभ से वंचित है, दुःखी है।

आत्मा का सहज ज्ञान व आनन्द स्वभाव है, किंतु अज्ञानी को अपने ऐसे ज्ञानानन्द के घनपिण्ड चैतन्यस्वभाव की पहचान नहीं है। आत्मा स्वयं तो अनादि है ही, अपने स्वरूप को न पहचानने की भूल भी इसकी अनादि काल से ही है। ऐसा नहीं है कि पहले तो यह पर्याय में शुद्ध था और बाद में अशुद्ध हुआ है, मलिन हो गया है।

अनादि से स्वयं ज्ञानानन्दस्वभावी होते हुए भी यह अज्ञानी अनादि से ही स्वभाव से भ्रष्ट है, च्युत है तथा अतीन्द्रिय आनन्द से वंचित है।

देखो, यहाँ ऐसा नहीं कहा कि कर्म के कारण च्युत है; जबकि कर्म के उदय का निमित्तपना भी अनादि से ही है। जबतक आत्मा स्वभाव से भ्रष्ट रहेगा तबतक उसमें तदनुसार द्रव्यकर्म का उदय तो अंतरंग निमित्त कारण के रूप में रहेगा ही। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। वस्तुतः बात यह है कि अज्ञानी की अनादि से पर्यायगत योग्यता भी ऐसी ही है और निमित्तरूप में कर्म का उदय भी होता ही है, परंतु कर्म का उदय तो निमित्त मात्र है।

अब कहते हैं देखो ! आत्मा स्वयं अन्दर में शुद्ध, एक, ज्ञानानन्दस्वभावी, अतीन्द्रियआनंद का रसकंद प्रभु है। अतः वस्तुतः इसे पर्याय में भी अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमित होना चाहिए था, शुद्धरूप ही परिणमित होना चाहिए था; परंतु ऐसा न होते हुए, अज्ञानी इसरूप न परिणमते हुए राग-द्वेष-मोह भाव से परिणमता है और इन्हीं भावों का कर्ता होता है।

देखो, यद्यपि ऐसा कहा है कि कर्म के उदय से उत्पन्न हुए राग-द्वेष; परंतु इसका अर्थ यह है कि जब आत्मा स्वयं स्वभाव से भ्रष्ट होने से रागद्वेष मोहादिरूप होता है, तब उसके उसरूप परिणमन में कर्म का उदय निमित्त होता है। कर्म के उदय ने बलात् राग-द्वेष-मोह उत्पन्न किए हों - ऐसा नहीं है। कर्म तो परवस्तु हैं। और परवस्तुएँ किसी अन्य परवस्तु में कुछ भी नहीं करतीं। जीव स्वयं ही अनादि से अपने स्वरूप से च्युत है, भ्रष्ट है तथा पर के लक्ष्य से स्वयं पर में रुक गया है, अटक गया है; इसकारण राग-द्वेष-मोहरूप से

परिणमता है। पर में दृष्टि करके-अनिष्टपना मानकर अज्ञानी पर के लक्ष्य से राग-द्वेष-मोह भाव से परिणमता है।

यह परमात्मा जगत के जीवों को आदेश देते हैं, उपदेश देते हैं कि अरे भाई! तुझे अपने वैभव का पता नहीं है। तू तो अनंत-अनंत लक्ष्मी का भंडार है; परन्तु तू अपने को न पहचानने के कारण इससे भ्रष्ट है, च्युत है।

अपनी वस्तु को भूलकर परवस्तु को भला-बुरा जानकर रागादि भाव से परिणमता हुआ, उनका कर्ता बनता हुआ अनादि से संसार में भटकता हुआ हैरान ही है। सर्व सामर्थ्य के धनी अपने परमेश्वर स्वरूप आत्मा को भूलकर कर्म की उपस्थिति में स्वयं राग-द्वेष-मोहादि भावरूप से परिणमता हुआ अज्ञानी अपने राग-द्वेष-मोहादि भावों का कर्ता होता है और इसीकारण वह कर्मों से बंधता है।

इसके पहले २८०वीं गाथा में ऐसा आया है कि अपने स्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी राग-द्वेष-मोहादि भावों का अकर्ता है - ऐसा नियम है। और यहाँ कहा है कि अपने परमेश्वर स्वभाव को न जानते हुए अज्ञानी राग-द्वेष-मोहादि भावों का कर्ता होता है और कर्मों से बंधता ही है - ऐसा नियम है।

अज्ञानी ने भी अनंतकाल से अबतक शास्त्र खूब पढ़े, परंतु स्वयं को जाने बिना वे किसी काम नहीं आये, उनसे आत्मा को लाभ नहीं मिल पाया। यह बाहर का जानपना सब व्यर्थ हो गया। व्रत-तपादि भी खूब किए, पर आत्मज्ञान के अभाव में राग की क्रियाओं से कुछ हाथ नहीं लगा। ये जो राग की क्रिया हैं, इनमें धर्म मानना तो मिथ्यादर्शन है। जो इन राग की क्रियाओं का कर्ता बनता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है और वह अवश्य बंधता है। ऐसा यहाँ स्पष्ट कहा गया है। इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

भावार्थ में पण्डित जयचंदजी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'अज्ञानी को स्वभाव की दृष्टि न होने से अनादि से पर्याय बुद्धि ही है।' स्वयं अंतरंग में ज्ञान व आनंद लक्ष्मी का भंडार है, पर अज्ञानी को इसकी खबर ही नहीं है।

इसकारण अज्ञानी वर्तमान में सहज अनुकूलता देखकर सोच लेता है कि वर्तमान का आनंद छोड़कर परभव की चिंता करना व्यर्थ की बात है। इसप्रकार पर्यायबुद्धि हो जाती है। इसके साथ यदि शरीर स्वस्थ सुंदर और हष्ट-पुष्ट हो, पुत्र अनुकूल हों, धन-वैभव पर्याप्त हो, लोक में थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा हो, तब तो फिर पूछना ही क्या है ? फिर तो धर्म-ध्यान की बातों से और भी कोसों दूर हो जाता है। फिर तो आत्मा की बात सुनने की फुर्सत ही कहाँ है ? परंतु भाई ! इसी में यदि मनुष्यभव चला गया तो पता नहीं चौरासी लाख योनियों में कहाँ-कहाँ भटकेगा ?

यह सारा जगत विषय-कषाय की मार से अनंत दुःखी है। कर्म के उदय से जो भाव होते हैं, उन्हें यह अज्ञानी अपने मानकर उन्हीं रूप परिणमता है। भाई ! आत्मा के स्वरूप में तो पुण्य-पाप हैं नहीं। हाँ, कर्म के उदय के निमित्त से एवं अपने विपरीत पुरुषार्थ से जो भाव होते हैं, उन्हें यह अपने मानता है। निमित्त का आश्रय करने से अज्ञानी को मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं, उन्हें यह अपने मानता है तथा उन्हीं में तद्रूप होकर परिणमता है। इसीकारण उनका कर्ता होता हुआ पुनःपुनः आगामी कर्म बांधता है। ऐसा नियम है। इसप्रकार अज्ञानी संसार में परिभ्रमण करता रहता है। •

समयसार गाथा २८२

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेंहि दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा ॥ २८२॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ॥ २८२॥

य इमे किलाज्ञानिनः पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेष-मोहादिपरिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बंधहेतुरिति।

यों राग-द्वेष-कषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो ।
उन-रूप आत्मा परिणमें, वो बाँधता रागादि को ॥ २८२॥

गाथार्थ – [रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव] राग, द्वेष और कषायकर्मों के होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [ये भावाः] जो भाव होते हैं [तैः तु] उन-रूप [परिणममानः] परिणमता हुआ [चेतयिता] आत्मा [रागादीन्] रागादि को [बध्नाति] बाँधता है।

टीका – निश्चय से अज्ञानी को, पुद्गल कर्म जिनका निमित्त है ऐसे जो यह रागद्वेषमोहादि परिणाम हैं, वे ही पुनः रागद्वेषमोहादि परिणाम के निमित्त जो पुद्गलकर्म उसके बन्ध के कारण हैं।

भावार्थ – अज्ञानी के कर्म के निमित्त से जो रागद्वेषमोहादि परिणाम होते हैं वे ही पुनः आगामी कर्मबन्ध के कारण होते हैं।

गाथा २८२, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा अनन्त-अनन्त गुण रत्न से भरा हुआ चैतन्यरत्नाकर है, जिसें ऐसे गुणरूपी रत्नों से भरे आत्मारूपी समुद्र की पहचान न हो, वह अज्ञानी है। उस अज्ञानी को जो अनादि से राग, द्वेष-मोह, हास्य, रति, अरति आदि भाव हैं, उन भावों में कर्मोदय निमित्त है तथा जो नवीन द्रव्यकर्म बंधते हैं, उनमें ये राग-द्वेष-मोह के परिणाम निमित्त हैं। ध्यान रहे, द्रव्यकर्म व रागादि भावकर्म एक-दूसरे के निमित्त तो हैं पर वे एक-दूसरे के कर्ता नहीं हैं। वर्तमान में जो

पुण्य-पाप व राग-द्वेष-मोह के भाव होते हैं, उनमें पूर्व कर्म निमित्त होते हैं। उन कर्मों के परिणामों के निमित्त से नवीन कर्म वंधते तो हैं, पर उन मोहादि ने कर्म वन्धन में किया कुछ भी नहीं है। इसप्रकार परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव हैं, परन्तु कर्ता-कर्म भाव नहीं है।

अरे भाई ! यह मूल सिद्धान्त है कि एक द्रव्य के कारण दूसरे में कुछ भी नहीं होता। परंतु अज्ञानी कल्पना से ऐसा मानते हैं कि मैं ही घर वाहर की वहुत सारी व्यवस्थाएं करता हूँ, अन्यथा ऐसी सुन्दर व्यवस्था संभव ही नहीं थी। जव कभी मैंने ध्यान नहीं दिया, अथवा मैंने अमुक काम नहीं किया या नहीं कर पाया तो वह काम हुआ ही नहीं। ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएं इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अज्ञानी ऐसा सोचता है, मानता है और कहता भी है, पर यह उसका सोचना मिथ्या है।

आचार्य अज्ञानी से कहते हैं कि भाई ! यह सव तेरा भ्रम है, यह तेरी गलत मान्यता है। तूने तो मात्र राग-द्वेष-मोह के भाव ही किए हैं। राग-द्वेष-मोह के भाव ही पुनः पुद्गल कर्म के वंध के निमित्त कारण होते हैं।

तात्पर्य यह है कि पुराना कर्म राग-द्वेष-मोहादि विकार का निमित्त होता है और वर्तमान राग-द्वेष-मोहादि परिणाम नवीन कर्मबंधन के निमित्त होते हैं। इसप्रकार अनादि से अज्ञानी की संसार परम्परा चलती आ रही है। •

गाथा २८३ से २८५

कथमात्मा रागादीनामकारक एवेति चेत् –

अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं ।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा ॥ २८३॥
अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चखाणं पि ।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा ॥ २८४॥
जावं अप्पडिकमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वदि आदा तावं कत्ता सो होदि णादव्वो ॥ २८५॥

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम् ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ २८३॥
अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानम् ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ २८४॥
यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः ।
करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥ २८५॥

आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः। यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स, द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्, अकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितं – परद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावः। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्त्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्, तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादि भावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादीनामकारक एवात्मा। तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावत्कर्तैव स्यात्। यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिक भूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च, यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात्।

है द्विविध अप्रतिक्रमण एवं द्विविध है अत्याग भी ।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा ॥ २८३॥
अत्याग अप्रतिक्रमण दोनों द्विविध हैं द्रवभाव से ।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा ॥ २८४॥
अत्याग अप्रतिक्रमण दोनों द्विविध हैं द्रवभाव से ।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा ॥ २८५॥

गाथार्थ – [अप्रतिक्रमणं] अप्रतिक्रमण [द्विविधम्] दो प्रकार का [तथा एव] उसी तरह [अप्रत्याख्यानं] अप्रत्याख्यान दो प्रकार का [विज्ञेयम्] जानना चाहिए; [एतेन उपदेशेन च] इस उपदेश से [चेतयिता] आत्मा [अकारकः वर्णितः] अकारक कहा गया है।

[अप्रतिक्रमणं] अप्रतिक्रमण [द्विविधम्] दो प्रकार का है – [द्रव्ये भावे] द्रव्य सम्वन्धी तथा भाव सम्बन्धी; [तथा अप्रत्याख्यानम्] इसीप्रकार *अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है – द्रव्य सम्वन्धी और भाव सम्बन्धी;* – [एतेन उपदेशेन च] इस उपदेश से [चेतयिता] आत्मा [अकारकः वर्णितः] अकारक कहा गया है

[यावत्] जवतक [आत्मा] आत्मा [द्रव्यभावयोः] द्रव्य का और भाव का [अप्रतिक्रमणम् च अप्रत्याख्यानं] अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान [करोति] करता है [तावत्] तवतक [सः] वह [कर्ता भवति] कर्ता होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिए।

टीका – आत्मा स्वतः रागादिका अकारक ही है; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावों का कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकर्तृत्त्व को ही वतलाया है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं।

यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा, और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जायेगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है (इसप्रकार यद्यपि आत्मा रागादि का अकारक ही है) तथापि जबतक वह निमित्तभूत द्रव्य का (- परद्रव्य का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक नैमित्तिकभूत भावों का (- रागादिभावों का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता। और जब तक इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक वह उनका कर्ता ही है। जब वह निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है तभी नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है। और जब इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ – अतीत काल में जिन परद्रव्यों का ग्रहण किया था उन्हें वर्तमान में अच्छा समझना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है और उन द्रव्यों के निमित्त से जो रागादिभाव हुए थे उन्हें वर्तमान में अच्छा जानना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, भाव अप्रतिक्रमण है। इसीप्रकार आगामी काल सम्बन्धी परद्रव्यों को इच्छा रखना, ममत्व रखना, द्रव्य अप्रत्याख्यान है और उन परद्रव्यों के निमित्त से आगामी काल में होनेवाले रागादिभावों की इच्छा रखना, ममत्व रखना, भाव अप्रत्याख्यान है। इसप्रकार द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान – ऐसा जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो प्रकार का उपदेश है वह द्रव्य-भाव के निमित्तनैमित्तिक - भाव को बतलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि – परद्रव्य तो निमित्त हैं और रागादिभाव नैमित्तिक हैं। इसप्रकार आत्मा रागादिभावों को स्वयमेव न करने से रागादिभावों का अकर्ता ही है – ऐसा सिद्ध हुआ। इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा रागादिभावों

का अकर्ता ही है तथापि जबतक उसके निमित्तभूत परद्रव्य के अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है तबतक उसके रागादिभावों का अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है। और जबतक रागादिभावों का अप्रतिक्रमण-अप्रत्यख्यान है तबतक वह रागादिभावों का कर्ता ही है। जब वह निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करता है तब उसके नैमित्तिक रागादिभावों का भी प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है और जब रागादिभावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है तव वह साक्षात् अकर्ता ही है।

गाथा २८३ से २८५ तक प्रवचन

इन गाथाओं में आगम के आधार से इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि आत्मा रागादि का अकारक किसप्रकार है ?

यह अधिकार थोड़ा सूक्ष्म है, अतः ध्यान देकर सुनना। कहते हैं कि ज्ञायक स्वभावी शुद्ध चिदानंद आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से रागादि विकाररूप नहीं होता, विकार का कर्ता नहीं होता। स्वभाव से तो आत्मा रागादि का अकारक ही है। अरे ! अनन्तकाल से यह अपने अज्ञान से दुःखी है। प्रभु आत्मा का स्वभाव तो अकेले ज्ञान व आनन्दरूप है। वह राग को कैसे करे ?

प्रश्न – यदि ऐसा स्वभाव है तो फिर इसे राग क्यों व कैसे होता है ?

उत्तर – अज्ञानी ऐसा मानकर पर का लक्ष्य करता है कि मैं पर का स्वामी हूँ। अज्ञानी की यही मान्यता रागादि विकार उत्पन्न होने में कारण बनती है। वह अपने स्वरूप से स्वस्वामीसंबंध न करके परद्रव्यों एवं पुण्य-पाप के भावों से स्वामित्व की प्रतीति करता है। इस कारण उसे राग होता है तथा बन्ध होता है। इसमें परद्रव्य तो मात्र निमित्त कारण है। परद्रव्य रागादि उत्पन्न नहीं कराते। जब जीव स्वयं परद्रव्य के लक्ष्य से परिणमन करता है, तब विकार उत्पन्न होता है।

आत्मा स्वभाव से तो रागादि का अकारक ही है। यदि आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ही रागादि शुभाशुभ भावों का कर्त्ता हो तो द्रव्य व भाव रूप से किया

गया अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का दो प्रकार का उपदेश संभव नहीं होगा। द्रव्यप्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान अर्थात् उन संयोगी पदार्थों का त्याग जो विकार के उत्पन्न होने में निमित्त होते हैं। तथा भावप्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान अर्थात् शुभाशुभ विकार का त्याग - ऐसे दोनों ही प्रकार के प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान का उपदेश संभव नहीं है; क्योंकि यदि आत्मा स्वभाव से ही रागादि का कारक हो तो फिर वह रागादि को कैसे छोड़ सकता है ?

वस्तुतः तो द्रव्य व भाव अप्रतिक्रमणादि से पीछे हटने का ही उपदेश है।

पहले भी कहा था कि 'त्रिकाली ध्रुव अकेला चैतन्यविम्ब भगवान आत्मा राग-द्वेषादि विकारी भावों का अपने स्वभाव से तो अकारक ही है।' और यहाँ भी प्रकारान्तर से यही कहते हैं कि यदि ऐसा न हो तो भगवान के उपदेश में जो यह आया कि 'शुभाशुभभावरूप विकार और विकार के निमित्त वाह्य वस्तुएं' - इन दोनों से पीछे हटने का अर्थात् प्रतिक्रमण करने का उपदेश ही संभव नहीं हो सकता। इसलिए यह निश्चित हुआ कि विकार एवं विकार के कारणों का आत्मा अकारक ही है तथा दोनों से ही हटने का भगवान का उपदेश है।

द्रव्य और भाव के परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपने को जाहिर करते हुए अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान को द्रव्य व भावरूप दो प्रकार का कहा है। विकार का भाव तो नैमित्तिक है और वाह्यवस्तु स्त्री-पुत्र-परिवार, धन व्यापार-धंधा वगैरह निमित्त हैं। इन दोनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संवंध है। एक-दूसरे के परस्पर कारणपना भी उपचार मात्र है। एक में दूसरे के कारण कुछ भी होता नहीं है। एवं वे एक-दूसरे के लिए सर्वथा अकिंचित्कर हैं। जव जीव स्वयं ही स्वयं के स्वभाव को भूलकर विकारभाव करता है, तव वहाँ निकटवर्ती अनुकूल अन्य द्रव्य अपनी योग्यता से निमित्तरूप होता है। ऐसा विकार का व परद्रव्य का निमित्त-नैमित्तिक सहज संवंध है।

इन पुण्य-पाप रूपभावों के जो असंख्य प्रकार के विकारी भाव हैं, वे नैमित्तिक हैं और वाह्य वस्तुएं निमित्त हैं। यही दोनों में निमित्त-नैमित्तिक संवंध

है। आचार्य कहते हैं कि इन दोनों का संबंध छोड़, क्योंकि इन निमित्तों के लक्ष्य से हुआ विकार आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। अत: इनसे पीछे हट। इस उपदेश का अर्थ ही यही है कि विकार का कर्ता आत्मा नहीं है। परंतु अज्ञानी अज्ञान भाव से स्वयं को पर का कर्ता मानता है।

यहाँ स्वद्रव्य से बाह्य जो पर निमित्त हैं, उन पर से उपयोग हटाने को कहा है, क्योंकि परलक्ष्यी उपयोग को स्वरूपसन्मुख कराना है। ऐसा करने से ही विकार नष्ट होगा और आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में आ जावेगा। इसी का नाम धर्म है, प्रतिक्रमण है। ऐसा उपदेश ही द्रव्य व भाव के सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध को जाहिर करता हुआ आत्मा के अकर्तापन को दर्शाता है।

अप्रतिक्रमण व अप्रत्याख्यान दोनों ही दो-दो प्रकार के हैं। एक तो परद्रव्य के लक्ष्यरूप द्रव्यअप्रतिक्रमण और दूसरा परद्रव्य के लक्ष्य से हुए विकाररूप भावअप्रतिक्रमण। ऐसा द्वैत आत्मा की पर्याय में है, स्वभाव में नहीं। पर्याय में हुए अप्रतिक्रमण का ही त्याग हो सकता है। यदि स्वभाव हो तब तो त्यागना ही संभव नहीं था और उसके त्याग का उपदेश भी संभव नहीं था।

• भाई ! ये द्रव्य व भाव अप्रतिक्रमण और अप्रत्यख्यान तेरी पर्याय में हैं, तू उन्हें छोड़; क्योंकि ये तेरे स्वभाव नहीं हैं। वस्तुस्वरूप से तो तू इनका अकर्ता ही है।

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकीनाथ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि तू अकारक है। जैसा मैं जगत का ज्ञाता-दृष्टा हूँ, तू भी वस्तुत: वैसा ही ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी हैं। तेरे जो पुण्य व पापरूप भाव होते हैं, पर की ओर लक्ष्य जाता है - यह तेरा अकृत्रिमस्वभाव नहीं है। तू जो पर की ओर लक्ष्य करता है और विकार करता है - ये ! तेरा स्वरूप नहीं है। भगवान ! तू तो इनसे भिन्न निराली वस्तु है। अरे ! तेरा हमारे ऊपर भी जो लक्ष्य जाता है, वह भी अप्रतिक्रमण ही है, अप्रत्याख्यान ही है। और की तो बात ही क्या है ? क्योंकि हम भी परद्रव्य हैं न ? और परद्रव्य के लक्ष्य से राग ही होता है। इसलिए परद्रव्य के लक्ष्य से और राग से हट जा।

यहाँ निमित्त व नैमित्तिक दोनों ही भावों को छोड़ने के उपदेश से ऐसा सिद्ध होता है कि भगवान आत्मा स्वभाव से अकर्त्ता है। तात्पर्य यह है कि जो परवस्तु रूप बाह्य निमित्त हैं, उनका त्याग कराया है। बाह्य वस्तु के त्याग के उपदेश से तत्संबंधी भावों का भी त्याग हो जावेगा।

देखो, जबतक पूर्ण वीतरागता न हो तबतक धर्मी को भी देव-गुरु आदि परद्रव्य के लक्ष्य का शुभभाव आता है, किंतु वास्तव में ये अप्रतिक्रमण व अप्रत्याख्यान ही हैं। ये स्वरूप के वास्तविक साधन नहीं हैं।

स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादि तो पाप के निमित्त हैं और देव-गुरु-शास्त्र आदि पुण्य के निमित्त हैं। इसकारण इन दोनों का ही प्रतिक्रमण कराया है। दोनों को ही दृष्टि में से हटाने को कहा है। बाह्यवस्तु और बाह्यवस्तु के लक्ष्य से हुए विकारीभाव आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। ये आत्मा के त्रिकाली अस्तित्व में हैं ही नहीं, इसलिए दोनों से मुख मोड़ने को कहा है। तथा स्वरूप की ओर वापिस आने की प्रेरणा दी है।

देखो, यह बन्ध अधिकार है। इसमें यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा वास्तव में अकारक है; किन्तु जबतक यह स्व-द्रव्य का लक्ष्य छोड़कर परद्रव्य के लक्ष्य से परिणमता है, तबतक इसे रागादि विकार होते हैं और इससे इसे बन्ध भी होता है। यहाँ जो निमित्तरूप परद्रव्य हैं तथा उनके लक्ष्य से हुए नैमित्तिकरूप विकारीभाव हैं। इन दोनों में एकसमय का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, पर दोनों ही आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। यदि आत्मा का स्वभाव विकाररूप होने का हो तो विकार व विकार के निमित्तों से बचना संभव ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में द्रव्य व भावरूप अप्रतिक्रमण को छोड़ने का उपदेश भी निरर्थक सिद्ध होगा। परंतु ऐसा नहीं है, क्योंकि विकार नैमित्तिक है, स्वभावभाव नहीं है, स्वभाव के लक्ष्य से इन्हें अवश्य ही छोड़ा जा सकता है। जैसे कि तबतक जीव कुदेव-कुगुरु आदि परद्रव्य के लक्ष्य से विकार रूप परिणमता है, तबतक उसे मिथ्यात्वादि भाव होते हैं और उनसे बंध भी होता है। तथा तब जीव कुगुरु-कुदेवरूप परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ता है और उनके

लक्ष्य से हुए विभाव का लक्ष्य छोड़कर स्व लक्ष्य में जाता है तब द्रव्य एवं भाव दोनों का ही प्रतिक्रमण हो जाता है। जिन्हें भी धर्म करना है, उन्हें अपना लक्ष्य पर की ओर से फेरना ही चाहिए। जीव अनादिकाल से परद्रव्य के और विकार के लक्ष्य से परिणम रहा है, इसकारण राग-द्वेषादि विकाररूप अधर्म ही हो रहा है। अत: वहाँ से लक्ष्य फेरकर-हटाकर स्व का लक्ष्य करना चाहिए; क्योंकि स्वरूप में परद्रव्य रूप निमित्त भी नहीं और नैमित्तिक विभाव भी नहीं।

भगवान आत्मा का स्वभाव परद्रव्य और उसके लक्ष्य से हुए विकारी परिणमों के अभाव स्वभाव रूप है। व्यवहार दया-दान-भक्ति के विकल्प भी तेरे कर्तव्य नहीं हैं; क्योंकि जव पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, तब ये विकल्प होते हैं। इसकारण भगवान का उपदेश है कि परद्रव्यों को एवं परद्रव्य के लक्ष्य से हुए विकारी भावों को छोड़ दे।

भगवान आत्मा सदा जिनस्वरूप – वीतराग-स्वरूप ही है तथा कर्म अर्थात् पुण्य-पाप के भाव से लेकर सभी प्रकार के विकारी भाव व परद्रव्य अजीव हैं, पर हैं; क्योंकि पुण्य-पाप में आत्मा नहीं और आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप नहीं। अहा ! पुण्य-पाप के भाव तो पर के लक्ष्य से हुए नैमित्तिक भाव हैं और वे स्वभाव के लक्ष्य से छोड़ने योग्य हैं।

देखो, जितने भी विकारी भाव हैं, वे सब आत्मा की दशा में नैमित्तिक हैं और उनमें परद्रव्य निमित्त है। इन दोनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। यहाँ उन्हें छुड़ाने की अपेक्षा है। इसकारण भगवान ने अपने उपदेश में दोनों को ही – द्रव्य व भावरूप अप्रत्याख्यान को ही छोड़ने का उपदेश दिया है।

भगवान ऐसा कहते हैं कि राग व राग के लक्ष्य वाली वस्तुएँ आत्मा नहीं हैं, वे सब आत्मा से पृथक् हैं। इससे वे धर्म नहीं हैं। यह आत्मा तो अन्दर में विराजमान अनन्त गुण मण्डित चैतन्य महाप्रभु है। इसे पर के लक्ष्य से तथा पर के लक्ष्य से हुए विकार से छुड़ाने और स्वभाव में ले जाने के लिए उपदेश है; क्योंकि जब यह स्वभाव में आवे तभी इसे धर्म और सुख होगा।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा प्रभु शुद्ध एक त्रिकाली द्रव्य है, तथा राग व राग के लक्ष्यभूत परद्रव्य आत्मा से भिन्न हैं। यदि रागादि भावों को आत्मा का स्वरूप

माना जाये अथवा आत्मा को उनका कर्ता कहा जाए तो आत्मा को रागादि के नित्य कर्तृत्व का प्रसंग प्राप्त होगा। और यदि यह न माना जाए कि रागादि भावों का निमित्त परद्रव्य ही है तो एक आत्मा को ही रागादि भावों की उत्पत्ति का निमित्तपना मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से आत्मा को राग का नित्य कर्तापना मानना पड़ेगा। तथा ऐसा मानने से आत्मा कभी भी राग रहित नहीं हो सकेगा।

अहा ! आत्मा पर का प्रतिक्रमण करे, पर से पीछे हटकर स्वभाव में आये। यदि आत्मा का ऐसा स्वभाव न माना गया तो आत्मा सदा विकार करता ही रहेगा और संसार में रखड़ता ही रहेगा। राग रहित होने का प्रसंग ही नहीं आयेगा। यह महादोष उत्पन्न होगा।

जबकि भगवान आत्मा तो त्रिकाल मोक्षस्वरूप वीतरागस्वरूप ही है। स्वभाव से आत्मा रागादि का अकारक ही है। इसीकारण भगवान आत्मा रागादि विकार व विकार के लक्ष्य से रहित हो – ऐसा उपदेश है।

प्रश्न – यह तो ठीक, पर जब आत्मा को करना क्या है ? यह बताइये न कि आखिर हम क्या करें ?

उत्तर – भाई ! हम को तो सच्ची समझ करनी है। राग अर्थात् पुण्य-पाप के भाव तथा उनके लक्ष्यरूप पर-पदार्थों पर से दृष्टि हटाकर, उनका लक्ष्य छोड़कर आत्मसन्मुख ढलने का कार्य करना है। विभाव व विभाव के निमित्तों का लक्ष्य छोड़कर स्वभावसन्मुख होने का प्रयत्न करना है। जो दया-दान, व्रत-भक्ति के शुभभाव भूमिकानुसार आते हैं, उन्हें रागरूप जानकर उनसे व उनके निमित्तों से हटकर आत्मसन्मुख होने की भावना करना है और इसी प्रकार स्वरूप सन्मुख होने का पुरुषार्थ करना है। यही करने योग्य है – ऐसी श्रद्धा और भावना निरंतर कर्तव्य है। जिन विभाव भावों को अन्ततोगत्वा छोड़ना ही है, उन्हें करने योग्य कैसे माना जा सकता है ?

अहाहा··· ! परद्रव्य निमित्त और उसके लक्ष्य से हुए रागादि भाव नैमित्तिक– ऐसा परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताकर परद्रव्य व

रागादि – दोनों का ही निषेध किया है और त्रिकाली आत्मा को अविकारी व अकारक स्वभाव में स्थापित किया है।

अब कहते हैं कि यदि ऐसा नहीं हो तो आत्मा स्वयं स्वभाव से ही कारक ठहरे। तथा यदि आत्मा को कारक मान लिया गया तो वह नित्य रागादि विकार ही किया करेगा। सदा दुःखी ही रहेगा। कभी भी दुःख से मुक्त नहीं हो सकेगा।

इस उपर्युक्त कथन से सिद्ध है कि 'पर द्रव्य ही आत्मा के विकार का निमित्त है, स्वद्रव्य नहीं।' अहाहा ! शुद्ध चैतन्य मूर्ति चिदानन्द रसकंद आत्मा विकार होने में निमित्त कारण नहीं है। परद्रव्य ही इसके विकारी होने में निमित्त कारण है। जब परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाता है तभी आत्मा विकारी होता है। अतः परद्रव्य ही विकार का निमित्त है। अष्टापाहुड़ में कहा है 'पर दब्बाओ दुग्गई' अर्थात् अपने स्वद्रव्य के सिवाय परद्रव्य में लक्ष्य जाने से जो शुभाशुभभाव होते हैं वे शुभाशुभभाव ही दुर्गति के कारण हैं।

अष्टापाहुड़ के इस कथन में से कोई ऐसा अर्थ निकाल सकता है कि – पर द्रव्य ही आत्मा में राग-द्वेष कराते हैं, परद्रव्य ही दुर्गति के हेतु हैं, पर उनका ऐसा अर्थ निकालना यथार्थ नहीं है; क्योंकि परद्रव्य के लक्ष्य से एवं स्वयं अपनी योग्यता से तद्रूप परिणाम होते हैं और आत्मा की दुर्गति होती है। अथवा उसमें विकारी भाव उत्पन्न होते हैं। परद्रव्य किसी को विकार नहीं कराता। राग में स्वामित्वबुद्धि ही वस्तुतः विकार का कारण है। इस अपेक्षा परद्रव्य ही आत्मा को पुण्य-पाप आदि का निमित्त है। ऐसा स्वीकार होने पर आत्मा स्वयं स्वतः तो रागादि का अकारक ही ठहरता है। जो इस टीका में प्रारंभ में कहा था – वह बात अब भली-भाँति सिद्ध हो गई।

इसप्रकार भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु रागादि का अकारक ही है। रागादि का मूलकारण तो परवस्तु का निमित्तपना और स्वामीपना है। जब राग व राग के लक्ष्य वाले परद्रव्य की ओर का स्वमीपना छूटता है, तब आत्मा स्वभाव का स्वामी होता है और तभी वह रागादि का अकारक ज्ञातादृष्टा होता है।

प्रश्न – यह तो समझने में भारी कठिन पड़ता है। धर्म करने का इससे सरल कोई उपाय नहीं है ?

उत्तर – अरे भाई ! यही सबसे सरल मार्ग है। इससे सरल अन्य कोई उपाय नहीं है। इसके सिवाय सभी उपाय संसार के ही कारण हैं, जिन्हें अज्ञानवश लोगों ने मुक्तिमार्ग मान रखा है।

अब कहते हैं कि – आत्मा स्वभाव से तो अकारक ही है, तथापि जबतक वह निमित्तभूत परद्रव्यों का प्रतिक्रमण नहीं कर पाता, उनसे विमुख होकर स्वरूप की ओर नहीं झुक पाता, परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर वहाँ से उपयोग को हटा नहीं पाता, तबतक वह नैमित्तिकभूत रागादि भावों का प्रतिक्रमण नहीं कर पाता। अहा ··· ! वह अनादि से परद्रव्य के लक्ष्य में अटका है। स्वयं जो ज्ञानानंदस्वरूप है, उसमें नहीं आता, परद्रव्यों के निमित्तों से ही घिर रहा है।

दया पालूँ, व्रत करूँ, पूजा-पाठ करूँ, भक्ति करूँ, इसप्रकार परद्रव्य के लक्ष्य में अटक रहा है। इसप्रकार के निमित्तभूत लक्ष्य से जबतक हटता नहीं तबतक नैमित्तिक रागादि से भी वह नहीं हट सकता।

अज्ञानी निमित्त का लक्ष्य छोड़ता नहीं है। इसकारण निमित्त के लक्ष्य से हुए विकारी भावों को भी कैसे छोड़ सकता है ? पर के लक्ष्य में उपयोग जायेगा तो विकार तो होगा ही। जबतक परलक्ष्य से हटेगा नहीं तबतक नैमित्तिक विकार से भी वह नहीं बच सकता।

इस उपर्युक्त कथन से कुछ लोग ऐसा अर्थ निकालते हैं कि – परपद्रव्यों को छोड़ें तो परद्रव्य के संबंध से हुआ विकार छूट जायेगा। इसलिए परद्रव्य को छोड़ने का उपदेश देने लगते हैं। परंतु यहाँ तो यह कहा है कि जो परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ता है तो उसके लक्ष्य से होनेवाले विकार को भी छोड़ देता है।

अहाहा ···! जबतक जीव निमित्तभूत परद्रव्य का लक्ष्य नहीं छोड़ता तबतक उनका प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान नहीं करता। तभी तक उसके निमित्त से होने वाले नैमित्तिक-पुण्य-पाप के भावों का भी प्रत्याख्यान व प्रतिक्रमण नहीं होता। जबतक परद्रव्य का लक्ष्य रहता है तबतक तो शुभाशुभ विकार ही होता है। तथा जबतक वह विकार के भावों का प्रतिक्रमण नहीं करता,

प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक वह कर्त्ता होता है। अहा··· ! अज्ञानी राग-द्वेष भावों का कर्त्ता ही है। यद्यपि वस्तु का स्वभाव अकर्त्ता है, परंतु निमित्त व निमित्त के लक्ष्य से हुए विकार को जबतक त्यागता नहीं है तबतक वह उसका कर्त्ता ही है।

'आत्मा स्वभाव से तो रागादि का अकारक ही है।' पर ध्यान रहे, यह कथन द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से किया गया कथन है। पर्याय की अपेक्षा कहें तो बात यह है कि - जब तक जीव स्वद्रव्य का लक्ष्य नहीं करता, परद्रव्य का ही लक्ष्य करता रहता है; तबतक वह परके लक्ष्य से होनेवाले राग-द्वेष-मोहादि भावों को नहीं छोड़ता। और तबतक वह उनका कर्ता ही है।

भाई, यह वीतरागता का मार्ग यद्यपि बहुत सूक्ष्म है, परंतु इसका फल अनन्त आनन्द व अनंत सुख है। देखो, जब जीव विकार के निमित्तभूत परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ता है, तभी वह नैमित्तिकभूत विकार को छोड़ता है। तथा जब विकारी भावों को छोड़ता है तब साक्षात् अकर्त्ता होता है। स्वभाव से तो जीव सदैव अकर्ता ही है, परंतु निमित्त-नैमित्तिक संबंध के छूटने पर पर्याय में भी साक्षात् अकर्त्ता हो जाता है।

यहाँ 'निमित्तभूत परद्रव्य को छोड़े' - ऐसा जो कहा - उसका अर्थ परद्रव्य को छोड़ना नहीं है, बल्कि परद्रव्य के लक्ष्य को छोड़ने की बात कही है। परद्रव्य तो छूटा हुआ ही है, उसे जब ग्रहण ही नहीं किया तो छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ से उठ सकता है ? परद्रव्य तो छूटा ही पड़ा है। उसे पकड़ा ही कब था जो छोड़े? वस्तुतः आत्मा तो परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित ही है।

गाथा २८३ से २८५ के भावार्थ पर प्रवचन

'अतीतकाल में जो परद्रव्य का ग्रहण किया था' - इस कथन का अर्थ यह है कि - इन शरीर, वाणी, इन्द्रियाँ और स्त्री-पुत्र परिवार, धनादि परपदार्थों को जो अबतक अपना मानकर उनके ऊपर अपना लक्ष्य केन्द्रित किए था, उन सब परद्रव्यों को वर्तमान में भला जानना, उनके संस्कार रहना और उनके प्रति ममत्व रखना द्रव्य अप्रतिक्रमण है।

यहाँ द्रव्य का अर्थ है परवस्तु और अप्रतिक्रमण का अर्थ है उस पर से उपयोग या लक्ष्य का न हटना। यही द्रव्य अप्रतिक्रमण है। अपनी शुद्ध चैतन्य सत्ता को छोड़कर पूर्व में ग्रहण किए हुए शरीरादि में रुक जाना, अटक जाना द्रव्य अप्रतिक्रमण है।

तथा शरीरादि परपदार्थों के निमित्त से पूर्व में जो राग-द्वेष के भाव हुए, उन्हें वर्तमान में भला जानना, उनके संस्कार रहना, उनमें ममत्व रहना भाव-अप्रतिक्रमण है। अहा ! पूर्व में जो परद्रव्यों के लक्ष्य से राग-द्वेषादि भाव हुए थे, उनसे वर्तमान में निवृत्त न होना, उनसे उपयोग को पीछे नहीं हटाना - बस, इसी का नाम भाव अप्रतिक्रमण है। यह अज्ञानी का सबसे बड़ा मिथ्यात्वरूप पाप है।

'मैंने अनेक लोकोपकार के कार्य किए, जनता की सेवा की, लाखों रुपया दान दिया, जीवों की रक्षा की' आदि रूप में परद्रव्यों के लक्ष्य से जो राग-विकार हुआ था, उसे वर्तमान में भला जानना, उनके संस्कार रहना और उनका ममत्व रहना - यह भाव अप्रतिक्रमण है।

पूर्व में जो परद्रव्य रूप देव-शास्त्र-गुरु मिले थे, उनके लक्ष्य से पीछे नहीं हटना द्रव्य-अप्रतिक्रमण है। तथा उन्हें भला मानकर उनके प्रति जो राग हुआ उसे वर्तमान में भला जानकर निवर्तमान नहीं होना वह भाव अप्रतिक्रमण है।

इसी प्रकार आगामी काल संबंधी परद्रव्यों की वांछा रखना, ममत्व रखना द्रव्य अप्रत्याख्यान है तथा उन परद्रव्यों के निमित्त से आगामी काल में होनेवाले रागादि भावों की वांछा रखना, ममत्व रखना भाव अप्रत्याख्यान है।

भविष्य में शरीर स्वस्थ एवं सुन्दर मिले तो ठीक, सुख-सामग्री अनुकूल मिले तो ठीक; भविष्य के लिए परद्रव्यों की ऐसी वांछा रखना, उनमें ममत्व रखना द्रव्य अप्रत्याख्यान है। तथा परद्रव्य के निमित्त से आगामी काल में होनेवाले पुण्य-पापादि भावों की वांछा रखना, भविष्य में ऐसे शुभाशुभ भाव हों तो ठीक; ऐसी विभाव भावों की वांछा रखना, उनका ममत्व रखना भाव अप्रत्याख्यान है।

अहाहा ···! चैतन्य मूर्ति आत्मा जो अकेला पवित्रता का पिण्ड है। ऐसी अपनी निर्विकार निर्मल पवित्र वस्तु को भूलकर शरीरादि परद्रव्यों के साथ एकत्व-ममत्व रूप वांछा करना द्रव्य अप्रतिक्रमण है। देव गुरु शास्त्र का लक्ष्य करके भविष्य में इनका संयोग हो - ऐसी वांछा रखना तथा उनके प्रति ममत्व करना द्रव्य अप्रत्याख्यान है। तथा उनके लक्ष्य से जो शुभाशुभभाव हों तो वे ठीक हैं - ऐसी वांछा करना भाव अप्रत्याख्यान है।

जिनवाणी में अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का दो प्रकार से उपदेश है, जो द्रव्य-भाव के निमित्त-नैमित्तिक भाव को दर्शाता है। तात्पर्य यह है कि जो राग-द्वेषादि विकार पर्याय में होते हैं, उनका कारण आत्मा नहीं है तथा वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु जो विकारी परिणाम हैं, वे नैमित्तिक हैं तथा जिसके लक्ष्य से वे विकार होते हैं, वे परद्रव्यों के निमित्त हैं। इसप्रकार परद्रव्य और उसके लक्ष्य से पर्याय में हुए विकारभावों के परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपना है, कर्त्ता-कर्मपना नहीं। नैमित्तिक विकार को निमित्त उत्पन्न नहीं करता। हाँ, निमित्त के लक्ष्य से नैमित्तिक भाव-विकारीभाव उत्पन्न होता है।

ये शरीर, वाणी एवं आठ द्रव्यकर्म मिट्टी हैं, पौद्गलिक हैं; इनके साथ भगवान आत्मा का कोई संबंध नहीं है। अहा ···! जगत की प्रत्येक वस्तु भगवान आत्मा से संबंध रहित है, भिन्न है, तथा उन परवंस्तुओं के लक्ष्य से, निमित्तों के लक्ष्य से उत्पन्न हुए रागादि भाव नैमित्तिक होने से भगवान आत्मा से भिन्न हैं।

देखो, आत्मा स्वभाव से पर का अकर्त्ता होते हुए भी जबतक इसको भूतकाल व भविष्यकाल के परद्रव्यों के लक्ष्य का त्याग नहीं है, तब तक उसको नैमित्तिक रागादि भावों का भी अप्रतिक्रमण व अप्रत्याख्यान है। तथा जब तक वह उन भूत व भविष्य के परद्रव्य संबंधी राग-द्वेषादि विकारी भावों को नहीं छोड़ता तबतक वह उन राग-द्वेषादि भावों का कर्ता ही है।

अहा ···! जबतक भूत व भविष्य काल के विकारी भावों का - पुण्य-पाप के भावों का इसे प्रेम है, संस्कार व ममत्व का भाव है, तबतक वह रागादि का कर्त्ता ही है। स्वभाव से अकर्त्ता है, तथापि जबतक विकार को व परद्रव्यों

को भला मानकर परिणमता है, तवतक अज्ञान भाव से वह रागादि का कर्त्ता ही है।

अहाहा ··· ! आत्मा जब भूतकाल संबंधी परद्रव्यों के लक्ष्य से हटता है, तथा भविष्य के परद्रव्यों का भी वर्तमान में त्याग करता है, उसे नैमित्तिक रागादि भावों का दृष्टि में से त्याग हो जाता है। तथा आनंदकंद प्रभु आत्मा का लक्ष्य व ग्रहण हो जाता है। यही सच्चा प्रतिक्रमण है एवं प्रत्याख्यान है। अहा ···! जब जीव निमित्तभूत द्रव्य व नैमित्तिक विकार को दृष्टि में से छोड़कर स्वद्रव्य का लक्ष्य करता है और इसी का आश्रय करता है, तब उसे रागादि का प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान होता है। तभी ज्ञानी आत्मा साक्षात् अकर्त्ता होता है।

अहाहा ··· ! यह धर्म का मार्गदर्शन करने वाली अलौकिक बात है। कहते हैं कि 'परवस्तु तथा परवस्तु के निमित्त से होनेवाले भूतकाल व भविष्य काल संबंधी विकारों से पीछे हटकर उनका त्याग करके निर्विकारी निज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप में सावधान होकर लीन होने का नाम ही समकित एवं धर्म है।'

अहाहा ··· ! आत्मा शुद्ध चैतन्यमय वस्तु है, वह एक ही समय में अर्थात् एक ही साथ पूर्ण ज्ञान व आनन्द का सागर है। ऐसे पूर्ण परमात्मस्वरूप निज आत्मा का आश्रय एवं लक्ष्य किए बिना अनादि से – भूतकाल के शरीरादि पर द्रव्यों के राग में अनुकूलता का वेदन होना ही अप्रतिक्रमण है। तथा उन परद्रव्यों के निमित्त से अपने में हुए रागादि भावों में अपनापन ही भाव अप्रतिक्रमण है।

इसीप्रकार और भी वज्रवृषभनाराच आदि वाला मजबूत शरीर हो तो ठीक है; क्योंकि इसी से केवलज्ञान आदि होते हैं; तथा भविष्य में पुनः मनुष्य पर्याय मिले तो ठीक है; क्योंकि नरभव से ही मुक्ति होती है आदि। इसतरह भविष्य के लिए परद्रव्यों की पराधीनता संस्कारों एवं ममत्व को ठीक मानना द्रव्य अप्रत्याख्यान है तथा इन परद्रव्यों के निमित्त से जो रागादि भाव होते हैं, उनमें भलेपने की बुद्धि एवं ममता रखना भाव अप्रत्याख्यान है।

(अरे …! इस जीव को अनन्तकाल में अब तक 'स्व' व 'पर' की भिन्नता का भेदज्ञान हुआ ही नहीं है। पर में ही सदा से एकत्व बुद्धि की है।)

यहाँ कहते हैं कि - भूत-भविष्य संबंधी परद्रव्यों को एवं परद्रव्यों के निमित्त से हुए अपने रागादि भावों की एकता तोड़कर जब स्व-स्वभाव में एकता करे, तब ही सच्चा प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान होता है। ये प्रतिक्रमण एवं प्रत्याख्यान ही यथार्थ धर्मस्वरूप हैं। जब जीव विकार व विकार के निमित्तों से पीछे हटकर शुद्ध स्वभाव में आये, तब साक्षात् अकर्त्ता होता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ॥
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं ।
येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥

श्लोकार्थ – [इति] इसप्रकार (परद्रव्य और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता को) [आलोच्य] विचार करके [तद्-मूलां-इमाम् बहुभावसन्ततिम् समम् उद्धर्तुकामः] परद्रव्यमूलक बहुभावों की सन्तति को एक ही साथ उखाड़ फेंकने का इच्छुक पुरुष [तत् किल समग्रं परद्रव्यं बलात् विवेच्य] उस समस्त परद्रव्य को बलपूर्वक (-उद्यमपूर्वक, पराक्रमपूर्वक) भिन्न करके (-त्याग करके), [निर्भरवहत्-पूर्ण-एक-संविद्-युतं आत्मानं] अतिशयता से बहते हुए (-धारावाही) पूर्ण एक संवेदन से युक्त अपने आत्मा को [समुपैति] प्राप्त करता है [येन] कि जिससे [उन्मूलितबन्धः एषः भगवान् आत्मा] जिसने कर्मबन्धन को मूल से ही उखाड़ फेंका है ऐसा वह भगवान आत्मा [आत्मनि] अपने में ही (-आत्मा में ही) [स्फूर्जति] स्फुरायमान होता है।

भावार्थ – जब परद्रव्य की और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता जानकर समस्त परद्रव्य भिन्न करने में - त्यागने में आते हैं तब समस्त रागादिभावों की सन्तति कट जाती है और तब आत्मा अपना ही अनुभव करता

हुआ कर्म वन्धन को काटकर अपने में ही प्रकाशित होता है। इसलिये जो अपना हित चाहते हैं वे ऐसा ही करें ॥ १७८॥

कलश १७८ पर प्रवचन

आठ कर्मों से रहित अनुपम, चिद्घन भगवान आत्मा स्वद्रव्य है। इसके सिवाय यह शरीर-वाणी, कर्म-नोकर्म, स्त्री-पुत्र-परिवार एवं देव-शास्त्र-गुरु आदि सब परद्रव्य हैं। जिन्हें आत्मा का कल्याण करना हो, उन्हें ये समस्त परद्रव्य त्यागने चाहिए। अर्थात् परद्रव्यरूप जितने भी निमित्त हैं, आश्रय हैं, उन्हें छोड़ना चाहिए; क्योंकि परद्रव्य का लक्षण या आश्रय करने से रागादि विकार होता है। जो स्वद्रव्य का आश्रय छोड़कर परद्रव्य रूप निमित्तों का आश्रय करते हैं, उनको इनके निमित्त से नैमित्तिक भाव के रूप में राग-द्वेष-मोह के भाव होते हैं।

अहाहा··· ! परद्रव्य निमित्त हैं एवं उनके निमित्त से मेरे में उत्पन्न हुए राग-द्वेष-मोह के भाव नैमित्तिक हैं - ऐसा विचार कर परद्रव्य जिनका मूल है ऐसी वहुभाव संतति - विकार संतति को एकसाथ उखाड़ कर फैंकने की इच्छा वाला पुरुष समस्त परद्रव्य को उद्यमपूर्वक हटाकरके पूर्ण एक स्व-संवेदन से युक्त अपने आत्मा को प्राप्त करता है।

'परद्रव्य जिसका मूल है' इस कथन का कितने ही लोग उल्टा अर्थ करते हैं। वे कहते हैं देखो··· ! देखो ··· ! साफ लिखा है कि 'परद्रव्य विकार, कराता है।' पर इसका वास्तविक अर्थ यह नहीं है।

अरे भाई ! परद्रव्य के लक्ष्य से विकार ही होता है, इसकारण विकार की संतति का मूल परद्रव्य को कहा है। विकार के भावों की प्रवाह रूप संतति जो उठती है, उनका मूलकारण तो परद्रव्य का आश्रय, परद्रव्य का स्वामीपना और परद्रव्य के अश्रय से हुए विकार का स्वामीपना है।

अहाहा ··· ! स्वद्रव्य अर्थात् अपना आत्मा शुद्ध एक चैतन्यमूर्ति प्रभु ज्ञान व आनन्द रूप लक्ष्मी का भंडार है। शेष सव पर द्रव्य हैं। यहाँ कहते हैं कि - अपने स्वद्रव्य को छोड़कर लोकालोक की समस्त वस्तुएँ परद्रव्य रूप

निमित्त हैं। उनके आश्रय से विकार होता है। अहा ! देव-शास्त्र-गुरु व साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा भी क्यों न हो ? वे भी स्वद्रव्य की अपेक्षा पर ही हैं। और उनके लक्ष्य से भी पुण्य परिणाम रूप - शुभराग रूप विकार होता है। वीतरागता की अपेक्षा सभी राग विकार रूप ही हैं न ?

अहाहा ··· ! एकमात्र चैतन्य मूर्ति, आनन्दस्वरूप स्वद्रव्य के आश्रय से ही निर्विकार, कल्याणस्वरूप धर्म का परिणाम होता है। इसके सिवाय जो परद्रव्य का आश्रय करके परिणमे तो अकल्याणस्वरूप विकार की संतति का प्रवाह उत्पन्न होता है।

मूलपाठ में 'तनमूला' शब्द का शब्दार्थ - दोष का मूल कारण परद्रव्य है, ऐसा लिखा है। परन्तु उसका अभिप्राय पं. राजमलजी ने कलश टीका में स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि 'परद्रव्य का स्वामित्व है मूल कारण जिसका।' तात्पर्य यह है कि विकार की संतति का मूल कारण परद्रव्य नहीं बल्कि परद्रव्य का स्वामीपना है। अहा ! पूर्णज्ञान व आनन्दस्वरूप आत्मा का स्वमीपना छोड़कर परद्रव्य का स्वामी बनना एवं पर का स्वामित्व स्वीकार करना ही विकार की संतति का मूल है।

प्रश्न – दूसरों को समझाने से धर्मप्रचार तो होता है न ?

उत्तर – हाँ, यह ठीक है, पर भाषा तो परद्रव्य है न ! और उसका आश्रय लेंगे तो विकार ही होगा। अन्य का आश्रय लेने से विकार ही होता है। भले ही वह परद्रव्य का आश्रय पुण्य कार्यरूप हो अथवा पाप कार्यरूप। विकार तो दोनों ही हैं न ? निर्विकारस्वरूप तो एक शुद्धात्मा ही है। पर का आश्रय तो बहुभाव संतति का एवं विकार का ही मूल है।

समकिती को स्वद्रव्य का आश्रय हुआ है, परंतु अभी वह स्वद्रव्य का आश्रय अपूर्ण है। अभी उसको कुछ पर का आश्रय भी है। इस कारण उसको अल्प रागादि होता है। धर्म प्रचार का भाव भी उसे होता है; परंतु उसे मिथ्यात्व नहीं होता; क्योंकि उसका उसमें स्वामित्व व कर्तृत्त्व नहीं रहा। तथा अज्ञानी की ऐसी मान्यता है कि दूसरे मुझे समझा सकते हैं अथवा मैं दूसरों को समझा

सकता हूँ इसप्रकार उसको परद्रव्य के आश्रय में स्वामीपने की बुद्धि वर्तती है। इसकारण उसे मिथ्यात्व व राग-द्वेष की परम्परा ही बढ़ती है।

मोक्षपाहुड़ की १६वीं गाथा में कहा है कि 'स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है, तथा परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति अर्थात् मलिन संसार की प्राप्ति होती है।' वहीं १३वीं गाथा में भी कहा है कि - 'स्वद्रव्य में रति मोक्ष का कारण है तथा परद्रव्य में रति संसार का कारण है।'

अब स्वद्रव्य व परद्रव्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि परद्रव्य के तीन प्रकार हैं - सचित्त, अचित्त व मिश्र। सचित्त में अरहंत भगवान से लेकर निगोदिया जीव तक सभी आत्मायें सचित्त हैं। एक परमाणु से लेकर महास्कन्ध तक सब अचित्त हैं। तथा शिष्य, नगर, स्त्री-परिवार आदि सहित सब मिश्र हैं। इनमें से किसी भी सचित्त, अचित्त व मिश्र परद्रव्य का आश्रय लेने से विकार ही होता है।

इनसे भिन्न आठकर्मों से रहित निर्मल, निर्विकार, शुद्ध चैतन्यघन प्रभु आत्मा स्वद्रव्य है। इस स्वद्रव्य का आश्रय लेने से कल्याण रूप परम वीतराग भाव होता है। अहा ! वीतराग का यह मार्ग तो देखो ! वीतरागी सर्वज्ञ देव ऐसा कहते हैं कि - हमारे सामने देखोगे तो तुम्हें राग ही होगा; क्योंकि हम भी तुम्हारे लिए परद्रव्य हैं। अहो ! ऐसी अलौकिक बात वीतरागी शासन के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

अहा ! जिसके निमित्त से नये-नये कर्म बंधते हैं उस विकारी परिणति की संतति का मूल परद्रव्य का स्वामीपना है। तथा स्वद्रव्य का स्वामीपना मुक्ति का कारण है। अहा ! पराश्रय से बंध व स्वाश्रय से मुक्ति - यह सबका संक्षिप्त सारांश है।

यहाँ बन्ध अधिकार में परद्रव्य का आश्रय बंध का कारण कहा है। समयसार नाटक में कविवर बनारसीदास ने मोह व रागद्वेष के परिणाम को बंध का कारण कहा है। तथा कलश टीकाकार श्री राजमलजी ने परभाव के स्वामीपने को मूल कारण कहा है। मोक्षपाहुड़ में 'पर दव्वाओ दुग्गई' ऐसा कहा है। पर इन सबका अर्थ एक ही है।

एक ओर भगवान आत्मा स्वयं शुद्ध जीव तत्त्व है। तथा दूसरी ओर जीव तत्त्व से भिन्न पुण्य-पाप के भाव आस्रव तत्त्व है तथा एकक्षेत्रावगाही शरीर व कर्म अजीव तत्त्व है।

यहाँ कहते हैं कि एक समय की जो आत्मा की पर्याय है, वह भी व्यवहार से आत्मा है। अहा ! आत्मा इस पर्यायबुद्धि में व पराश्रय की बुद्धि में ही तो अनादिकाल से रह रहा है। अब इसे निश्चय शुद्ध अखण्ड एक ज्ञायकस्वभाव रूप अपने जीव तत्त्व में - स्वद्रव्य में स्थापित करके स्वद्रव्य के आश्रय से जितने अंश में स्वाश्रित दशा होती है वह धर्म है, मोक्ष का कारण है। तथा स्व का आश्रय छोड़कर जितने अंश में परद्रव्य के आश्रय में जायेगा उतना उसे विकार होगा। चाहे वह पराश्रय रूप भाव सम्मेद शिखर में हो, चाहे साक्षात् तीर्थंकर देव में ही क्यों न हो? जितना परद्रव्य का आश्रय होगा उतना विकार तो होगा ही होगा और बंध भी होगा ही होगा।

परमात्म प्रकाश में आया है कि 'भगवान की दिव्यध्वनि भी आत्मा का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है।'

अहा ··· ! इस बहुभाव संतति को एक ही साथ उखाड़ फेंकने की इच्छा वाला पुरुष असंख्य प्रकार के शुभाशुभ भावों की संतति को एक साथ उखाड़ फेंकना चाहता है। अतः वह समस्त परद्रव्यों को अपने सम्यक् पुरुषार्थ के बल द्वारा भिन्न करके सभी परद्रव्यों से भेदज्ञान करके भले ही वे परद्रव्य धर्म के सर्वोत्कृष्ट अरहंत भगवान ही क्यों न हों ? उन सबको अपने निज आत्मा से भिन्न जानकर जब निज स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान करता है, तब अपने आत्मा को प्राप्त करता है।

अहा ··· ! सिंहादि पशु, मनुष्य और देवता समोसरण में आते हैं। तथा अत्यन्त निर्भय और नम्र होकर विनयपूर्वक भगवान की वाणी सुनते हैं। किंतु जब तक वहाँ भी जिनवाणी सुनने व जिनेन्द्र देव के दर्शन का लक्ष्य है तबतक तो राग ही है, विकल्प जाल ही है। यहाँ कहते हैं कि 'इस विकल्प जाल को, राग की संतति को उखाड़ फेंकने की भावना रखने वाला बड़े उद्यमपूर्वक इस

राग को भी छोड़ देता है। वह सर्व परद्रव्य को अपने से भिन्न कर देता है अर्थात् सर्व परद्रव्य की ओर से अपना ध्यान हटा लेता है।'

'समस्त परद्रव्यों को भिन्न करके' इस कथन का कुछ लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि 'सब कुछ छोड़कर जंगल में चले जाओ। परंतु भाई ! यह जंगल में नहीं, बल्कि अन्दर आत्मा में जाने की बात है। अहा··· ! जिसको अपने चैतन्य महाप्रभु का आश्रय हो गया है, वह बाहर में, घर में हो या वन में, उसे तो दोनों ही परज्ञेय रूप से एक समान हैं।

हाँ, घर में या वन में रहने का वर्तमान में जितना लक्ष्य है, उतना राग है। वह उस राग को भी अन्तर्मुखी पुरुषार्थ के बल से छोड़ देता है और स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि परद्रव्य अन्दर आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो गया। शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि 'आत्मा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से शून्य है; क्योंकि आत्मा में एक त्यागोपादान शून्यत्व नाम की शक्ति है।' फिर भी जो ऐसा कहा जाता है कि परद्रव्य को छोड़ो या परद्रव्य का त्याग करो, उस कथन का क्या अभिप्राय है?

अरे भाई ! यह भी एक उपदेश की शैली है, जिनागम की कथन पद्धति है। ऐसा कहकर आचार्यदेव ने तत्संबंधी राग का त्याग करने को कहा है। जिसके लक्ष्य से राग होता है, उस परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ ! उस तरफ से अपने उपयोग को हटा ले ! पर की ओर का लक्ष्य हटते ही तत्संबंधी राग मिट जाता है। बस, उसे ही परद्रव्य का त्याग किया - ऐसा कहा जाता है। बंध अधिकार है न ? अतः यहाँ परद्रव्य के लक्ष्य अथवा आश्रय से ही बंध होना कहा है। और परद्रव्य का लक्ष्य या आश्रय छूटते ही उस जाति का राग छूट जाता है - इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है।

यहाँ कोई शिष्य विनयपूर्वक पूछता है कि - यदि ये सब बंध के कारण हैं तो आप भी इन बंध के कारणों को क्यों एकत्रित कर रहे हो ? ये पच्चीस-पच्चीस लाख के विशाल जिन मन्दिर बनवाये, बीस-बीस लाख पुस्तकें प्रकाशित करायीं। आज भी बराबर पुस्तकें छपना व मन्दिर बनना चालू है। आखिर यह सब क्या है ?

उत्तर – अरे भाई ! मन्दिर व पुस्तकें तो प्रगट परद्रव्य हैं। इनकी क्रिया तो जिस काल में, जिनके निमित्त से होनी होती है, वह सब अपनी स्वतंत्र सत्ता से होती है। हाँ, उस काल में जिनको उन परद्रव्यों के आश्रय से जो शुभभाव होता है वह भी अपने स्वतंत्र स्वचतुष्टय से होता ही है, उसे कौन रोक सकता है, परंतु है वह सब बंध ही का कारण। भगवान के दर्शन करना एवं भगवान की वाणी सुनना - सब शुभभाव है। इससे पुण्यबंध होगा, धर्म नहीं होगा।

अहाहा ···! सर्व राग संतति को उखाड़ कर फेंकने की भावना वाला पुरुष आत्मसन्मुखता के पुरुषार्थ से समस्त परद्रव्यों को अपने से भिन्न करके, परद्रव्य की ओर का लक्ष्य छोड़कर पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा का पूर्ण आश्रय करता हैं, तब पर्याय में पूर्ण स्वसंवेदन प्रगट होता है, आत्मा की प्राप्ति होती है, आत्मा के आनंद का पूर्ण धारावाही वेदन प्रगट हो जाता है। बस वह धर्म है।

बात बहुत सूक्ष्म है, पर बात यही सत्य है। इसे जानना पड़ेगा। ऐसे स्व-संवेदन से युक्त पुरुषार्थी जीव ही अपने आत्मा को प्राप्त करता है। अब तक जो परद्रव्य के लक्ष्य से अपने में विकार उत्पन्न करता था, अब वही स्वद्रव्य के पूर्ण आश्रय से अनुभव में आते हुए पूर्ण एक स्व-संवेदन सहित आत्मा को प्राप्त करता है।

अब कहते हैं कि 'जिसने उपर्युक्त उपाय से अपने भगवान आत्मा का अनुभव किया है, आत्मा को प्राप्त कर लिया है, उसके ही कर्मों को मूल से उखाड़ फैंकने की शक्ति प्रगट होती है। अथवा वही तत्काल समस्त विकारी संतति का नाश करता है।'

यहाँ 'धारावाही' शब्द जो कहा है उसका अर्थ है निरंतर एक के बाद एक – ऐसी पूर्ण निर्मल धारा प्रवाहित होना, सतत् आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगना। जैसा त्रिकाल स्थिर आत्मतत्त्व ध्रुव है, उसी प्रकार उसके आश्रय से प्रवाहित होती आनन्द की धारा भी ध्रुव रूप से प्रवाहित होती रहना। अर्थात् जैसा आत्मा अनादि-अनन्त है, उसी प्रकार वह धारा सादी-अनन्त है। ऐसा समझना।

अहाहा ··· ! आत्मा शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन प्रभु अन्दर स्वभाव से सिद्ध समान ही है। तथा 'अतति गच्छति इति आत्मा' जो ज्ञान व आनन्द के स्वभाव रूप परिणमे, वह आत्मा है। जो राग व व्यवहार में परिणमे वह आत्मा नहीं है। आत्मा का जैसा जितना पूर्ण स्वभाव है, उस पूर्ण स्वभाव रूप परिणमन करना ही वस्तुतः आत्मा है।

ऐसे परिपूर्ण आत्मा का सम्पूर्ण रूप से आश्रय करने से, जिसके शेष सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो गया हो तथा पूर्ण आनन्द का वेदन होने लगा हो, तब आत्मा ने पर्याय में पूर्णता प्राप्त कर ली – ऐसा समझना चाहिए। इसे ही आत्मोलब्धि कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि 'ऐसा यह भगवान आत्मा अपने में ही स्फुरायमान होता है। जब हम आत्मा को भगवान कहते हैं तो कुछ लोगों को अच्छा नहीं लगता। वे कहते हैं। पहले आदमी तो बनो, फिर भगवान बनने की बात करना।'

उनसे कहते हैं कि भाई ! अन्दर में तो आत्मा भगवान स्वरूप ही है। 'भग' यानि 'ज्ञान' व 'वान' वाला – इसप्रकार आत्मा भगवानस्वरूप ही है। अहा ! ऐसा अपार महिमावंत आत्मा, जिसके मूल में से ही कर्म उखड़ गया है तथा पूर्ण आनन्द का वेदन प्रगट हुआ है, वह स्वयं अपने आप में ही स्फुरायमान है।

अहाहा ···! ऐसा भगवान आत्मा जिसने कर्मों को मूल से उखाड़ फेंका है वह शक्ति रूप से तो पहले से ही अपार महिमावंत है, पर्याय में भी स्वयं से ही वैसा ही स्फुरायमान होकर प्रगट हो जाता है। जैसा शक्ति रूप से है, वैसा ही पर्याय में प्रगट होता है। यह अबन्ध स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय का अबन्ध दशा रूप फल है।

कलश १७८ के भावार्थ पर प्रवचन

'परद्रव्य का और अपने भाव का निमित्त-नैमित्तिकपना जानकर ···'। यहाँ आचार्य कहते हैं कि 'आत्मा त्रिकाली शुद्ध सच्चिदानंद प्रभु स्ववस्तु है। तथा इस आत्मा के सिवाय जगत की सर्व वस्तुएं – शरीर, मन, वाणी, कर्म,

धंधा-व्यापार, मकान-महल एवं देव-शास्त्र-गुरु आदि सब पर हैं। इन सब परद्रव्यों का अपने विकार के साथ निमित्त-नैमित्तिकपना है।' इसका तात्पर्य यह है कि परद्रव्य निमित्त हैं और उनके लक्ष्य से हुए अपने विकारी परिणाम नैमित्तिक हैं। भाई ! चाहे साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति का भाव ही क्यों न हो, परंतु वह शुभभाव भी परलक्ष्य से हुआ होने से विकार है, धर्म नहीं।

जब ऐसा यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान होता है तब समस्त परद्रव्य भिन्न करने में, त्यागने में आते हैं और समस्त रागादि भावों की संतति नष्ट होने लगती है।

अहा ···! समस्त परद्रव्य (देव-शास्त्र-गुरु भी) मुझ से भिन्न हैं - ऐसा विवेक करके, भेदज्ञान करके परद्रव्य से लक्ष्य हटा लेना ही परद्रव्य को भिन्न करना है, त्यागना है।

शुद्ध आनंदकन्द प्रभु स्वतत्त्व है। इसकी पर्याय में जितने भी पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे सब नैमित्तिक भाव परद्रव्य के लक्ष्य से हुए हैं।

अब कहते हैं कि 'जितने भी परद्रव्य और परद्रव्य के लक्ष्य से हुए विकार हैं - उन सबका लक्ष्य छोड़ दे, तभी 'परद्रव्य का त्याग किया' - यह कहा जा सकेगा।'

वास्तव में तो आत्मा पर से रहित ही है। इसने जब पर को कभी ग्रहण ही नहीं किया तो त्यागने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। आत्मा में पर का ग्रहण-त्याग है ही नहीं। परंतु इस संसारी जीव ने अनादि से अपने शुद्ध त्रिकालीस्वरूप को भुला रखा है। तथा जो परवस्तुएँ इसके अत्यन्त निकट हैं, एकक्षेत्रावगाही हैं; उनमें अपनापन होने से उनका लक्ष्य करके उनके आश्रय से परिणमता है, इसकारण उसको पुण्य-पाप के भावरूप विकार ही हुआ करते हैं। तथा जब वह पर का लक्ष्य व आश्रय छोड़ देता है तो वे पर के निमित्त से होनेवाले नैमित्तिक भाव (विकार) भी छोड़ देता है या छूट जाते हैं। तब यह कहा जाता है कि उसने परद्रव्य का त्याग किया। वस्तुतः बात तो यही है कि एक वस्तु जब दूसरी वस्तु को ग्रहण ही नहीं करती तो त्यागने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; क्योंकि एक में दूसरी वस्तु का अभाव है। यदि वस्तु

का स्वरूप ऐसा न होता तो सब वस्तुएँ एकमेक हो जातीं। जब जीव स्वद्रव्य का आश्रय लेता है तब जितनी मात्रा में परद्रव्यों का आश्रय छोड़ता जाता है, उतनी मात्रा में ही उसे स्व का आश्रय होता जाता है। तथा उसी अनुपात में उसके रागादि कर्म क्षीण होते जाते हैं। जब वह पूर्ण रूप से परद्रव्य का आश्रय छोड़ देता है, तब उसे स्वद्रव्य का आश्रय भी पूर्णरूप से हो जाता है। और तब उसके समस्त रागादि की संतति क्षीण हो जाती है।

यहाँ जो यह कहा है कि – 'अपना ही अनुभव करते हुए' इसका अर्थ यह है कि – जब जीव सर्व परद्रव्य से हटकर शुद्ध एक ज्ञानानन्द घन भगवान आत्मा में एकाग्र होकर उसी के ध्यान में रहता है तव धर्म होता है और कर्म क्षीण होते हैं। इसप्रकार कर्मबन्धन को क्षीण करके स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करता है।

अहा···! स्वद्रव्य का ध्यान होनेपर जैसा अन्तरंग में चैतन्यस्वभाव है, वैसा ही चैतन्यस्वभाव पर्याय में प्रगट-प्रकाशित हो जाता है। इसलिए जो अपना हित चाहते हों उन्हें उपर्युक्त कार्य करना चाहिए। •

समयसार गाथा २८६-२८७

द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावोदाहरणं चैतत् –

आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा दु जे णिच्चं ॥ २८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम होदि कयं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥ २८७॥

अधः कर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य च इमे दोषाः ।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यम् ॥ २८६॥
अधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यं ।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तम् ॥ २८७॥

यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे। यथा चाधःकर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात्, ततोऽधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात्, – इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे। एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभावः।

अब द्रव्य और भाव की निमित्त-नैमित्तिकता का उदाहरण देते हैं :-

अधःकर्मक आदि जो पुद्गल दरब के दोष हैं ।
परद्रव्य के गुणरूप उनको ज्ञानिजन कैसे करें ? ॥ २८६॥
उद्देशिक अधःकर्म जो पुद्गल दरवमय अचेतन ।
कहे जाते वे सदा मेरे किए किस भाँति हों ? ॥ २८७॥

गाथार्थ – [अधः कर्माद्याः ये इमे] अधःकर्म आदि जो यह [पुद्गलद्रव्यस्य दोषाः] पुद्गलद्रव्य के दोष हैं (उनको ज्ञानी अर्थात् आत्मा

करता नहीं है; [**तान्**] उनको [**ज्ञानी**] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [**कथं करोति**] कैसे करे [**ये तु**] कि जो [**नित्यम्**] सदा [**परद्रव्यगुणाः**] परद्रव्य के गुण हैं ?

इसलिये [**अधःकर्म उद्देशिकं च**] अधःकर्म और उद्देशिक [**इदं**] ऐसा यह [**पुद्गलमयम् द्रव्यं**] पुद्गलमय द्रव्य है (जो मेरा किया नहीं होता;) [**तत्**] वह [**मम कृतं**] मेरा किया [**कथं भवति**] कैसे हो [**यत्**] कि जो [**नित्यम्**] सदा [**अचेतनम् उक्तम्**] अचेतन कहा गया है ?

टीका – जैसे अधःकर्म से उत्पन्न और उद्देश्य से उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गल द्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (मुनि) नैमित्तिकभूत बन्धसाधक भाव का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं करता, इसीप्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्त से होने वाले भाव को नहीं त्यागता। और, "अधःकर्म आदि पुद्गलद्रव्य के दोषों को आत्मा वास्तव में नहीं करता क्योंकि वे परद्रव्य के परिणाम हैं इसलिये उन्हें आत्मा के कार्यत्व का अभाव है; इसलिये अधःकर्म और उद्देशिक पुद्गलकर्म मेरा कार्य नहीं है क्योंकि वह नित्य अचेतन है इसलिये उसको मेरे कार्यत्व का अभाव है;" – इसप्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा (मुनि) जैसे नैमित्तिकभूत बन्धसाधक भाव का प्रत्याख्यान करता है, उसीप्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ (त्याग करता हुआ) आत्मा उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यान करता है। इसप्रकार द्रव्य और भाव को निमित्त नैमित्तिकता है।

भावार्थ – यहाँ अधःकर्म और उद्देशिक आहार के दृष्टान्त से द्रव्य और भाव की निमित्तनैमित्तिकता दृढ़ की है।

जिस पापकर्म से आहार उत्पन्न हो उसे अधःकर्म कहते हैं, तथा उस आहार को भी अधःकर्म कहते हैं। जो आहार, ग्रहण करनेवाले के निमित्त से ही बनाया गया हो उसे उद्देशिक कहते हैं, ऐसे (अधःकर्म और उद्देशिक) आहार का जिसने प्रत्याख्यान नहीं किया उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव

का प्रत्याख्यान नहीं किया और जिसने तत्त्वज्ञानपूर्वक उस आहार का प्रत्याख्यान किया है उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यान किया है। इसप्रकार समस्त द्रव्य और भाव को निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना चाहिये। जो परद्रव्य को ग्रहण करता है उसे रागादिभाव भी होते हैं, वह उनका कर्ता भी होता है और इसलिये कर्म का बन्ध भी करता है; जब आत्मा ज्ञानी होता है तब उसे कुछ ग्रहण करने का राग नहीं होता, इसलिये रागादिरूप परिणमन भी नहीं होता और इसलिये आगामी बन्ध भी नहीं होता। (इसप्रकार ज्ञानी परद्रव्यका कर्त्ता नहीं है।)

गाथा २८६ व २८७ पर प्रवचन

अब दो गाथाओं में द्रव्य व भाव के सहज निमित्त-नैमित्तिकपने को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं -

पाँच स्थावर व त्रस - इन छह काय की हिंसा जन्य आरंभ आदि कर्म को अधःकर्म कहते हैं। ऐसे अधःकर्म से निष्पन्न आहार को भी अधःकर्म कहते हैं। साधुजन अधःकर्म युक्त किसी भी कार्य की कृत-कारित अनुमोदना नहीं करते। तथा इसी महादोष से बचने के लिए वे उद्दिष्ट या उद्देशिक आहार भी नहीं लेते। साधु के कहने से साधु के लिए गृहस्थ यदि आहारादि बनाता है, पानी भर कर लाता है, उसे उष्ण करता है, अनेक प्रकार की रसोई बनाता है, तो उसे उद्देशिक आहार कहते हैं।

ऐसे अधःकर्म से बना उद्देशिक आहार मुनि के योग्य नहीं है, तथापि यदि ऐसे आहार को मुनिराज ग्रहण करते हैं तो उन्हें उससे पापबन्ध ही होता है। वह तो वस्तुतः व्यवहार से भी मुनि कहलाने के योग्य नहीं है। यह बात कहने-सुनने में अच्छी नहीं लगती, पर क्या करें वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

यह सब नग्न दिगम्बर मुनि की बात है, अन्य वस्त्रधारी साधु तो दिगम्बर जैनधर्म के अनुसार साधु ही नहीं हैं।

यहाँ तो यह बात है कि - कोई बाह्य में नग्न दिगम्बर साधु हो, पंचमहाव्रतों का पालन करता हो, सम्पूर्ण साधुचर्या का निर्वाह बराबर करता

हो, फिर भी यदि उस साधु को यह पता लग जाए, किसी कारण से यह ज्ञात हो जाए कि 'यह आहार अमुक गृहस्थ द्वारा मेरे उद्देश्य से वनाया गया है' और वह साधु उसे ग्रहण कर ले तो उस साधु को उद्देशिक आहार ग्रहण करने का महान दोष लगता है। इसे ही उद्देशिक आहार कहते हैं, जो सच्चे साधु को वर्जित है। साधु उद्देशिक आहार नहीं लेते हैं। यदि कोई ऐसा उद्देशिक आहार लेता है तो साधु ने उसके निमित्त से उत्पन्न वंध साधक पाप का प्रत्याख्यान नहीं किया।

इसी प्रकार जो साधु उपदेश द्वारा अथवा व्यक्तिगत कह कर अपने लिए आहार वनाने की प्रेरणा देता है, तो वह आहार अधःकर्म दोष से दूषित है।

प्रश्न – शास्त्रों में तो ऐसा आता है कि जिन्होंने साधुओं को आहार दान दिया, उन्होंने साक्षात् मोक्षमार्ग ही दिया है।

उत्तर – हाँ, आता है; पर यह तो निर्ग्रन्थ साधुओं को दिये गये निर्दोष आहार दान की वात है। भाई ··· ! जो अन्दर में वीतराग निर्मलपरिणति से परिणमे हैं और जो अत्यन्त निर्दोष आहार पानी ग्रहण करते हैं, उन्हें निर्दोष आहार दान देने वाले दाता की महिमा वताने के लिए व्यवहार से ऐसा कहा है। मोक्षमार्ग में उसे वाह्य सहकारी जानकर व्यवहार से ऐसा कहा है। व्यवहार में जहाँ जैसी अपेक्षा हो, वहाँ वैसा ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

अधःकर्मादि जो पुद्गलद्रव्य के दोष हैं, उन्हें वस्तुतः आत्मा नहीं करता; क्योंकि वे परद्रव्यों के परिणाम होने से आत्मा में उनके कार्यपने का अभाव है।

प्रश्न – यदि यह आत्मा का कार्य नहीं है तो फिर उस आहार के लेने में मुनि को क्या वाधा है ?

उत्तर – जव मुनिराज को उद्दिष्ट आहार लेने का भाव ही नहीं होता तो वे आहार ले सकते या नहीं ले सकते यह वात ही कहाँ से आई ? इसी कारण कहा गया है कि यह उनका कार्य ही नहीं है। मुनिराज स्वयं कहते हैं कि 'अधःकर्म आदि अशुद्धता हमारा कार्य ही नहीं है'।

अहाहा··· ! मुनिराज तो शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा में अन्तर्निमग्न हो हैं। वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान व प्रचुर आनंद के स्वामी हैं। इसकारण उनकी भूमिक में उद्देशिक आहार न लेने का भाव सहज है, इसी को उनके उद्देशिक आहा का त्याग व प्रत्याख्यान कहा जाता है। अधःकर्म व उद्देशिक आहार तो पुद्गर द्रव्य का कार्य है। उसको जो मुनिराज लेते हैं, यह उनके राग का अज्ञानम कार्य है। ऐसा राग तो यथार्थ मुनिदशा में होता ही नहीं है। इसलिए मुनियं ने कहा है कि 'यह हमारा कार्य नहीं है'। अचेतन होने से इसमें मुनिराज वे कार्यपने का अभाव है।

आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरा त्रिकालीतत्त्व है। ऐसे आत्मा के सन्मुर होकर परिणमने से जीव की व्यावहारिक भावों की रुचि टूट जाती है अन्तर्दृष्टि करनेवालों को व्यवहार की रुचि नहीं रहती। यही सचमुच व्यवहा का त्याग है।

राग चाहे देवशास्त्र-गुरु का व पंचमहाव्रतों का भी क्यों न हो ? जब तक इसे शुभराग में भी रुचि रहेगी, तब तक आत्मा के स्वभाव का त्याग है। तथा तब अन्तरस्वभाव की रुचि होती है तब व्यवहार की रुचि का त्याग हो जाता है। धर्मी के भूमिकानुसार व्यवहार होता तो है, परंतु व्यवहार की रुचि नहीं रहती। ऐसी स्थिति में मुनिराज उद्देशिक आहार कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? नहीं कर सकते। उद्देशिक आहार लेने का भाव तो जड़-अज्ञानमय राग है। अतः इसे ग्रहण करने का राग मुनिराज का कार्य हो ही नहीं सकता।

पहले तो व्यवहार का जो राग है, वह स्वद्रव्य से विरुद्ध परद्रव्य है। अन्यत्र पर्याय को जो परद्रव्य कहा है वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो व्यवहार की या राग की जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब परमार्थतः परद्रव्य हैं - यह कहा है। तथा परद्रव्य के कार्य को अपना मानना तो मिथ्यात्व है। ऐसा मिथ्याभाव ज्ञानी-समकिती के कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। ज्ञानी को व्यवहार का राग आता है, परंतु उसके प्रगट परद्रव्य रूप जो व्यवहार है, उसकी रुचि छूट गई है।

अब यहाँ चरणानुयोग का उदाहरण देकर उद्देशिक आहार का मुनियों के त्याग होता है – यह बात कही है। मुनिराज के जब विशेष अन्तर स्थिरता होती है, चारित्र के आनन्द में विशेष रमणता होती है – ऐसी अन्तरंग की स्थिति होने पर मुनिराज कहते हैं – यह जो उद्देशिक आहार है, वह जड़ से बना जड़ है और इसके ग्रहण करने का भाव भी जड़ है। इस जड़ में हुए जड़ के कार्य को चैतन्य आत्मा कर ही कैसे सकता है? मुनिराज के तो उद्देशिक आहार के ग्रहण करने के भाव का अभाव ही होता है। यही सच्चा प्रत्याख्यान है।

देखो ···! सम्यग्दर्शन रहित उद्देशिक आहार का त्याग करते हुए उपवास तो अज्ञानी ने अनन्त बार किये। परंतु इससे क्या ? धर्म संबंधी तो कुछ भी लाभ नहीं हुआ। जब तत्त्व पूर्वक – सम्यग्दर्शन सहित उद्देशिक आहार सम्बन्धी लक्ष्य छूट जावे तथा तत्संबंधी राग का कार्य भी छूट जाये तो ही वास्तविक मुनिपना है।

यहाँ कहते हैं कि तत्त्वज्ञानपूर्वक अर्थात् आत्मज्ञानपूर्वक उद्देशिक आहारादि को त्यागता हुआ मुनि नैमित्तिकभूत बंधसाधक भाव को त्यागता है। देखो ···! उद्देशिक आहार लेने का भाव बंधसाधक भाव है, जो कि मुनिराज के होता ही नहीं है। इस कारण कहा है कि मुनिराज उद्देशिक आहार के लक्ष्य को छोड़ते हैं। तथा उसके निमित्त से होने वाले विकार के बंध के परिणाम को छोड़ते हैं। उनको बंध साधक भाव नहीं होता; वे अबंध रहते हैं।

मुनिराज को यदि ख्याल में आ जावे कि यह आहार उद्देशिक है, मेरे लिए बनाया है – फिर भी वे ले लेवें तो उनके बन्धसाधक भाव होता है।

गृहस्थाश्रम में समकिती–तत्त्वज्ञानी के जो आहारादि का भाव होता है, वह बन्ध भाव है। वह बन्धभाव उनकी अस्थिरता का दोष है, जो गृहस्थ की भूमिका में होता ही है। यहाँ तो मुनिदशा की बात है। मुनिदशा की अन्तर की स्थिरता ऐसी होती है, जिससे वह निमित्तभूत उद्देशिक आहार के लक्ष्य को छोड़ता हुआ उसके लक्ष्यगत बन्धसाधक भाव को भी छोड़ता है। तात्पर्य यह है कि मुनिराज को उद्देशिक आहार लेने का भाव उत्पन्न ही नहीं होता। उद्देशिक आहार के निमित्त से हुए नैमित्तिक भाव ही नहीं होते।

अहाहा ···! भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञायक स्वभावी प्रभु त्रिकाल परमात्म द्रव्य है। इसमें एकाग्र होकर समस्त परद्रव्यों का लक्ष्य छोड़ता हुआ आत्मा उसके निमित्त से हुए भावों का प्रत्याख्यान करता है। यहाँ उद्देशिक व अध:कर्म का तो दृष्टान्त मात्र दिया है। वस्तुत: सिद्धान्त तो यह है कि समस्त परद्रव्य, जिसमें देव-शास्त्र-गुरु जैसे परमपूज्य निमित्त भी सम्मिलित हैं। – उन सब के लक्ष्य को छोड़ता हुआ साधक उसके निमित्त से हुए राग को भी छोड़ता है। अहा ··· ! उस साधक का ज्ञान अत्यन्त स्थिर हो जाता है। बस इसी का नाम प्रत्याख्यान है।

भाई! यहाँ समस्त निमित्त-नैमित्तिक संबंध तोड़ने की बात है। निश्चय से मुनिमार्ग तो एक शुद्धोपयोग ही है। परद्रव्य संबंधी जो विकल्प होते हैं, उनमें मुनित्व नहीं है। 'जयधवला' ग्रन्थ में तो स्पष्ट रूप से ऐसा लिखा है कि 'मैंने एक शुद्धोपयोग की प्रतिज्ञा की थी, परंतु मैं उसमें नहीं रह सका। तथा यह छह काय के जीवों की दया का विकल्प हुआ है, निर्दोष अहार लेने का विकल्प हुआ है, इससे मेरी वह प्रतिज्ञा टूट गई है, इससे प्रत्याख्यान का भंग हुआ; क्योंकि पर की ओर अपने मन का झुकाव होना विकार है, दोष है। एक स्वद्रव्य की ओर झुकाव होना ही निर्विकार है'।

देखो ··· ! मुनिराज को निर्दोष आहार लेने का विकल्प आता है। इसमें मुनित्व को कोई बाधा नहीं है। इससे मुनिपना नहीं जाता। किंतु यदि इन्हें अध:कर्मी, उद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार लेने का विकल्प आवे तो मुनिपना नहीं रहता।

यहाँ तो यह कहते हैं कि "मुनिराज के सभी परद्रव्यों के ओर का झुकाव छूट जाता है। आहार का, विहार का, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति के भाव का झुकाव छोड़कर एक स्व-द्रव्य में आना तथा उसी में स्थिर रहना ही मुनिराजों का मुख्य धर्म है। यही वास्तविक मुनिदशा है। धन्य है ऐसी मुनिदशा!"

प्रश्न – यदि ऐसा है तो उन्हें प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर – स्वद्रव्य में आना एवं स्थिर रहना तो अस्ति से प्रतिक्रमण का स्वरूप है। तथा परद्रव्य से छहकाय के जीवों की रक्षा आदि के विकल्पों से भी छूटना – यह नास्ति प्रतिक्रमण है। अहाहा ···! निर्मलानन्दनाथ आत्मा में आकर ठहरना – बसना तथा पर से खसना-हटना दोनों एक ही बात के दो पहलू हैं। दो जुदी-जुदी बातें हैं ही कहाँ ?

अहा ··· ! भाषा तो देखो ! जिसप्रकार मुनि उद्देशिक आहार को छोड़ते हुए तत्संबंधी बंधसाधक भावों को छोड़ते हैं, उसी प्रकार आत्मा के सिवाय जितने भी परद्रव्य हैं, उन सबकी ओर के लक्ष्य को छोड़ते हैं। तथा वे तत्संबंधी हुए भावों को भी छोड़ते हैं। और यह सब तत्त्वज्ञानपूर्वक ही होता है। समस्त परद्रव्यों का प्रत्याख्यान करते हुए वे मुनिराज तत्संबंधी नैमित्तिक विकार को छोड़ते हैं। परद्रव्य में जो लक्ष्य जाता वह चारित्र का दोष था। उसका प्रत्याख्यान करते हुए मुनिराज उस चारित्र के दोष को छोड़ते हैं।

लोगों को यह लगता है कि यह तो अकेले निश्चय की बात हुई। साथ में व्यवहार भी तो होना चाहिए न ?

उनसे कहते हैं कि भाई ! व्यवहार भी होता है, इससे कौन इन्कार कर सकता है ? परंतु वह निश्चय के साथ का व्यवहार भी बन्ध का ही कारण है ऐसा जानकर मुनिराज उसे हेय मानते हैं। व्यवहार से निश्चय होता है - ऐसी मान्यता पूर्णरूप से असत्यार्थ है। 'पर' का लक्ष्य करे और 'स्व' का लक्ष्य हो जाय - यह कैसे हो सकता है ? यह तीन काल में भी संभव नहीं है। यह अंधेरे को उजाले का कारण कहने जैसा है। व्यवहार का लक्ष्य 'पर' के ऊपर है और निश्चय का लक्ष्य 'स्व' के ऊपर है। दोनों की दिशाएं ही परस्पर विरुद्ध हैं। फिर भला व्यवहार से निश्चय कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

यहाँ तो सर्व परद्रव्यों से छूटने की बात कही है। निर्दोष आहार लेना भी विकल्प है। निर्दोष आहार लेने से मुनिपना खण्डित नहीं होता, उसमें कोई दोष भी नहीं लगता। परंतु यहाँ प्रत्याख्यान व प्रतिक्रमण के प्रकरण में परद्रव्य का सर्वथा आश्रय छोड़कर एक स्वद्रव्य का पूर्ण आश्रय करने की बात है।

क्योंकि तभी केवलज्ञान की प्राप्ति के योग्य स्थिति बनती है; पूर्णता की प्राप्ति होती है; जो कि मुनिराजों का परम ध्येय है।

सारांश यह है कि इसप्रकार समस्त परद्रव्य रूप निमित्त और उन निमित्तों के लक्ष्य से तथा उनके संबंध से हुए विकारी भावों को मुनिराज त्यागते हैं, प्रत्याख्यान करते हैं। तभी सम्पूर्णतया स्वद्रव्य का आश्रय होता है और केवलज्ञान होता है।

इसके सिवाय जिनके उद्देशिक आदि दोष युक्त आहार लेने का बंध साधक भाव होता है, उनके तो यथार्थ मुनिपना ही नहीं रहता। सच्चे मुनिराजों को भी जबतक निर्दोष आहार-पानी लेने का भाव, छहकाय के जीवों की रक्षा का भाव - विकल्प रहता है, तब तक केवलज्ञान नहीं होता।

प्रथम तो व्यवहार से लाभ मानने की दृष्टि ही झूठी है, समकिती को ऐसी दृष्टि नहीं होती। समकिती को शुद्ध निश्चय की दृष्टि होने पर व्यवहार में हेयपना तो हो जाता है। परन्तु स्वद्रव्य के आश्रय में जितने अंश में कमी रहती है, उतना बंधसाधक भाव-व्यवहार का भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार मुनिराज की भूमिका में भी यथाक्रम व्यवहार होता है। फिर भी व्यवहार में उनकी हेयबुद्धि ही वर्तती है। इस कारण वे स्वद्रव्य के उग्रतापूर्वक आश्रय से समस्त परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ते हुए सर्व व्यवहार को उड़ा देते हैं। तथा स्वद्रव्य का पूर्ण आश्रय करके केवलज्ञान उत्पन्न कर लेते हैं।

गाथा २८६-२८७ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ अधःकर्म व उद्देशिक आहार के दृष्टान्त से द्रव्य व भाव के निमित्त-नैमित्तिकपने को दृढ़ किया है।

अधःकर्म से बना आहार व उद्देशिक आहार - ये दोनों परद्रव्य रूप निमित्त हैं। तथा इनके आश्रय से उत्पन्न हुआ विकारी भाव नैमित्तिक है। इस प्रकार द्रव्य व भाव का निमित्त-नैमित्तिकपना है। जो निमित्त का लक्ष्य करता है, उसे नैमित्तिक विकारी भाव होता है। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिकपने का सहज व्यवहार उत्पन्न होता है।

तात्पर्य यह है कि – जितना नैमित्तिकरूप से विकार होता दिखाई देता है अर्थात् जितना निमित्त-नैमित्तिक संबंध दिखाई देता है, उतना स्वद्रव्य का आश्रय नहीं है – यह सिद्ध होता है।

अज्ञानी को तो स्वद्रव्य का आश्रय सर्वथा ही नहीं है। जब जीव अपने आत्मा का – स्वद्रव्य के स्वरूप का प्रथमबार आश्रय लेता है तब सम्यग्दर्शनरूप अबंध परिणाम उत्पन्न होता है और तब ही उसकी व्यवहार की रुचि छूट जाती है। तत्पश्चात् वह जितना परद्रव्य रूप निमित्त का लक्ष्य छोड़ता है, उतना तत्संबंधी राग छोड़ता है। तब स्वद्रव्य के आश्रय से उसको स्थिरता बढ़ती है।

प्रश्न – अध:कर्म का क्या अर्थ है ?

उत्तर – साधुजन यह कहें कि – हमारे लिए अमुक प्रकार का आहार-पानी बनाओ! तथा गृहस्थ उनके निर्देशानुसार आहार बनाये तो वह अध: कर्म से उत्पन्न हुआ आहार है। साधु अपने आहार के बारे में किसी श्रावक से कभी कुछ भी नहीं कहते। अपने आहार बनाने का निर्देश नहीं देते।

प्रश्न – और उद्देशिक आहार क्या है ?

उत्तर – साधु ने गृहस्थ से स्पष्ट तो नहीं कहा कि मेरे लिए अमुक प्रकार का आहार बनाओ, परन्तु उन्हें यह ज्ञात भी हो जावे कि गृहस्थ ने हमारे उद्देश्य से विशेष व्यवस्था की है तो वह आहार उन्हें उद्देशिक आहार हो गया। अत: अपने उद्देश्य से बने आहार को भी ग्रहण नहीं करते।

यहाँ उद्देशिक आहार के दृष्टांत से द्रव्य व भाव के निमित्त-नैमित्तिकपने को दृढ़ किया है। आहार निमित्त एवं उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ विकारी भाव नैमित्तिक है। इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिकपना समझाया है।

अब कहते हैं कि जिसने तत्त्वज्ञानपूर्वक आहार का प्रत्याख्यान किया है, शुद्ध अन्त:तत्त्व आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान पूर्वक जिसने उद्देशिक आहार का त्याग किया है, उसने ही उनके निमित्त से हुए विकारी भावों का प्रत्याख्यान किया है। दिगम्बर भावलिंगी मुनिवरों को उद्देशिक आदि सदोष आहार लेने का भाव ही नहीं होता।

इसप्रकार समस्त द्रव्य व भावों के निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना। अहाहा… ! भगवान कहते हैं कि हम भी दूसरों के लिए परद्रव्य हैं। इससे हमारी ओर भी जितना लक्ष्य जाता है उससे भी उन्हें विकार ही होता है। अपने आत्मा के सिवाय सम्मेद शिखरादि किसी भी निमित्त पर लक्ष्य जाय, उससे नैमित्तिक राग होता है।

प्रश्न – यह ठीक है, पर तीर्थयात्रा तो करनी चाहिए न ?

उत्तर – भाई ! वस्तुतः तो अन्तरंग में विद्यमान स्वद्रव्य अर्थात् निजस्वरूप भगवान ज्ञायक की अन्तर्यात्रा करने से ही धर्म होता है। अतः यथार्थ में तो एक मात्र अन्तर्यात्रा करना ही धर्म का मूलभूत साधन है। इसी से धर्म होता है। इसके सिवाय अशुभ से बचने के लिए व्यवहार में जिनविम्ब आदि के लक्ष्य से शुभभाव हों तो भले हों, पर उनसे धर्म नहीं होता। वे धर्म का कारण भी नहीं हैं। वस्तुतः तो ये सब बंध-साधक भाव ही हैं।

प्रश्न – जब ऐसी बात है तो इन सबके करने से क्या लाभ ?

उत्तर – अरे भाई ! जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं होती तब तक शुभ तो क्या अशुभ भाव तक आये बिना नहीं रहते। इन्हें करता कौन है ? कोई कर भी नहीं सकता। पर भूमिकानुसार हुए बिना भी नहीं रहते। ज्ञानी इन्हें कर्तृत्व बुद्धि से नहीं करते। जो होते हैं, उनके भी ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं।

देखो, जो परद्रव्य को ग्रहण करता है अर्थात् परद्रव्य के लक्ष्य से परिणमता है, उसको राग-द्वेषादि भाव हुए बिना नहीं रहते। अज्ञानी उनका कर्त्ता होकर परिणमता है तथा कर्म का बंध भी करता है।

देखो, जीव जब आत्माज्ञानी होता है, तब उसको परद्रव्य को ग्रहण करने का राग नहीं होता। इस समय उत्कृष्ट मुनिपने की बात है। इससे कहते हैं कि उसके रागादि परिणमन भी नहीं होता। जब परद्रव्य पर लक्ष्य नहीं रहता तो तत्संवंधी रागादि परिणमन भी नहीं होता। तथा उसके आगामी बंध भी नहीं होता।

इसप्रकार ज्ञानी परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है। अहा···! समस्त परद्रव्य के लक्ष्य को छोड़ता हुआ ज्ञानी उस परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न हुए रागादि विकारी भावों को भी छोड़ देता है। जहाँ तक अस्थिरता है, वहाँ तक किंचित् परद्रव्य के लक्ष्य से राग का परिणमन होता है, किंतु यहाँ तो सर्व परद्रव्य के लक्ष्य को छोड़कर पूर्णरूपेण स्व का आश्रय करके सर्व अस्थिरता को छोड़ते हुए पूर्ण वीतराग होने की वात है।

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां ।
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत् ।
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥ १७९॥

इति बंधो निष्क्रांतः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ बंध प्ररूपकः सप्तमोऽङ्कः॥

श्लोकार्थ – [कारणानां रागादीनाम् उदयं] वन्ध के कारणरूप रागादि के उदय को [अदयम्] निर्दयता पूर्वक (उग्र पुरुषार्थ से) [दारचत्] विदारण करती हुई, [कार्यं विविधम् वन्धं] उस रागादि के कार्यरूप (ज्ञानावरणादि) अनेक प्रकार के वन्ध को [अधुना] अव [सद्यः एव] तत्काल ही [प्रणुद्य] दूर करके, [एतत् ज्ञानज्योतिः] यह ज्ञानज्योति – [क्षपिततिमिरं] कि जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश किया है वह – [साधु] भलीभाँति [सन्नद्धम्] सज्ज हुई, [तद्-वत्-यद्-वत्] ऐसी सज्ज हुई, – कि [अस्य प्रसरम् अपरः कः अपि न आवृणोति] उसके विस्तार को अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता।

भावार्थ – जव ज्ञान प्रगट होता है, रागादिक नहीं रहते, उनका कार्य जो वन्ध वह भी नहीं रहता, तव फिर उस ज्ञान को आवृत करनेवाला कोई नहीं रहता, वह सदा प्रकाशमान ही रहता है॥ १७९॥

टीका – इसप्रकार बन्ध (रंगभूमि से) बाहर निकल गया।

भावार्थ – रंगभूमि में बन्ध के स्वांग ने प्रवेश किया था। जब ज्ञानज्योति प्रगट हुई कि तब वह बंध स्वांग को अलग करके बाहर निकल गया।

कलश १७९ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

देखो! यह लोकोत्तर मार्ग की बात है। यहाँ कहते हैं कि बन्ध के कारणभूत जो अनादि से राग-द्वेष-मोह के भाव होते रहे हैं, ज्ञानी अपने भगवान आत्मा के आश्रय से उनका नाश कर देता है।

तत्त्वचर्चा और तत्त्वरुचि की कमी के कारण आजकल तो लोगों को यह समझना-समझाना भी मुश्किल हो रहा है कि राग-द्वेष क्या हैं ? और उनसे आत्मा कैसे-कैसे कष्ट उठाता है ?

सारा जगत यह माने बैठा है कि 'मैं दूसरों का भला करता हूँ, बुरा करता हूँ, भला-बुरा कर सकता हूँ। जगत का कल्याण कर दूँ' – उसकी यह मान्यता बंध के कारणरूप तथा मिथ्यात्व व रागादि भाव रूप है। ज्ञानी स्वभाव के उग्र पुरुषार्थ से उन मिथ्यात्व व रागादि भावों का निर्दयतापूर्वक नाश कर देता है। तात्पर्य यह है कि जब वह स्वयं अपने शुद्ध एक ज्ञानानंदस्वभाव में संलग्न रहता है तो राग उत्पन्न ही नहीं होता। इसे ही निर्दयतापूर्वक नाश करना कहा जाता है। अहाहा ··· ! अन्दर जब निर्दोष निर्विकारी दशा होती है, तब सदोष दशा का नाश हो जाता है।

लोग तो स्त्री-पुत्र-परिवार व धंधा आदि के राग को ही राग समझते हैं। परन्तु भाई ! दया, दान, भक्ति, पूजा व अहिंसा आदि व्रतों के परिणाम भी सब राग ही हैं, ये कोई शुद्ध चेतना के परिणाम नहीं हैं। अहाहा ··· ! चैतन्यप्रकाश का पुंज, चैतन्य ज्योतिस्वरूप प्रभु आत्मा अन्दर में ज्योति के रूप में जगमगाता है, प्रकाशित होता है। उसमें ये शुभाशुभ भाव नहीं हैं। यह बात चाहे समझ में बैठे या न बैठे, पर बात यही सत्य है। भगवान आत्मा तो त्रिकाल, सच्चिदानंद, शाश्वत चैतन्य और आनन्द का धाम है।

अहा ! अपने ऐसे चैतन्यस्वरूप का आश्रय लेकर जब जीव पर परकी ओर से उपयोग को हटा लेता है तो उसके मोह-राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। इसे ही रागादि का नाश किया कहा जाता है। अहा···! ऐसे अपने स्वरूप में ध्यानारूढ़ होकर आठ-आठ वर्ष के बालक भी केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पधारे हैं। अपने में भी ऐसी ही शक्ति है। पर आज तक हमने उस शक्ति को जाना/पहचाना नहीं है। पर की महिमा के आगे हमें अबतक अपनी महिमा आई ही नहीं, भासित ही नही हुई। बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु के गीत गाने मात्र से क्या होने वाला है? वह तो राग है, बंध का कारण है। यहाँ कहते हैं कि - ऐसे बंध के कारणों का नाश करती हुई जो ज्ञानज्योति प्रगट होती है, वह धर्म है।

अहाहा···! भगवान आत्मा एक ज्ञान-ज्ञान का ही भंडार है, ऐसे ज्ञान स्वरूपी आत्मा का भान नहीं होने से धर्म का लाभ नहीं हुआ।

प्रश्न – धर्म परिणति कैसे प्रगट होती है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'पर के लक्ष्य से हुए पुण्य-पाप के कार्य को भगवान आत्मा स्वरूप के आश्रय से तत्काल ही दूर कर डालता है'। जैसेकि जिससमय प्रकाश होता है, उसी समय अंधकार नष्ट हो जाता है। दोनों में काल भेद नहीं है, उसी तरह भगवान आत्मा जिससमय पर का लक्ष्य छोड़ देता है, पर की ओर से होने वाले पुण्य-पाप के भावों को छोड़ता है, उसीसमय अपने आत्मा के स्वभाव का लक्ष्य आ जाता है तथा स्व के आश्रय वाली निर्मल परिणति प्रगट हो जाती है एवं उसीसमय विभाव का अभाव हो जाता है। दोनों कार्य एक ही काल में हो जाते हैं। आत्मा में स्थिर होने व विकार के कार्य का अभाव होने कालभेद नहीं है। दोनों का एक ही काल है।

अहाहा··· ! अकेले ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान स्वरूप प्रकाश का पुंज ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा जो अन्दर में विराजमान है। उसमें एकाग्र होने पर वह तत्काल पर्याय में प्रगट हो जाता है। अहाहा···! वह ज्ञानज्योति अज्ञान रूपी निमित्त का नाश करती हुई अन्तर आत्मा में प्रगट हो जाती है। उस ज्ञानज्योति के प्रगट होते ही बाह्य क्रियाकाण्ड में धर्म मानने की बुद्धि नष्ट हो जाती है।

अहा ··· ! अज्ञानी ने अनादि से राग व ज्ञान को एक माना है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानज्योति अज्ञान का नाश करती हुई सम्यक् प्रकार से उदित होती है। आत्मा स्वयं रागरहित ज्ञानस्वरूप प्रभु है। वह जब पर से हटकर अन्दर स्वरूप सन्मुख होती है, तब स्व को स्वज्ञान स्वरूप जानता है। और राग को अज्ञानमय पर रूप जानता है। इसप्रकार स्वपर की पहचान करता हुआ स्वपर प्रकाशक ज्ञान जो अवतक शक्तिरूप से अन्दर था, अब पर्याय में प्रगट हो गया है। बस यही मोक्ष का मार्ग है। वह इसप्रकार प्रगट हुआ है कि अब उसे कोई भी शक्ति पुन: आवृत नहीं कर सकती, रोक नहीं सकती। अब कोई आवरण करने वाला नहीं रहा। वह ज्ञान ज्योति सम्पूर्ण लोकालोक को जानने की सामर्थ्य सहित प्रगट हो गई है।

भावार्थ में कहते हैं कि - एक चैतन्य जिसका स्वभाव है, आत्मा ऐसा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप प्रभु है। इसकी पर्याय में जो पुण्य-पाप का भाव, राग-द्वेष-मोह का भाव होता है, वह चैतन्य भाव से विरुद्ध है। परन्तु जब यह आत्मा पर का आश्रय छोड़कर चैतन्य भाव के आश्रय में आता है, तब उसे जो ज्ञान-श्रद्धान प्रगट होता है, उसमें रागादिभाव नहीं होते। उन रागादि का कार्य जो वन्धस्वरूप है, वह भी नहीं रहता। विकार नष्ट होने पर उसे नवीन कर्म का वन्ध भी नहीं होता। तो फिर ज्ञान का आवरण करने वाला - ज्ञान को रोकने वाला कोई कहाँ से/कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता है। अत: वह सदा प्रकाशमान ही रहता है। अहा ··· ! ज्ञानज्योति सदा अकेली केवलज्ञान रूप रहती है। इसे ही कर्म की उत्कृष्ट दशा एवं मोक्ष कहा जाता है।

सवैया तेईसा

ज्यों नर कोय परै रजमाहिं सचिक्कण अंग लगै वह गाढै,
त्यों मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बन्धन बाढ़ै;
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाटै,
नाहिं बँधै तब कर्मसमूह जु आप गहै परभावनि काटै ।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में बन्ध का प्ररूपक ७वाँ अंक समाप्त हुआ।

अन्तिम हिन्दी छन्द पर प्रवचन

हिन्दी टीकाकार पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ग्रन्थ के समापन में छन्द द्वारा कहते हैं कि -

ज्यों कोई पुरुष शरीर में तैल मर्दन करके धूल में खेलता है या अखाड़े में व्यायाम करता है तो उसके शरीर में धूल के कण (मैल) अवश्य ही चिपकता है, वह धूल या मैल से बच नहीं सकता। ठीक इसीप्रकार जो मति हीन - आत्मज्ञान से शून्य अज्ञानी पुरुष राग-द्वेष रूपी चिकनाई सहित संसार में विचरते हैं, अपने पारिवारिक जीवन में राग-द्वेष सहित विषय-कषाय रूप प्रवृत्ति करते हैं, तो उनसे कर्मरूपी रज अवश्य ही बंध को प्राप्त होती है।

आगे पण्डितजी कहते हैं कि - यदि यथासमय आत्मा के यथार्थ स्वरूप का तथा पर्याय में होने वाले बन्धन के स्वरूप का सही उपदेश मिल जाये, सत्य ज्ञान हो जावे तो वह राग-द्वेष को छोड़कर अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव कर लेता है। पहले जहाँ राग-द्वेष का अनुभव करता था, वहीं अब वह अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का अनुभव करने लगता है, सच्चे सुख का स्वाद लेने लगता है।

देखो, आत्मा शरीर, वाणी, मोसम्वी, ईख (गन्ना) आदि तथा स्त्री जनित विषयादि का स्वाद लेता ही नहीं है, ले भी नहीं सकता; क्योंकि ये सब तो प्रगट पर (जड़) पदार्थ हैं। जड़ का स्वाद चेतन कैसे ले ?

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो फिर हमें जो स्वाद आता है वह क्या है ? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि इन बाह्य पदार्थों के लक्ष्य से जो राग-द्वेष-मोह होता है आत्मा को उस राग-द्वेष का स्वाद आता है। अज्ञानी अनादि से उस 'पर' लक्ष्य से हुए राग-द्वेष का ही स्वाद लेता रहा है, उसे ही

यहाँ पद्य में 'चाटे' शब्द के द्वारा व्यक्त किया है। 'चाटे' अर्थात् वेदन करता है, अनुभव करता है। यहाँ ज्ञातव्य है कि यह राग-द्वेष का स्वाद महाभयानक दु:ख का स्वाद है - जहर का स्वाद है।

यदि कोई निकट भव्य जीव पदार्थ उपदेश को प्राप्त करके पर के ओर के झुकाव को छोड़कर विकार के स्वाद को छोड़ देता है तो उसे भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत का स्वाद लेता है, शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। बस, इसी का नाम धर्म है। इसे ही 'निज चाटे' शब्द द्वारा व्यक्त किया है।

अत: यदि आत्मा अपने अन्तर की ओर देखे, झुके तो वहाँ अकेला अमृत ही अमृत भरा है। परंतु अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है, इस कारण वह रागादि के जहर का ही स्वाद लेता है और उससे ही अपने को सुखी मानता है। जबकि वास्तविकता यह है कि जो यथार्थ उपदेश को प्राप्त करके पर द्रव्य के निमित्त से हुए नैमित्तिक भावों को - विकार को छोड़कर शुद्ध चैतन्य तत्व में अन्तर्लीन होता है, उसे शुद्ध आत्मानुभूति प्रकट होती है और वह उसमें निराकुल आनन्द को भेदता है - अनुभव करता है। अत: ऐसी निजानन्द रस की दशा ही धर्म है। बाकी पर में कर्त्ताबुद्धि के सारे विकल्प अधर्म हैं।

अब कहते हैं कि जिनकी ऐसी निजानन्द रस में लीन होने रूप दशा प्रगट हो जाती है, उसके कर्मसमूह का बंध नहीं होता। अहाहा ··· ! जब आत्मा के अनुभव में अतीन्द्रिय आनन्द की वीतरागी दशा प्रगट हो जाती है, तब नवीन कर्मबन्ध नहीं होता तथा पुराने कर्म भी झर जाते हैं।

प्रश्न – पंचास्तिकाय में जो भिन्न साध्य-साधन की बात कही, उसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – बापू ··· ! वहाँ तो निमित्त का ज्ञान कराया है, वह तो निमित्त सापेक्ष कथन किया है।

प्रश्न – एक ओर समयसार की ११वीं गाथा में कहा है कि भूतार्थ त्रिकाली आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, आनन्द की अनुभूति होती है। तथा दूसरी ओर पंचास्तिकाय में ऐसा कहा है कि - राग के आश्रय से धर्म होता

है, तो यह तो परस्पर विरोध हुआ। इसमें वास्तविकता क्या है ? क्या वास्तव में विरोध है ?

उत्तर – नहीं, विरोध नहीं है। आत्मा के आश्रय से धर्म होता है - यह तो निश्चयनय का कथन है - यथार्थ कथन है। तथा राग के आश्रय से धर्म होता है - यह व्यवहार (उपचार) कथन है। ऐसी कथन की यथाशक्ति समझ से विरोध मिट जाता है। इस प्रकार अविरोध है।

अहाहा ···! आत्मा पूर्णानन्द का नाथ एक ज्ञायक भाव स्वरूप चैतन्य महाप्रभु अन्दर भगवान स्वरूप विराजता है। अज्ञानी अनादि से इसे न जानकर पुण्य-पाप के भावों की मिठास में ही अटका रहा है। इस कारण उसको मिथ्यात्व व कषाय का वेदन ही होता रहा है। यही दुःख का वेदन है और यही संसार है। इसके सिवाय संसार और कुछ नहीं है। कषायें और उनके फल में जो चार गति रूप संसरण है - यही संसार है। यहाँ कहते हैं कि जो ऐसे दुःख रूप (पुण्य-पाप के भावों को छोड़कर अन्दर में अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप) आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें नवीन कर्मों का बंध नहीं होता।

अब 'आप गहै पर भावानि काटै' वाक्य द्वारा कहते हैं कि ज्ञानी मुनि अपने शुद्ध स्वरूप का ग्रहण करते हैं तथा कर्मों को छेद देते हैं, नष्ट कर देते हैं। इसप्रकार बंध अधिकार का संक्षिप्त सारांश पद्य द्वारा पण्डित जयचंदजी ने कह दिया है। •

मोक्ष अधिकार

अथ प्रविशति मोक्षः।

(शिखरिणी)

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बंधपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानंदसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥ १८०॥

(दोहा)

कर्मबन्ध सब काटिके, पहुँचे मोक्ष सुथान ।
नमूं सिद्ध परमातमा, करूं ध्यान अमलान ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि "अब मोक्ष प्रवेश करता है।"

जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है उसीप्रकार यहाँ मोक्ष तत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है। वहाँ ज्ञान सर्व स्वाँग का ज्ञाता है, इसलिये अधिकार के प्रारम्भ में आचार्यदेव सम्यग्ज्ञान की महिमा के रूप में मंगलाचरण कहते हैं :-

श्लोकार्थ – [इदानीम्] अब (बन्ध पदार्थ के पश्चात्), [प्रज्ञा-क्रकच-दलनात् बन्ध-पुरुषौ द्विधाकृत्य] प्रज्ञारूपी करवत से विदारण द्वारा बन्ध और पुरुष को द्विधा (भिन्न-भिन्न – दो) करके, [पुरुषम् उपलम्भ-एक-नियतम्] पुरुष को – कि जो पुरुष मात्र *अनुभूति के द्वारा ही निश्चित है, उसे [साक्षात् मोक्षं नयम्] साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ, [पूर्णं ज्ञानं विजयते] पूर्ण ज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है। वह ज्ञान [उन्मज्जत्-सहज-परम-आनन्द-सरसं] प्रगट होनेवाले सहज परमानन्द के द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त है, [परं] उत्कृष्ट है, और [कृत-सकल-कृत्यं] जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिये हैं (-जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है) ऐसा है।

---

* जितना स्वरूप-अनुभवन है इतना ही आत्मा है।

भावार्थ – ज्ञान बन्ध और पुरुष को पृथक् करके, पुरुष को मोक्ष पहुँचाता हुआ, अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवन्त प्रवर्तता है। इसप्रकार ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टता का कथन ही मंगलवचन है ॥ १८० ॥

कलश १८० एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

देखो, जिसप्रकार करोंत (आरी) से लकड़ी को चीरकर दो टुकड़े कर देते हैं अथवा कुल्हाड़ी से लकड़ी के संधि स्थान में चोट करके लकड़ी को फाड़कर उसके दो भाग अलग-अलग कर देते हैं, उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष प्रज्ञारूपी करोंत या कुल्हाड़ी से आत्मा व रागादि बंध को अलग-अलग कर देते हैं। बंध अर्थात् राग-व्यवहार भाव तथा आत्मा अर्थात् निश्चय शुद्ध वस्तु – दोनों ही भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। इन्हें अपने ज्ञान में प्रज्ञारूपी छैनी से भिन्न जानने-मानने का नाम ही धर्म है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में तो उसे ही पुरुष कहा है, जो अपने ज्ञानानन्द स्वभाव का सेवन करता है। यहाँ आत्मा को ही पुरुष संज्ञा से अभिहीत किया है। जो उसे जाने-पहचाने, उसी में जमे-रमे, वही पुरुष है। अपने स्वरूप में जमने-रमने वाले आत्मा ही सच्चे अर्थों में पुरुष हैं। शेष सब तो नपुंसक हैं।

आगे कहते हैं कि – जितने भी रागादि विकल्प हैं उनसे भगवान आत्मा को भिन्न जानकर तथा राग का लक्ष्य छोड़कर, अन्दर जो ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा विराजमान है, उसमें झुकने, उस ओर ढलने से जो अनुभूति होती है। उस अनुभूति से ही आत्मा का निश्चय होता है, आत्मा प्राप्त होता है। राग व व्यवहार से आत्मा प्राप्त नहीं होता जिस राग से आत्मा को भिन्न करना है, उससे ही आत्मा की प्राप्ति कैसे संभव है?

भाई ! व्यवहार व निश्चय – दोनों का ही अस्तित्व है, दोनों की अपनी जगह उपयोगिता भी है, परंतु दोनों से ही आत्मा को जुदा जानने, जुदा करने का नाम धर्म है। पुण्य-पाप के विकल्प आदि सभी राग हैं। तथा जो राग है, वह बंध स्वरूप है। इनसे भिन्न होकर, अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा की अनुभूति से आत्मा प्राप्त होता है। अहाहा···! भगवान आत्मा द्रव्यरूप से –

अब प्रथम टीकाकार आचार्य देव कहते हैं कि अब मोक्ष प्रवेश करता है। मोक्ष पर्याय है, यह त्रिकाली वस्तु नहीं है। जिस तरह संसार विकारी भेष है, मोक्षमार्ग आंशिक निर्मल भेष है, उसी तरह मोक्ष पूर्ण आनन्द की दशा का भेष है। जो भी नवीन अवस्थायें होती हैं, वे सब भेष हैं, स्वाँग हैं। मोक्ष भी एक स्वाँग है। स्थाई रहनेवाला तत्त्व तो त्रिकाली एक, ध्रुव, चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही है।

जिस प्रकार नृत्य के अखाड़े में अर्थात् नाटक के रंगमंच पर नाटक करने वाला प्रवेश करता है, उसीप्रकार यहाँ मोक्षतत्त्व का स्वांग धारण करके जीव प्रवेश करता है। वह सम्यक् प्रकार से सर्व स्वांगों को जाननेवाला है। शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष आदि सभी स्वांगों को जानता है। आगे ३२०वीं गाथा में भी यही कहने वाले हैं कि सम्यग्ज्ञान इन सब स्वांगों को जानता है। इस कारण आचार्य देव ने अधिकार के प्रारंभ में सम्यग्ज्ञान की महिमा रूप मंगलाचरण किया है। •

समयसार गाथा २८८ से २९०

जह णाम को वि पुरिसो वंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥ २८८॥
जइ ण वि कुणदि च्छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो सं ।
कालेण उ वहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥ २८९॥
इय कम्मबंधणाणं एदेसठिइपयडिमेवमणुभागं ।
जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो ॥ २९०॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकालप्रतिवद्धः ।
तीव्रमंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥ २८८॥
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बंधनवशः सन् ।
कालेन तु वहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम् ॥ २८९॥
इति कर्मबन्धनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागम् ।
जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः ॥ २९०॥

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणं मोक्षः। बंधस्वरूपज्ञानमात्रं तद्धेतुरित्येके, तदसत्; न कर्मवद्धस्य वंधस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य वन्धस्वरूपज्ञानमात्रवत्। एतेन कर्मबन्धप्रपंचरचनापरिज्ञानमात्रसंतुष्टा उत्थाप्यंते।

अव, मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है सो कहते हैं। उसमें प्रथम तो, यह कहते हैं कि, जो जीव बंध का छेद नहीं करता किन्तु मात्र बन्ध के स्वरूप को जानने से ही सन्तुष्ट है वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता :-

कोई पुरुष चिरकाल से आवद्ध होकर बंध के ।
तीव्र-मन्द स्वभाव एवं काल को हो जानता ॥ २८८॥
किन्तु यदि वह बंध का छेदन न कर छूटे नहीं ।
तो वह पुरुष चिरकाल तक निज मुक्ति को पाता नहीं ॥ २८९॥
इस ही तरह प्रकृति प्रदेश स्थिति अर अनुभाग को ।
जानकर भी नहीं छूटे शुद्ध हो तब छूटता ॥ २९०॥

गाथार्थ – [यथा नाम] जैसे [वन्धन के] वन्धन में [चिरकालप्रतिवद्धः] वहुत समय से वँधा हुआ [कश्चित् पुरुषः] कोई पुरुष [तस्य] उस वन्धन के [तीव्रमंदस्वभावं] तीव्र-मंद स्वभाव को [कालं च] और काल को (अर्थात् यह वन्धन इतने काल से है इसप्रकार) [विजानाति] जानता है, [यदि] यदि [न अपि छेदं करोति] उस वन्धन को स्वयं नहीं काटता [तेन न मुच्यते] तो वह उससे मुक्त नहीं होता [तु] और [वन्धनवशः सन्] वन्धनवश रहता हुआ [वहुकेन अपि कालेन] वहुत काल में भी [सः नरः] वह पुरुष [विमोक्षम् न प्राप्नोति] वन्धन से छूटनेरूप मुक्ति को प्राप्त नहीं करता; [इति] इसीप्रकार जीव [कर्मवन्धनानां] कर्म-वन्धनों के [प्रदेशस्थितिप्रकृतिम् एवम् अनुभागम्] प्रदेश, स्थिति, प्रकृति और अनुभाग को [जानन् अपि] जानता हुआ भी [न मुच्यते] (कर्मवन्ध से) नहीं छूटता, [च यदि सः एव शुद्धः] किन्तु यदि वह स्वयं (रागादि को दूर करके) शुद्ध होता है [मुच्यते] तभी छूटता है – मुक्त होता है।

टीका – आत्मा और वन्ध का द्विधाकरण (अर्थात् आत्मा और वन्ध को अलग-अलग कर देना) मोक्ष है। कितने ही लोग कहते हैं कि वन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मोक्ष का कारण है (अर्थात् वंध के स्वरूप को जाननेमात्र से ही मोक्ष होता है), किन्तु यह असत् है; कर्म से वँधे हुए (जीव) को वन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि जैसे वेड़ी आदि से वँधे हुए (जीव) को वंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र वन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। उसीप्रकार कर्म से वँधे हुए (जीव) को कर्मवन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र कर्मवन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। इस कथन से उनका उत्थापन (खण्डन) किया गया है जो कर्मवन्ध प्रपंच की (विस्तार की) रचना के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट हो रहे हैं।

भावार्थ – कोई अन्यमती यह मानते हैं कि वन्ध के स्वरूप को ज्ञान लेने से ही मोक्ष हो जाता है। उनकी इस मान्यता का इस कथन से निराकरण कर

दिया गया है। जाननेमात्र से ही बन्ध नहीं कट जाता, किन्तु वह काटने से ही कटता है।

गाथा २८८, २८९, २९० एवं उनके भावार्थ पर प्रवचन

अब इन गाथाओं द्वारा यह कहते हैं कि - मोक्ष की प्राप्ति किसप्रकार होती है। इस कथन में सबसे पहले तो यह कह रहे हैं कि - जो जीव बंध का छेद नहीं करते, मात्र बंध के स्वरूप को जानने में ही संतुष्ट हैं, वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते।

आत्मा और बंध को जुदा-जुदा करने का नाम मोक्ष है। 'मोक्ष' शब्द स्वयं छुटकारा दिलाने का वाचक है। बंधन से मुक्त होने का नाम ही मोक्ष है। बंध से छूटना और स्वरूप में रहने का नाम ही वस्तुतः मोक्ष है। 'परभाव से छूटना' - यह अर्थ ग्रहण करके यहाँ द्विधाकरण की बात कही है। भाई ! सिद्धशिला पर लटकने का नाम मोक्ष नहीं है। मोक्ष माने ज्ञानानंदस्वरूपी भगवान आत्मा जब दुःख की दशा से भिन्न पड़कर निज आनंदरसकंदस्वरूप निज आत्मा में रहता है तो वही दशा मोक्ष है। पर्याय में परम आनंद का लाभ होने का नाम ही मोक्ष है - ऐसा नियमसार में कहा है। पूर्ण चैतन्यघन प्रभु आत्मा की सम्यग्दर्शन रूप प्रतीति करना - केवलज्ञानरूप पूर्ण उपलब्धि करना - बस इसी का नाम मोक्ष है।

दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान आत्मा की पर्याय में अनादि से जो विकार का संबंध है, वही बंध है और वही संसार है। जब उस कर्म विकार से आत्मा मुक्त होकर पूर्ण अबन्ध हो जाता है, तब पूर्ण ज्ञान व आनंद की दशा प्रगट होती है। उसी अवस्था का नाम मोक्ष है।

मोक्ष एवं मोक्ष के कारणों के संबंध में कुछ अन्य मतवादी भिन्न-भिन्न कल्पनायें करते हैं, वे असत् हैं, यथार्थ नहीं हैं। जैसेकि - बंध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से मोक्ष की मान्यता अर्थात् जो गुणस्थानों एवं मार्गणाओं के अनुसार कर्मप्रकृतियों की सत्ता, बंध, उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम तथा प्रकृति,

प्रदेश, स्थिति आदि के मात्र ज्ञान और चर्चा से संतुष्ट हैं और इसे ही मोक्षमार्ग मान बैठे हैं, उनकी यह धारणा भी असत् है।

"अमुक गुणस्थान में अमुक गति में अमुक जीव को इतनी प्रकृतियों का बंध है, इतनी प्रकृतियां सत्ता में हैं। कुल १४८ प्रकृतियाँ हैं। इनमें समकिती के ४१ प्रकृतियों का बंध नहीं पड़ता। कर्मबंध चार प्रकार का है, उनमें अनुभाग व स्थिति बंध कषाय से पड़ता है तथा प्रकृति व प्रदेश बंध का कारण योग्य है।" – ऐसी कर्मबंध की विस्तार से की गई चर्चा अथवा ऐसे विस्तृत ज्ञानमात्र से संतुष्ट व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

अरे भाई ! जब जीव राग व आत्मा को भिन्न-भिन्न जाने, राग से भिन्न शुद्ध आत्मा का अनुभव करे तब धर्म होता है और तभी बंध से छूटता है। मात्र बंध के प्रपंच यानि भेद-प्रभेदों को जानने से धर्म नहीं होता, मोक्ष नहीं होता। कर्म प्रक्रिया को जानकर उनसे भेदज्ञान करके आत्मा में जमने-रमने से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है और यही धर्म है।

भावार्थ यह है कि – बंध राग है और राग व्यवहार है। 'बंध को जानना मात्र मोक्ष है' – ऐसा कोई अन्यमती मानता है। पर, उसकी यह मान्यता यथार्थ नहीं हैं।

यहाँ प्रश्न है कि – यदि बंध के ज्ञानमात्र से मोक्ष नहीं होता तो फिर मोक्ष कैसे होता है ?

उत्तर – भाई ! कर्म तो विधिवत् छेद करने से ही छिदते हैं, नष्ट होते हैं। अन्दर आत्मा में शुद्ध दृष्टि करे और उसी में रमणता करे तो कर्म नष्ट होते हैं। प्रज्ञा से राग को आत्मा से भिन्न करे तथा स्वरूप का अनुभव करे तो कर्म नष्ट होते हैं। शुद्ध का अनुभव करने से शुद्धता होती है। बंध के स्वरूप के विकल्प मात्र से बंध कभी भी नष्ट नहीं होता।

समयसार गाथा २९१

जह बंधे चिंततो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे चिंततो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ॥ २९१॥

यथा बंधांश्चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षम् ।
तथा बन्धांश्चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षम् ॥ २९१॥

बंधचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुरित्यन्ये, तदप्यसत्; न कर्मबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धवत्। एतेन कर्मबन्धविषयचिंताप्रबन्धात्मकविशुद्धधर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यंते।

अब यह कहते हैं कि बन्ध का विचार करते रहने से भी बंध नहीं कटता।

चिन्तवन से बंध के ज्यों बंधे जन न मुक्त हों ।
त्यों चिन्तवन से बंध के सब बंधे जीव न मुक्त हों ॥२९१॥

गाथार्थ – [यथा] जैसे [बन्धनबद्धः] बन्धनों से बँधा हुआ पुरुष [बंधान् चिंतयन्] बन्धों का विचार करने से [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मुक्ति को प्राप्त नहीं करता (अर्थात् बन्ध से नहीं छूटता), [तथा] इसीप्रकार [जीवः अपि] जीव भी [बंधान् चिंतयन्] बन्धों का विचार करने से [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मोक्ष को प्राप्त नहीं करता।

टीका – अन्य कितने ही लोग यह कहते हैं कि 'बंध सम्बन्धी विचार शृङ्खला मोक्ष का कारण है' किन्तु यह भी असत् है; कर्म से बँधे हुए (जीव) को बंध सम्बन्धी विचार की शृङ्खला मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार बेड़ी आदि से बंधे हुए (पुरुष) को उस बन्ध सम्बन्धी विचार शृंखला (विचार की परंपरा) बन्ध से छूटने का कारण नहीं है, उसीप्रकार कर्म से बँधे हुए (पुरुष) की कर्म बन्ध सम्बन्धी विचारशृङ्खला कर्मबन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। इस (कथन) से, कर्मबन्ध सम्बन्धी विचार-शृङ्खलात्मक विशुद्ध (शुभ) धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अन्ध है, उन्हें समझाया जाता है।

भावार्थ – कर्मवन्ध की चिन्ता में मन लगा रहे तो भी मोक्ष नहीं होता। यह तो धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है। जो केवल (मात्र) शुभ परिणाम से ही मोक्ष मानते हैं उन्हें यहाँ उपदेश दिया गया है कि – शुभ परिणाम से मोक्ष नहीं होता।

समयसार गाथा २९१ एवं इसके भावार्थ पर प्रवचन

इस गाथा के पूर्व आचार्यदेव ने यह कहा था कि- वंध के ज्ञानमात्र से मुक्ति नहीं मिलती। उसी वात को आगे बढ़ाते हुए यहाँ इस गाथा में कहा है कि - वंध संवंधी विचारशृंखला अर्थात् शुभभाव की धारा भी मोक्ष का कारण नहीं है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि 'कर्मवन्ध से छूटने का उपाय सोचते-सोचते कर्मवन्धन से छुटकारा मिल जाता है।' उनसे आचार्य कहते हैं कि – यह तो अपायविचय धर्मध्यान है, शुभभावरूप होता है और शुभभावों को कर्म के नाश होने का हेतु मानना मिथ्या है। जो शुभवंध का हेतु है, वही शुभभाव मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता।

जिसतरह वेड़ी आदि से वंधा पुरुष मात्र वेड़ी के वंधन और उससे छूटने की चिंता ही करता रहे, उसके लिए कोई अन्य उचित उपाय न करे तो वह वंधन से मुक्त नहीं होता, उसीतरह कर्मवंध से बंधा प्राणीमात्र वंध संवंधी विचार शृंखला में ही अटका रहे, उससे छूटने का मात्र मनोरथ ही करता रहे तो वह कर्मबंध से नहीं छूटता।

भाई ! सम्यग्दर्शन तो धर्म का प्रथम सोपान है, मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है। उसके होने में अपने त्रिकाली शुद्ध आत्म-द्रव्य को जानने-पहचानने उसी में जमने-रमने की अपेक्षा है। शेष सवकी तो उपेक्षा करना ही बंधन से छूटने का उपाय है।

गत प्रकरण में यह वात आ चुकी है कि – शुद्ध अर्थात् एक ज्ञायक को जानने से पर्याय में शुद्धता प्राप्त होती है। अशुद्ध को अर्थात् विकार को व परद्रव्य को जानने से अशुद्धता प्राप्त होती है । यहाँ यह कहा जा रहा है कि

स्वभाव की दृष्टि करके शुद्ध-अशुद्ध को (स्वभाव-विभाव को) जुदा-जुदा करके भेदज्ञान करने से ही आत्मा बंधन से छूटता है। मात्र बंधन संबंधी चिंता या चिंतन से अर्थात् शुभभाव रूप अपायविचय धर्मध्यान से आत्मा कर्मों के बंधन से मुक्त नहीं होता।

विशुद्ध धर्मध्यान का अर्थ है शुभभाव, जो कि पुण्यबंध का कारण है। इसे ही आगम में अपायविचय धर्मध्यान कहा है। 'धर्मध्यान' शब्द जरा अटपटा लगता है, परंतु यहाँ यह नाम व्यवहार धर्मध्यान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नियमसार में आया है कि निश्चय धर्मध्यान व व्यवहार धर्मध्यान – दोनों भिन्न-भिन्न हैं। शुद्ध आत्मा के आश्रय से जो शुद्धता प्रगट होती है, वह निश्चय धर्मध्यान है। तथा कर्म आदि की चर्चा एवं विचारधारारूप पर के लक्ष्य से जो शुभभाव होता है, वह व्यवहार धर्मध्यान है। वर्तमान में लोगों में अधिकांश यह बात चलती है – कि शुभभाव से धर्म होता है, परंतु भाई ! शुभभाव निश्चय से तो आर्तध्यान रूपभाव यह धर्मध्यान हो भी कैसे ? देखो न ! यह स्पष्ट कहा है कि – 'विशुद्ध धर्मध्यान से जिसकी बुद्धि अंध है ...।' अहाहा... ! शुभभाव से धर्म माननेवाले, शुभभाव से बंधन से छूटना माननेवाले अंध हैं – ऐसा कहा है।

अरे भाई ! देखो, जो शुभभाव में आकंठ निमग्न हो गये हैं, उन जीवों को यह खबर नहीं है कि – अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का पिण्डस्वरूप चैतन्य महाप्रभु हम स्वयं हैं। वे अंध बुद्धि हैं न ? अहा ! "मैं तो स्वयं शुभभाव से भिन्न चैतन्यमय प्रभु हूँ, परमात्म द्रव्य हूँ" – ऐसा भासित नहीं होता। "तिनके की ओट में पहाड़" की भांति शुभभाव की आड़ में अज्ञानी को परमात्मस्वरूप आत्मा भासित नहीं होता।

जो यह कहते हैं कि – "यह समयसार ग्रन्थ तो मुनिराजों के पढ़ने के लिए है, इसे गृहस्थों को नहीं पढ़ना चाहिए।" उनसे कहते हैं कि – भाई ! आपका यह सोचना यथार्थ नहीं है। यहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि – शुभभाव से अंधी है बुद्धि जिनकी उन्हें समझाया जा रहा है। अतः जो दया, दान, व्रत,

पूजा, भक्ति आदि शुभभावों का ही विचार करते हैं, शुभराग व व्यवहार में ही मूढ़ हैं, निश्चय को जानते ही नहीं हैं - ऐसे जीवों को यह समयसार समझाने में आता है। वस्तुतः तो जो निश्चय को जानते हुए व्यवहार को यथार्थ जानते हैं, वे ही ज्ञानी हैं। जो व्यवहार के राग से भिन्न पड़कर - भेदज्ञान करके शुद्ध चिदानन्दधाम आत्मा का अनुभव करते हैं, वे ही व्यवहार को यथार्थ जाननेवाले हैं। परंतु यहाँ तो उन्हें समझाया जा रहा है जो शुभ में या व्यवहार में अंधे हैं।

कर्म के मूलतः आठ भेद हैं। इन आठ कर्मों के १४८ उत्तरभेद हैं, जिन्हें १४८ प्रकृतियाँ कहते हैं। इनमें बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोशम आदि रूप से जो प्रक्रिया सम्पन्न होती है, उस सबका विस्तृत वर्णन जैसा जैनधर्म में है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। परन्तु आचार्य कहते हैं कि जो - आत्मा या आत्मा के ध्यान को छोड़कर इन शुभभावों की चर्चा-वार्ता में अटक जाते हैं, उन्हें यहाँ अंधा कहा है। यहाँ ईश्वर को जगत का कर्त्ता माननेवालों की तो बात ही क्या कहें? वे तो बहुत स्थूल विपरीत बुद्धिवाले हैं।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि जो अपने अनन्त शक्तिस्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय न लेकर स्वाध्याय के माध्यम से कर्म के बंध, उदय, सत्ता आदि की शुभभाव रूप चर्चा मात्र से संतुष्ट है, वह अंध बुद्धि है। क्योंकि वह केवल शुभभाव को ही देखता है; इन शुभभावों से भिन्न अपने भगवान आत्मा को नहीं देखता। •

कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति चेत् –

जह बंधे छेत्तूण य बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे छेतूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥२९२॥

यथा बंधांश्छित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम् ।
तथा बंधांश्छित्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षम् ॥ २९२॥

कर्मबद्धस्य बन्धच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धच्छेदवत् । एतेन उभयेऽपि पूर्वे आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे व्यापार्येते।

"(यदि बंध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से भी मोक्ष नहीं होता और बन्ध के विचार करने से भी मोक्ष नहीं होता) तब फिर मोक्ष का कारण क्या है ?" ऐसा प्रश्न होने पर अब मोक्ष का उपाय बताते हैं :-

छेदकर सब बंधनों को बद्धजन ज्यों मुक्त हों ।
त्यों छेदकर सब बंधनों को बद्धजिय सब मुक्त हों ॥ २९२॥

गाथार्थ – [यथा च] जैसे [बंधनबद्धः तु] बंधनबद्ध पुरुष [बंधान् छित्वा] बन्धनों को छेद कर [विमोक्षम् प्राप्नोति] मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, [तथा च] इसीप्रकार [जीवः] जीव [बंधान् छित्वा] बन्धों को छेदकर [विमोक्षम् संप्राप्नोति] मोक्ष को प्राप्त करता है।

टीका – कर्म से बँधे हुए (पुरुष) को बन्ध का छेद मोक्ष का कारण है। क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बद्ध को बन्ध का छेद बन्ध से छूटने का कारण है उसीप्रकार कर्म से बँधे हुए को कर्म बन्ध का छेद कर्मबन्ध से छूटने का कारण है। इस (कथन) से, पूर्वकथित दोनों को (जो बन्ध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट हैं तथा जो बन्ध का विचार किया करते हैं उनको) आत्मा और बन्ध के द्विधाकरण में व्यापार कराया जाता है (अर्थात् आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करने के प्रति लगाया जाता है – उद्यम कराया जाता है)।

गाथा २९२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो, यहाँ कहा है कि - जो कर्म से बंधे हैं, उनका शुद्धात्मा की ओर का झुकाव अस्ति से मोक्ष का कारण है। तथा राग के अभाव को एवं बन्धन के नाश को नास्ति से मोक्ष का कारण कहा जाता है। शिष्य ने पूछा - यह अस्ति-नास्ति क्या है ? इसके उत्तर में अस्ति का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि - रागरहित वीतरागस्वभावी एक चैतन्यमय आत्मा का आश्रय अस्तिरूप मोक्ष का हेतु है। समयसार गाथा १४, १६ में आया है कि - अबद्धस्पृष्ट निज आत्मा को देखने-जानने एवं अनुभव करने से बंध का छेद होता है।

कर्मों से छूटने को मोक्ष कहना निमित्त सापेक्ष कथन है और विकार से छूटने को मोक्ष कहना अशुद्ध उपादान सापेक्ष कथन है। तथा शुद्ध उपादान की अपेक्षा कहें तो अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करने वालों को मोक्ष होता है - ऐसा कहा जाता है। शुद्ध आत्मा का आश्रय लेने से विकार उत्पन्न ही नहीं होता। बस, इसे ही विकार का छेद कहा जाता है।

समयसार गाथा १५ में भी ऐसा आता है कि जो अपने अबद्धस्पृष्टस्वरूप शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे सम्पूर्ण जैनशासन को ही जानते हैं। अहा ! पर्याय में अपने आत्मा का जो ज्ञान हुआ, वही जैन शासन है; क्योंकि जैन शासन के चारों अनुयोगों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता ही है और वह वीतरागता त्रिकाल वीतरागस्वभावी अबद्धस्पृष्ट निज आत्मा के आश्रय से प्रगट होती है।

समयसार गाथा ७४ की टीका में कहा है कि - आत्मा जितना-जितना विज्ञानघन होता जाता है, उतना-उतना आस्रवों से छूटता जाता है। तथा जितना-जितना आस्रवों से छूटता जाता है, उतना-उतना विज्ञानघन होता जाता है।

वहीं पर यह भी कहा है कि आत्मा जितना निज ज्ञानानन्दस्वरूप में एकाग्र होता जाता है, उतना ही वह कर्मों से (द्रव्यकर्म व भावकर्म से) छूटता जाता है।

आगे टीका में वीतराग परमात्मा यह कहते हैं कि जो भी क्रियाकाण्ड का राग है, वह सब बंधन है और भगवान आत्मा इससे भिन्न है। इसलिए राग को आत्मा से भिन्न करने का उद्यम किया जाता है।

राग को राग में रहने दो और ज्ञानोपयोग को अन्दर ज्ञानस्वभावी आत्मा में जोड़ दो तो राग व आत्मा भिन्न हो जाते हैं। बस यही धर्म है और धर्म करने की विधि भी एकमात्र यही है। शेष धार्मिक क्रियायें सब इसी के साधनभूत हैं, अतः व्यवहार से उन साधनों को भी धर्म कहा जाता है।

अहाहा! आत्मा उसे कहते हैं, जिसमें पुण्य-पाप के विकल्प ही नहीं हैं। और बंध उसे कहते हैं, जिसमें आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार दोनों वस्तुएं भिन्न हैं। आत्मा अन्दर में चैतन्य प्रकाश का पुंज, चैतन्यबिम्ब प्रभु ज्ञायक तत्त्व है। तथा दया, दान, व्रत आदि के विकल्प बन्ध तत्त्व हैं।

अहा ! नित्य अविनाशी प्रभु आत्मा और क्षणिक पुण्य-पाप के भाव - दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। ऐसा होते हुए भी अज्ञानी जीव दोनों में एकपना मान बैठे हैं। उन दोनों को भिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया जाता है।

देखो, पूरे दिन धंधा-व्यापार, स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब के भरण-पोषण तथा भोग-उपभोग में लगे रहना - यह पाप का व्यापार है। तथा दया-दान, भक्ति-पूजा और बंध-मोक्ष आदि के विचारों में अटके रहना - यह सब पुण्य का व्यापार है। एवं पुण्य-पाप से भिन्न अन्दर विराज रहे शुद्धचैतन्य में लगना भेदज्ञान का व्यापार है, धर्म का व्यापार है।

आत्मा को राग से भिन्न करने का यह व्यापार ही धर्म है। अरे, भाई ! अनादि से ज्ञान को राग में जोड़ रखा है वहाँ से तोडकर ज्ञान को आत्मा में जोड़ना ही धर्म का प्रथम सोपान है।

किमयमेव मोक्षहेतुरिति चेत् –

बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि ॥ २९३॥

बन्धानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभाव च ।
बन्धेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥ २९३॥

य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बन्धानां च स्वभावं विज्ञाय, बन्धेभ्यो, विरमति, स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात्। एतेनात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते।

'मात्र यही (बन्धच्छेद ही) मोक्ष का कारण क्यों है ?' ऐसा प्रश्न होने पर अब उसका उत्तर देते हैं :-

जो जानकर निजभाव निज में और बंधस्वभाव को ।
विरक्त हों जो बंध से वे जीव कर्मविमुक्त हों ॥ २९३॥

गाथार्थ – [**बन्धानां स्वभावं च**] बन्धों के स्वभाव को [**आत्मनः स्वभावं च**] और आत्मा के स्वभाव को [**विज्ञाय**] जानकर [**बंधेषु**] बन्धों के प्रति [**यः**] जो [**विरज्यते**] विरक्त होता है, [**सः**] वह [**कर्मविमोक्षणं करोति**] कर्मों से मुक्त होता है।

टीका – जो, निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मस्वभाव को और उस (आत्मा) के विकार करनेवाले बंध के स्वभाव को जानकर, बन्धों से विरक्त होता है, वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है। इस (कथन) से ऐसा नियम किया जाता है कि आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण (पृथक्करण) ही मोक्ष का कारण है (अर्थात् आत्मा और बंध को भिन्न-भिन्न करना ही मोक्ष का कारण है-ऐसा निर्णीत किया जाता है।)

गाथा २९३ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अहा! भगवान आत्मा निर्विकार मात्र चैतन्य चमत्कार स्वभावी है। देह तथा पुण्य-पाप के भावों से भिन्न आत्मा निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र है। वह आत्मा किसी की हिंसा करे, किसी पर दया करे, किसी को कुछ देवे या किसी से कुछ लेवे - ऐसे स्वभाववाला नहीं है।

अहो ! आत्मा का स्वभाव ऐसा आश्चर्यकारक है कि पर में कुछ फेरफार करता नहीं और सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्त परपदार्थों सहित लोकालोक को जानता है। चैतन्य चमत्कार मात्र कहकर यह कहा गया है कि आत्मा मात्र ज्ञायक स्वभावी है। पर के या राग के भाव भी आत्मा की चीज नहीं हैं, ये भाव भी शरीर की भाँति ही आत्मा से अन्य हैं।

ऐसे आत्मस्वभाव को और विकार करनेवाले बंध स्वभाव को - दोनों को जानकर जो बंध से विराम ले लेता है अर्थात् रागादि भाव से विरक्त हो जाता है, वही सर्वकर्मों से छूटता है। व्यवहार रत्नत्रय का राग भी बंध स्वभाव ही है, अतः उससे भी जो विरक्त होता है, वह सर्वकर्मों से छूटता है, मुक्ति प्राप्त करता है।

अहा ! रागादि विकारों से आत्मा को भिन्न करना ही मोक्ष का कारण है - ऐसा नियम इस कथन से सिद्ध होता है। रागादि से भिन्न आत्मा की प्रतीति करना सम्यग्दर्शन, रागादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान और रागादि से भिन्न आत्मा का आचरण करना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार राग से, विकार से आत्मा को भिन्न करना - अनुभवना मोक्ष का कारण है।

यह सिद्धान्त फलित होने पर यह बात ही कहाँ ठहरती है कि व्यवहाररत्नत्रय से निश्चय मोक्षमार्ग होता है? यहाँ तो यह कह रहे हैं कि व्यवहार रत्नत्रय के शुभराग से आत्मा को भिन्न अनुभव करना मोक्ष का कारण है।

केनात्मबन्धौ द्विधा क्रियेते इति चेत् –

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएणदु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥ २९४॥

जीवो बन्धश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम् ।
प्रज्ञाछेदनकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नो ॥ २९४॥

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां, निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवात्, भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणम्। तथाहितौ छिन्नौनानात्वमवश्यमेवापद्येते; तत प्रज्ञयैवात्मबन्धयोर्द्विधाकरणम्। ननु कथमात्मबन्धौ चेत्यचेतकभावेनात्यंतप्रत्यासत्तेरेकीभूतौभेदविज्ञाना भावादेकचेतकवद्व्यवह्रियमाणौ प्रज्ञया छेत्तुं श्क्येते ? नियतस्वलक्षणसूक्ष्मान्तः संधिसावधाननिपातनादिति बुध्येमहि। आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणम्। तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीय, तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्; समस्तसहक्रमप्रवृत्तानंतपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति यावत्। बंधस्य तु आत्मद्रव्यसाधारणा रागादयः स्वलक्षणम्। न च रागादय आत्मद्रव्यसाधारणतां बिभ्राणाः प्रतिभासंते, नित्यमेव चैतन्यचमत्कारादतिरिक्तत्वेन प्रतिभासमानत्त्वात न च यावदेव समस्त स्वपर्यायव्यापि चैतन्यं प्रतिभासित तावत्त एव रागादयः प्रतिभान्ति, रागदीनंतरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसंभावनात्। यत्तु रागादीनां चैतन्यैन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतकभाव-प्रत्यासत्तेरेव, नैकद्रव्यत्वात्; चेत्यमानस्तु रागादिरात्मनः, प्रदीप्यमानो घटादिः प्रदीपस्य प्रदीपकतामिव, चेतकतामेव प्रथयेत्, न पुना रागादिताम्। एवमपि तयोरत्यंतप्रत्यासत्त्या भेदसंभावनाभावादनादिरस्त्येकत्वव्यामोहः, स तु प्रज्ञयैव छिद्यत एव।

'आत्मा और बंध किस (साधन) के द्वारा द्विधा (अलग) किये जाते हैं?' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं:-

जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हो।
दोनों पृथक हो जाय प्रज्ञाछैनि से जब छिन्न हों ॥ २९४॥

गाथार्थ – [**जीवः च तथा बंधः**] जीव तथा बंध [**नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां**] नियत स्वलक्षणों से (अपने-अपने निश्चित लक्षणों से) **छिद्येते**] छेदे जाते हैं; [**प्रज्ञाछेदनकेन**] प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा [**छिन्नौ तु**] छेदे जाने पर [**नानात्वम् आपन्नौ**] वे नानापन को प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं।

टीका – आत्मा और बंध के द्विधा करनेरूप कार्य में कर्त्ता जो आत्मा उसके *करण सम्बन्धी +मीमांसा करने पर, निश्चयतः (निश्चयनय से) अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही (ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही) छेदनात्मक (छेदन के स्वभाववाला) करण है। उस प्रज्ञा के द्वारा उनका छेद करने पर वे अवश्य ही नानात्व को प्राप्त होते हैं; इसलिये प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्ध का द्विधा किया जाता है। (अर्थात् प्रज्ञारूपी करण द्वारा ही आत्मा और बन्ध जुदे किये जाते हैं)।

(यहां प्रश्न होता है कि) आत्मा और बंध जो कि आत्मा चेतक है और बंध चेत्य है; वे दोनों अज्ञान दशा में एक से अनुभव में आते हैं। चेत्यचेतकभाव के द्वारा अत्यन्त निकटता के कारण एक जैसे हो रहे हैं, और भेदविज्ञान के अभाव के कारण, मानो वे एक चेतक ही हों ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है (अर्थात् जिन्हें एक आत्मा के रूप में ही व्यवहार में माना जाता है), उन्हें प्रज्ञा के द्वारा वास्तव में कैसे छेदा जा सकता है ?

(इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं:-) आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अन्तःसंधि में (अन्तरंग की संधि में) प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से (डालने से, मारने से) उनको छेदा जा सकता है – अर्थात् उन्हें अलग किया जा सकता है; ऐसा हम जानते हैं।

---

* करण = साधन; करण नाम का कारक।
\+ मीमांसा = गहरी विचारणा; तपास समालोचना। शक्येत्रे ? नियतस्वलक्षणसूक्ष्मान्तः

आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है (वह अन्य द्रव्यों में नहीं है)। वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को व्याप्त होकर प्रवर्तता है और निवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं इसप्रकार लक्षित करना (लक्षण से पहचानना) चाहिये (अर्थात् जिन-जिन गुण पर्यायों में चैतन्यलक्षण व्याप्त होता है वे सब गुण पर्यायें आत्मा हैं; ऐसा जानना चाहिए) क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षण से लक्षित है (अर्थात् चैतन्यलक्षण से ही पहिचाना जाता है)। और समस्त सहवर्ती और क्रमवर्ती अनन्त पर्यायों के साथ चैतन्य का अविनाभावी भाव होने से चिन्मात्र ही आत्मा है ऐसा निश्चय करना चाहिए। इतना आत्मा के स्वलक्षण के सम्बन्ध में है।

(अब बन्ध के स्वलक्षण के सम्बन्ध में कहते हैं:-) बन्ध का स्वलक्षण तो आत्मद्रव्य से असाधारण ऐसे रागादि हैं। यह रागादिक आत्म द्रव्य के साथ साधारणतः धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि वे सदा चैतन्यचमत्कार से भिन्नरूप प्रतिभासित होते हैं। और जितना, चैतन्य आत्मा की समस्त पर्यायों में व्याप्त होता हुआ प्रतिभासित होता है, उतने ही, रागादिक प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ संभव है (अर्थात् जहाँ रागादि न हों वहाँ भी चैतन्य होता है)। और जो, रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्पत्ति होती है वह चेत्यचेतकभाव (ज्ञेयज्ञायकभाव) की अति निकटता के कारण ही है, एकद्रव्यत्व के कारण नहीं; जैसे (दीपक के द्वारा) प्रकाशित किया जानेवाला घटादिक (पदार्थ) दीपक के प्रकाशत्व को ही प्रगट करते हैं - घटत्वादि को नहीं, इसप्रकार (आत्मा के द्वारा) चेतित होनेवाले रागादिक (अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होनेवाले रागादि भाव) आत्मा के चेतकत्व को ही प्रगट करते हैं - रागादिकत्व को नहीं।

ऐसा होने पर भी उन दोनों (-आत्मा और बन्ध) की अत्यन्त निकटता के कारण भेदसंभावना का अभाव होने से अर्थात् भेद दिखाई न देने से (अज्ञानी

को) अनादि काल से एकत्व का व्यामोह (भ्रम) है; वह व्यामोह प्रज्ञा द्वारा ही अवश्य छेदा जाता है।

भावार्थ – आत्मा और बन्ध दोनों को लक्षण भेद से पहचान कर बुद्धिरूपी छैनी से छेद कर भिन्न-भिन्न करना चाहिए।

आत्मा अमूर्तिक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का स्कंध है इसलिये छद्मस्थ के ज्ञान में दोनों भिन्न प्रतीत नहीं होते; मात्र एक स्कन्ध ही दिखाई देता है (अर्थात् दोनों एक पिण्डरूप दिखाई देते हैं); इसलिये अनादि अज्ञान है। श्रीगुरुओं का उपदेश प्राप्त करके उनके लक्षण भिन्न-भिन्न अनुभव करके जानना चाहिए कि चैतन्यमात्र तो आत्मा का लक्षण है और रागादिक बन्ध का लक्षण है, तथापि ज्ञेयज्ञायक-भाव की अति निकटता मात्र से वे एक जैसे ही दिखाई देते हैं। इसलिये तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनी को – जो कि उन्हें भेदकर भिन्न करने का शस्त्र है उसे – उनकी सूक्ष्मसंधि को ढूंढकर उसमें सावधान (निष्प्रमाद) होकर पटकना चाहिए। उसके पड़ते ही दोनों भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगते हैं और ऐसा होने पर, आत्मा को ज्ञानभाव में ही और बन्ध को अज्ञानभाव में रखना चाहिए। इसप्रकार दोनों को भिन्न करना चाहिए।

गाथा २९४ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अहा ···! शान्त निर्मल निर्विकार स्वभाव से भरे ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा तथा पुण्य-पाप के, राग-द्वेष के भावरूप भावबन्ध को द्विधा करने वाला, भिन्न-भिन्न करनेरूप कार्य का कर्त्ता आत्मा है। आत्मा और रागादि भावों को जुदा-जुदा करना भी एक कार्य है न ? इस कार्य का कर्त्ता आत्मा है, राग नहीं। क्योंकि जिससे भिन्न होना है, वह राग भेदज्ञान का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? व्यवहार शुभ राग है सो वह तो बन्ध है, इससे तो जुदा पड़ना ही है। भला जिससे जुदा पड़ना हो, वही जुदा करने का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। इन दोनों को भिन्न-भिन्न करने का कार्य वस्तुतः आत्मा का ही है, राग का नहीं।

प्रश्न – छहढाला में तो 'हेतु नियत का होई' यह कहकर व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग का हेतु कह दिया है, उसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – भाई ! यह तो निमित्त का कथन है। जब सत्यार्थ मोक्षमार्ग प्रगट हुआ, तब जो मोक्षमार्ग तो नहीं, किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी होता है उसे उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं। और उसे बाह्य निमित्त व सहचारी जानकर निश्चय मोक्षमार्ग का हेतु है - ऐसा उपचार से कहा जाता है। अतः इस कथन से ऐसा समझना चाहिए कि - यहाँ उपचार कथन द्वारा निमित्त का ज्ञान कराया है।

अब आगे कहते हैं कि अतीन्द्रिय आनन्दरस से भरे आत्मा को और पुण्य-पापरूप बंध की - दुःख की दशा को भिन्न-भिन्न करनेरूप कार्य के कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण रूप छहों कारक (शक्तियां) आत्मा में ही हैं; पर ये सभी शक्तियां आत्मा में ध्रुव रूप से अक्रिय रहतीं हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न करनेरूप कार्य में पर्यायरूप कारक की बात है। दोनों को जुदा करना है तो जुदा करनेरूप कार्य के कारण में वर्तमान पर्याय साधन होकर दोनों को भिन्न-भिन्न करती हैं। जो त्रिकाली शक्तियां हैं, वे तो ध्रुव हैं और जो विकार है, वह दोष है। विकार को तो यहाँ पर में डाल दिया है। अतः ये दोनों ही साधन नहीं हो सकते। इसलिए यहाँ कहते हैं कि - कर्त्ता आत्मा के करण सम्बन्धी विचार करने पर निश्चयनय से (वस्तुतः) देखा जाय तो स्वयं से भिन्न करणों का अभाव ही है तथा भगवतीप्रज्ञा ही - ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही छेदनात्मक करण है। यह आत्मा की अनुभूतिदशारूप पर्याय की बात है तथा वह पर्याय कर्त्ता से भिन्न नहीं होती।

अहा! वीतराग जैन परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि दुःख की दशा का भाव और आंनन्दस्वरूप भगवान आत्मा को भिन्न-भिन्न करना हो तो कर्त्ता भी आत्मा ही है और साधन (करण) भी आत्मा ही है। राग से - दुःख से भिन्न करने में स्वरूप की ओर झुकी ज्ञान की वर्तमान दशा साधन है। राग के साथ ज्ञान की वर्तमान दशा की एकता थी, वस्तु के साथ नहीं। वस्तु तो ध्रुव है।

वह ज्ञान की पर्याय ज्यों ही अन्दर में ढली नहीं कि तत्काल राग से भिन्न अपना आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा ख्याल में आ जाता है। इस प्रकार आत्मा को राग से भिन्न करने का साधन भगवती प्रज्ञा है, अन्तर में एकाग्र हुई ज्ञान की पर्याय ही है।

लोग कहते हैं कि भेदज्ञान का साधन व्यवहार है। परंतु भाई ! यहाँ तो अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह कहा है कि - भगवतीप्रज्ञा ही - अन्तर एकाग्र हुई स्वानुभव की दशा ही विकार से भिन्न करने का साधन है।

एक कार्य में दो साधन होते हैं - यह तो कथन शैली है। व्यवहार का कथन है - ऐसा कहकर प्रमाण का ज्ञान कराया है। वास्तव में तो - साधन दो होते ही नहीं हैं, एक ही होता है। यदि दो हों तो परस्पर विरोध आयेगा।

अहा ! अनन्तकाल में परिभ्रमण करने पर यह महादुर्लभ मनुष्यभव मिला है। इसमें भी जिनधर्म में जन्म होना तो ओर भी अति दुर्लभ है। देखो न ! आज तक भी जिन्हें त्रस अवस्था नहीं मिली - ऐसे अनन्त जीव निगोद में है। एक आलू-प्याज के एक अणु जैसे भाग में असंख्य औदारिक शरीर हैं और प्रत्येक शरीर में अनन्त निगोदिया जीव हैं। वे सभी जीव स्वभाव के सामर्थ्य से पूर्ण द्रव्यरूप से परमात्मास्वरूप हैं। पर क्या करें ? वर्तमान दशा हीन है, स्वरूप को समझने की योग्यता से रहित हैं। भाई ! अपने को ऐसा अवसर मिला है, अत: हर कीमत पर स्वरूप को समझ ही लेना चाहिए। अब तक जो राग से एकता है, उसे तोड़कर चैतन्यस्वरूप में एकता कर ! यदि ऐसा अवसर पाकर भी यह काम नहीं किया तो तेरे आत्मा में और निगोद के जीव में क्या फर्क रहा ? अवसर तो चला जायेगा और हम स्वरूप के भान बिना निगोदिया जीव की भाँति ही कहीं संसार समुद्र में जा पड़ेंगे।

वर्तमान में भले ही शरीर स्वस्थ्य व सुन्दर हो, पारिवारिक व आर्थिक अनुकूलता हो, पर इन सब में तेरा क्या है ? भाई ! तेरा तो एक आनन्द का नाथ चैतन्य लक्ष्मी स्वरूप आत्मा ही है। अहा ! इसे जाने बिना तू दु:खी ही है। प्रभु ! इसके भान बिना यह बाहरी जड़ लक्ष्मी से यदि तू स्वयं को सुखी

मानता है तो यह तेरी बहुत बड़ी भूल है। यह मिथ्या कल्पना है। देखते ही देखते यह सब अदृश्य हो जायेगा और तू कहीं कौओं-कुत्तों की योनि में चला जायेगा।

यहाँ कहते हैं कि एकमात्र भगवती प्रज्ञा ही आत्मा व विकार के भेदज्ञान में समर्थ साधन है। जिस तरह करोंत से लकड़ी के दो फाड़ हो जाते हैं, उसी तरह भेदज्ञान की बुद्धिरूप प्रज्ञाछैनी से आत्मा व विकार को भिन्न-भिन्न कर देती है। अहा ! देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति विनय का राग व पंच महाव्रतादि का राग आदि जो भी व्यवहार है। इन सबसे भगवान आत्मा को भिन्न करने के स्वभाव वाला साधन एकमात्र भगवतीप्रज्ञा ही है और वह प्रज्ञा आत्मा से अभिन्न है। इसप्रकार आत्मा की अन्तर्मुख झुकती हुई ज्ञान की पर्याय प्रज्ञा छैनी ही कर्त्ता है और यही एक-मात्र भेदज्ञान का साधन है।

प्रश्न – आपके कहे अनुसार जब आत्मा व विकार जुदे-जुदे हैं ही तो फिर इन्हें जुदा-जुदा करने के लिए कहा ही क्यों जाता है ?

उत्तर – हाँ, यद्यपि ये वास्तव में भिन्न-भिन्न ही हैं, परंतु अज्ञानी ने इन्हें भिन्न-भिन्न तो माना ही नहीं, साथ ही उसने अन्य परवस्तुओं में अपनापन भी स्थापित कर रखा है।

अब इसी बात को विशेष कहते हैं कि इनसे भेदविज्ञान करने का एकमात्र उपाय प्रज्ञा ही है। जीव जबतक परपदार्थों को एवं रागादि विकारों को ही आत्मा मानता रहता है तबतक अज्ञानी रहता है। और जब भेदज्ञानरूप प्रज्ञाछैनी से आत्मा व रागादि को भिन्न जान लेता है, तो दोनों भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। आत्मा आत्मा-रूप से व रागादि रागादिरूप से भिन्न-भिन्न पड़ जाते हैं। इसी का नाम धर्म है।

अहा ! लोग तो एकाध घंटा व्याख्यान सुनके, पूजा-पाठ करके, सामयिक-प्रतिक्रमण करके संतुष्ट हो जाते हैं। इसे ही धर्म मानकर कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। अरे ! लोगों ने धर्म के स्वरूप को ही तोड़-मरोड़ डाला है। संत करुणा करके समझाते हैं, अरे भाई ! एकबार सुनो तो सही !

इन सब क्रियाओं में शुभभाव रहने से पुण्य बन्ध तो हो जायेगा। पर इनसे भिन्न होने की खबर बिना, भेदविज्ञान की कला के बिना अनन्तकाल की संसार में भटकने की रखड़पट्टी नहीं मिटेगी।

निर्जरा अधिकार में कहा ही है कि रागादि भाव क्लेश हैं। रागादि क्लेश होना जुदी बात है, पर उससे धर्म मानना तो ठीक नहीं। उल्टी मान्यता तो मिथ्यात्व है न !

अहा ! कहते हैं कि राग को व ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को एक मानने वाले तो सचमुच जैन ही नहीं हैं।

अहा ! भगवान जिनेन्द्रदेव द्वारा बताया मुक्ति का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। एक पल भी जिसे आत्मज्ञान होता है, वह भवरहित हो जाता है। तथा – आत्मज्ञान के बिना बाह्य क्रियायें कर-कर के सूख भी जायें तो भी एकभव भी नहीं घटता। बाह्य क्रियाओं में धर्मबुद्धि होना मिथ्यात्व का ही महादोष है।

अब यहाँ शिष्य पूछता है कि आत्मा और बंध दोनों चैत्य-चेतकभाव के कारण तथा निकटता के कारण एक जैसे हो रहे हैं। भगवान आत्मा चेतक है और दया-दान, व्रत-भक्ति तथा हिंसा-झूठ-चोरी आदि के विकारी भाव चैत्य अर्थात् ज्ञेय हैं। ये यद्यपि आत्मा की पर्याय में ही होते हैं, तो भी विभाव भाव होने से ये आत्मा नहीं हैं। दोनों में अत्यन्त निकटता है। अर्थात् जिस समय आत्मा में विकार उत्पन्न होता है, उसी समय उस आत्मा में उस राग को जाननेवाला ज्ञान भी उत्पन्न होता है। जाननेवाला भगवान आत्मा जब जानने की दशारूप उत्पन्न होता है, उसी समय राग की उत्पत्ति होती है, यह निकटता है। निश्चय से विकार चैत्य है अर्थात् जाननेलायक है। और आत्मा चेतक है और चेतक में बंधभाव नहीं है। ऐसा होते हुए भी, दोनों की अतिनिकटता के कारण अज्ञानी 'विकार रूप चैत्य ही मैं हूँ' – ऐसा मानता है।

देखो ! आत्मा और विकार – दोनों एक हो रहे हैं – ऐसा कहा है न ? वस्तुतः ये दोनों एक नहीं हैं, पर अज्ञानी को ये एक जैसे भासित होते हैं।

अरे ! अज्ञानी ने अनन्तकाल से आत्मा व बन्ध के बीच भेदज्ञान नहीं किया।

अनशन ऊनोदर आदि बारह प्रकार का तप किया, गुण-गुणी के भेदरूप विकल्प किए, शुक्ललेश्यापूर्वक अनंतबार नवग्रैवेदक गया परंतु 'शुभ रागरूपचैत्य पदार्थों से मैं (चेतकरूप आत्मा) भिन्न हूँ' - ऐसा भेदज्ञान नहीं किया।

भाई! भगवान ने जो जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि नव पदार्थ कहे हैं उनमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, काम, क्रोधादि पाप भव हैं और दया, दान, व्रत तप, भक्ति आदि पुण्य भाव हैं। तथा भगवान आत्मा इन दोनों से भिन्न ज्ञायक तत्त्व हैं।

शकरकन्द के छिलके की भांति शुभाशुभ भाव की लाली को यदि आत्मा से भिन्न कर दिया जाये तो अन्दर सम्पूर्ण आत्मा शकरकन्द के दल की भाँति अतीन्द्रिय आनन्दरूप मिठास का कंद ही है। आत्मा की पर्याय में जो शुभाशुभ भावों के विकल्प उठते हैं, वे शकरकंद के ऊपर के लाल छिलके जैसे हैं। यदि अज्ञानी इनका लक्ष्य छोड़ दे तो अन्दर भगवान आत्मा अकेला ज्ञान व आनन्द का ही रसकंद है। पर अज्ञानी को आत्मा व रागादि के बीच भेदज्ञान ही नहीं हैं।

भाई ! यह शरीर जो रूपवान दिखता है, यह तो धूल-माटी का पिण्ड है। जब यह शरीर जलेगा तो इसकी राख का पता ही नहीं चलेगा कि कहाँ उड़ गई ? और जीव भी बिना भेदज्ञान पाये कहीं न कहीं इसी संसार सागर में गोते लगाता रहेगा।

अहा ! जिसका महाभाग्य होगा उसी के कान में यह वीतराग की वाणी पड़ती है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि चेतक आत्मा और चैत्य विकार - ये दोनों अज्ञानी को एक भासित होते हैं, उंसे भगवती प्रज्ञा द्वारा किस प्रकार भेद किया जा सकता है ? उसे सम्यग्दर्शन और आत्मानुभव कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा और बन्ध की नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अन्तःसन्धि में प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से चैत्य रूप विकार को छेदा जा सकता है।

जिस तरह एक दिखने वाला पहाड़ वस्तुतः एक नहीं होता, उसमें अनेक पत्थर होते हैं जो अति नजदीक-नजदीक होने से एक जैसे लगते हैं, उनकी संधि को देखकर उसमें सुरंग लगाने से वह पहाड़ छिन्न-भिन्न हो जाता है। ठीक इसी तरह ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा व पुण्य-पाप एक नहीं है, उनके बीच भी सूक्ष्म संधि है। इसलिये स्वानुभव में समर्थ प्रज्ञाछैनी से उसे छेदा जा सकता है।

अन्तर आत्मा में जो राग का विकल्प उठता है, यद्यपि वह सूक्ष्म है; पर भगवान आत्मा का ज्ञानोपयोग उससे भी अतिसूक्ष्म है। आत्मा व रागादि बंध के अपने-अपने नियत स्वलक्षण हैं। बंध का लक्षण राग है और आत्मा का लक्षण ज्ञान व आनन्द है। दूसरी तरह कहें तो आत्मा का लक्षण निराकुलतास्वरूप व बंध का लक्षण आकुलतास्वरूप है। राग की दशा परलक्ष्यी है, राग पर के लक्ष्य से उत्पन्न होता है। इन लक्षणों से आत्मा व बंध के बीच संधि है, भिन्नता है, एकरूपता नहीं है।

अहा ! अनादि से अज्ञानी ने परलक्ष्यी राग की दशा को और अंतरंग ज्ञान की दशा को एक मानकर 'मैं रागी हूँ' ऐसा माना है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान की दशा को राग से भिन्न जानकर ज्ञान को अन्तर में एकाग्र करने पर वह अन्तर में ऐसा स्थिर होता है कि दोनों भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। बस, इसी का नाम भेदविज्ञान व सम्यग्दर्शन है।

भाई ! यह भेदज्ञान तो अन्तर की क्रिया है। इसके बिना लाखों बाह्य क्रियायें करें तो भी धर्म नहीं होता। राग व आत्मा को भिन्न करने की भेदज्ञान की कला ही एकमात्र धर्म प्राप्त करने की कला है। भगवान तीर्थंकरदेव ने जगत को परमार्थ का एकमात्र मार्ग दर्शाया है।

आचार्यों ने जो भेदज्ञान की बात कही है, वह उनकी स्वयं की स्वानुभव प्रमाण बात है, केवल सुनी-सुनाई नहीं है। हम भी इसे अनुभव से प्रमाण कर सकते हैं। किसी केवली भगवान से पूछने नहीं जाना पड़ेगा कि - हमें धर्म हुआ या नहीं ? परंतु सत्य का जैसा स्वरूप है, उसे जाने बिना सत्य की ओर झुकाव भी कैसे होगा ?

भाई ! यह देह तो क्षणभर में छूट जायेगी। बापू ! बाहर में तुझे कोई शरणभूत नहीं है। अन्तर में रह रहा एकमात्र आत्मा ही तेरा सच्चा शरणभूत है। ये पुण्य-पाप के भाव भी अशरण हैं। अतः इनका लक्ष्य छोड़कर अन्तर आत्मा की शरण प्राप्त करने में सावधान हो जा। स्वरूप की शरण में जाते ही तुझे अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त होगा।

अहा ! ध्रुव को ध्यान में लेते ही राग व आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न पड़ जाते हैं। अहा ! पहले ज्ञान की दशा जो राग में तन्मय थी, जब वही ध्रुवधाम भगवान आत्मा में एकाग्र हुई तो ज्ञान राग से सहज भिन्न हो गया और उसी समय अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आया। जब अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, तब जाना कि राग व आत्मा भिन्न-भिन्न पड़ गए हैं। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

अहो ! सम्यग्दर्शन होने पर ऐसा जाना कि - मैं आनन्दस्वरूप हूँ, रागरूप मेरा स्वरूप नहीं है, राग की मुझ में नास्ति है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा का ज्ञान होने पर पर्याय में ज्ञान आया, राग नहीं आया। राग ज्ञान से भिन्न पड़ गया। इसी का नाम भेदज्ञान है। अहो ! पुण्य-पापरूप अशुचि से भिन्न करके परम पवित्र प्रभु आत्मा को प्राप्त कराने वाला भेदज्ञान कोई अलौकिक नहीं है। कहा भी है :-

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

आज पर्यन्त जितने सिद्ध हुए, सभी इस भेद विज्ञान से ही हुए हैं और जो आज भी बन्धन में हैं, वे सब भेद विज्ञान के अभाव में ही हैं।"

((जिस तरह शुक्ल पक्ष की दोज के बाद पूर्णमासी आती ही है, उसी तरह सम्यग्दर्शन के बाद भेदज्ञान के बल से अल्पकाल में मुक्ति होती ही है।))

अब कहते हैं कि - चैतन्य आत्मा का असाधारण लक्षण है; क्योंकि वह पुद्गलादि सर्व अन्य द्रव्यों में नहीं है। जो अपने में ही होता है व पर में नहीं होता है, वह असाधारण लक्षण है। इस नियमानुसार चैतन्य आत्मा का असाधारण लक्षण है।

वह चैतन्य प्रवर्तित होता हुआ जिन-जिन पर्यायों में व्याप्त होकर प्रवर्तता है, वे-वे समस्त सहवर्ती पर्यायें (गुण) आत्मा हैं - ऐसे लक्षण से पहचानना। देखो, यहाँ गुणों को पर्याय कहा है। द्रव्य में इतना भेद पड़ा न ? इस कारण गुणों को पर्याय कहा है। ज्ञानगुण के साथ अन्य जो-जो अनन्त गुण सहवर्ती हैं, उनमें चैतन्य व्याप्त होकर प्रवर्तता है। इसलिए वे आत्मा ही हैं - ऐसा जानना। (यहाँ निर्मल पर्यायें लेना)।

देखो, यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का स्वरूप बताया है। "उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तम्सत्" यह सूत्र है न ? इसी का यहाँ स्पष्टीकरण किया है। परन्तु यदि ऐसा विकल्प उठता है कि "मैं आत्मा हूँ और यह ज्ञान गुण है" - ऐसा भेद पड़ते ही जो विकल्प उठता है - वह विकल्प राग है और वह बन्ध की पंक्ति में आ जाता है; क्योंकि उस विकल्प में चैतन्य का अंश नहीं है। इस कारण भगवान आत्मा का लक्षण चैतन्य है और वह गुण-पर्याय रूप है। समय-समय पर जो नवीन पर्याय क्रमबद्ध उत्पन्न होती है, उस पर्याय के उत्पाद को ग्रहण करता, पूर्व की पर्याय को छोड़ता, (निवर्तता) एवं गुणरूप से कायम रहता हुआ एक आत्मा ही है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो द्रव्य, गुण व पर्यायरूप आत्मा को देखा - वही सर्वज्ञ की जानी-देखी बातें हैं। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य तथा अस्तित्व, वस्तुत्व आदि। ये सभी गुण सहवर्ती हैं एक साथ रहते हैं।

त्रिकाली गुण स्वभावों को यहाँ सहवर्ती कहा है। भगवान आत्मा इन सभी गुणों में प्रवर्तता हैं, व्यापता हैं तथा जो नवीन-नवीन अवस्थाएं क्रम से होती

हैं, उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। गुण नये-नये नहीं होते। इस प्रकार सहवर्ती गुण व क्रमवर्ती पर्यायें - ये सब आत्मा ही हैं - ऐसे लक्षण से आत्मा ही एक लक्षित होता है। आत्मा एक इसी लक्षण से पहचानी जा सकती है। शरीर की या राग की किसी क्रिया से आत्मा की पहचान नहीं होती।

चैतन्य लक्षण जो गुणरूप से त्रिकाल है, वह तो चैतन्य ··· चैतन्य ··· चैतन्य ···! इस प्रकार चैतन्य सामान्यरूप से त्रिकाल ध्रुव है। इससे आत्मा का ग्रहण नहीं होता। परंतु इसकी जो नवीन-पर्यायें उत्पन्न होतीं हैं, उनमें प्रवर्तित होता हुआ और पूर्व पर्यायों से निवर्तित होता हुआ आत्मा उन-उन निर्मल पर्यायों से जानने में आता है।

अहा ! अन्तर में चैतन्य लक्षण आत्मा है - ऐसा जानकर बहिर्मुख दृष्टि छोड़कर अन्तर में शुद्ध चैतन्य में अन्तर्दृष्टि करने पर जो ज्ञात होता है, वह भगवान आत्मा है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु है। चैतन्य गुण इसका शक्तिरूप लक्षण है और ज्ञान-दर्शन की पर्यायें आत्मा का व्यक्त लक्षण है। अन्तर्लक्ष्य करने पर यह जो ज्ञान गुणस्वरूप है, वह आत्मा है - ऐसा जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह सम्यग्ज्ञान है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में अन्तर ढलती हुई ज्ञान की दशा जो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को जानती है, अनुभव करती है, वह ज्ञान है। अहा ! अनन्त काल में जो एक क्षण भी नहीं किया - ऐसा यह भेदज्ञान करना इस जीव का प्रथम कर्त्तव्य है।

अहा ! यह समयसार तो अशरीरी बनने का अमोघ परमागम शास्त्र है क्योंकि यह शास्त्रों से भी लक्ष्य छुड़ाकर अन्तर्लक्ष्य कराता है। अहा ! इसके अभ्यास के बिना बाह्य व्रत, तप आदि सब व्यर्थ हैं।

दसवें भव में भगवान महावीर का जीव सिंह की पर्याय में था। एकबार जब वह हिरण को खा रहा था तभी दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज उसके पास आये। उन्हें देख सिंह स्तब्ध रह गया। तब मुनिराजों ने सिंह से कहा - अरे! तू यह क्या कर रहा है ? हमने तो भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा सुना कि तू दसवें भव में तीर्थंकर होनेवाला है। अहा ! यह सुनते ही सिंह विचारों में

डूब गया। सोचने लगा - "अरे ! मैं यह क्या कर रहा हूँ और ये मुनिराज क्या कह रहे हैं ?" अहा ! 'मैं कौन हूँ' इन विचारों के साथ ही उसकी आँखों से पश्चाताप के आंसू बहने लगे और पलक मारते ही उस सिंह ने शुभाशुभ विकल्पों को तोड़ चैतन्य परिणति को - चैतन्यस्वरूप में जोड़ लिया। फिर क्या था - चैतन्य ... चैतन्य ... चैतन्य ... इस प्रकार चैतन्यस्वरूप की अनुभूति में मग्न हो गया और तत्काल भवबीज के छेदक सम्यग्दर्शन को प्रगट कर लिया। //

अहा ! ऐसा तू भी चिन्मात्र आत्मा है। तू स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं है। पुण्य व पाप भी तू नहीं और पुण्य-पाप का कर्त्ता भी तू नहीं। तू तो चैतन्य की निर्मल परिणति में ज्ञात हो - ऐसा चिन्मात्र आत्मा है।

जहाँ एक चैतन्य गुण है, वहाँ दूसरी अनन्त शक्तियां एवं चारित्र, सुख, वीर्य, जीवत्व, कर्त्ता, कर्म, करण आदि एकरूप अविनाभाव से हैं और जहाँ चैतन्य की एकसमय की पर्याय है, वहाँ साथ ही इन अनन्त गुणों की पर्यायें एक अभिनाभावी हैं। अहा ! ... ऐसा भगवान आत्मा मात्र ज्ञायकस्वरूप चैतन्य प्रकाश से भरपूर चैतन्य सूर्य है जो आँखों से दिखाई देता है - यह तो जड़ सूर्य है। इसे तो स्वयं को यह खबर ही नहीं हैं कि मैं प्रकाश का बिम्ब हूँ। चैतन्य सूर्य तो अनुपम है। उसकी इस सूर्य से उपमा कैसी ?

जिनेन्द्रदेव ने, सर्वज्ञ परमेश्वर ने जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है वैसा आचार्य कुन्दकुन्द देव ने इस गाथा में दर्शाया है तथा आचार्य अमृतचन्द्र देव ने इस गाथा का दोहन करके उसके सार तत्त्व को विस्तार से समझाया है। अहो ! कोई अद्भुत गाथा व अलौकिक टीका है।

प्रश्न - यह तो ठीक, पर इतना सब कुछ याद कैसे रहे ? इधर सुनते हैं उधर भूल जाते हैं ? इसके लिये क्या करें ?

उत्तर - जहाँ की तीव्र रुचि होती है वह सब याद रहता है। रुचि अनुयायी वीर्य काम करता ही है, उस ओर का पुरुषार्थ (प्रयत्न) हुए बिना नहीं रहता।

अतः तीव्र रुचि जागृत करो। जितनी रुचि धंधा-व्यापार में है, उतनी रुचि यहाँ नहीं है। अपने-अपने अन्तर को टटोलकर देखो, सब खबर पड़ जायेगी।

अब बन्ध के स्वलक्षण के बारे में कहते हैं। बंध का स्वलक्षण तो आत्मद्रव्य से असाधारण-शुभाशुभ रागादि रूप है। ये रागादिक आत्मद्रव्य के साथ साधारणतया प्रतिभासित नहीं होते; क्योंकि वे सदा चैतन्य चमत्कार से भिन्न रूप से प्रतिभासित होते हैं।

पुण्य-पाप के भाव बन्ध के स्वलक्षण हैं, आत्मा के लक्षण नहीं हैं। ये रागादि पुण्य-पाप के भाव आत्मद्रव्य के साथ सदा रहते हों - ऐसा देखने में नहीं आता। जहाँ-जहाँ आत्मा होती है वहाँ-वहाँ रागादि होते ही हैं- ऐसी व्याप्ति नहीं है। बल्कि वे तो सदा चैतन्य चमत्कार से भिन्न ही भासित होते हैं। अहा ! बन्ध के लक्षणवाले पुण्य-पाप के भाव कभी-कभी संसारदशा में चैतन्यचमत्कारस्वरूप प्रभु आत्मा में देखने में आते हैं, पर आत्मा से पृथकरूप से ही दिखाई देते हैं। वे आत्मा ही हैं - ऐसा प्रतिभासित नहीं होता।

जैसा चैतन्य ... चैतन्य... चैतन्य... लक्षण आत्मा के समस्त गुण-पर्यायों में व्याप्त प्रतिभासित होता है वैसा पुण्य-पाप का भाव आत्मा के साथ सदा रहता दिखाई नहीं देता; क्योंकि जैसे पुण्य-पाप के बिना सिद्ध जीवों का अस्तित्व है, वैसे ही रागादि के बिना भी संभव है। भगवान आत्मा में रागादि नहीं हैं। राग से भिन्न पड़कर जब ज्ञानी जीव अन्तर में आत्मानुभव करते हैं तो उन्हें राग रहित आत्मानुभूति होती है। तथा सिद्धों में रागादिक नहीं हैं, फिर भी चैतन्य तो है न ? यदि रागादि या पुण्य-पाप के भाव आत्मा से अभिन्न हों, या आत्मा ही हों तो जहाँ-जहाँ चैतन्य हो, वहाँ-वहाँ उन्हें भी होना ही चाहिए। पर सिद्धों में ऐसा नहीं है। वहाँ ज्ञानदर्शन है और रागादि नहीं है। इससे सिद्ध है कि - बंध आत्मा से पूर्णतः भिन्न है। आत्मा की चीज नहीं है।

अहा ! यद्यपि जिस समय ज्ञान की दशा उत्पन्न होती है, उसी समय पुण्य-पाप के भाव उत्पन्न होते हैं, पर ये ज्ञेय-ज्ञायक की अति निकटता के कारण होते हैं। इससे ऐसा नहीं समझना कि ज्ञान व राग एक ही द्रव्यमय हैं। जिस

तरह अग्नि को देखने वाली आँख अग्नि रूप नहीं है, उसी तरह ज्ञानस्वरूप आत्मा व राग एक नहीं हैं। जिसप्रकार अग्नि को देखनेवाली आँख अग्निरूप नहीं होती, उसीप्रकार राग को जानने-देखनेवाला ज्ञान रागरूप नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान व राग एक द्रव्यमय नहीं हैं, भिन्न-भिन्न ही हैं। अनादि से दोनों एकरूप भासित होते हैं पर यह अज्ञानजनित भ्रम है। अहा ! यहाँ तो यह कह रहे हैं कि इस राग का अभाव कैसे हो ?

अहो ! कैसी गंभीर टीका है। आचार्यदेव ने अमृत घोल दिया है। भव्यजीवों के भाग्य से जंगल में अतीन्द्रिय आनंद में रमनेवाले मुनिवरों को विकल्प आ गया और यह शास्त्र बन गया। ध्यान रहे, शास्त्र की रचना शास्त्र के कारण हुई। आचार्य को विकल्प उनके अपने स्वतंत्र स्वचतुष्टय से हुआ है और शास्त्र अपने स्वतंत्र स्वचतुष्टय से बना। कोई किसी का कर्त्ता नहीं है। फिर भी भक्ति-भाव से व उपकार की भावना से कहा तो यही जाता है कि - संतों ने मोक्ष-मार्ग सरल कर दिया है।

पण्डित दीपचन्दजी शाह ने लिखा है कि - संतों ने मार्ग सुगम कर दिया; पर जगत उसे समझने की कोशिश नहीं करता। अहा ! ऐसे लोगों के लिए क्या कहें ?

देखो ! दर्पण में प्रतिबिम्बत चेहरा और दर्पण के सामने खड़े व्यक्ति का चेहरा भिन्न-भिन्न हैं। पुरुष का चेहरा दर्पण में नहीं चला गया। जिस तरह दर्पण में जो प्रतिबिम्ब दिख रहा है, वह दर्पण की स्वच्छता है, उसी तरह ज्ञानस्वरूपी आत्मा में जो पुण्य-पाप का भाव ज्ञात होता है, वह भी ज्ञान की स्वच्छता है। ज्ञान में पुण्य-पाप का भाव घुस नहीं गया। जाननेवाला ज्ञान जानने में आने वाला राग - दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं।

भगवान आत्मा चेतक है, ज्ञायकस्वरूप दर्पण है। इसमें जो पुण्य-पाप के भाव प्रतिबिम्बित होते हैं, वह प्रतिबिम्ब ज्ञायकस्वभावी आत्मा की स्वच्छता है। पुण्य-पाप के भाव है अवश्य, परंतु वे भाव आत्मा में कहीं घुस नहीं जाते। वे आत्मा से तो भिन्न ही हैं। दोनों एक काल में जो साथ-साथ हैं, वह ज्ञेय-

ज्ञायक-भाव की निकटता है, पर इससे ज्ञान व रागादि कहीं एक नहीं हो गये। रागादिभाव ज्ञायकरूप अथवा ज्ञानरूप नहीं हुए तथा ज्ञायक आत्मा भी उन रागादिभाव रूप नहीं हुआ। राग है, इस कारण ज्ञायक को राग का ज्ञान हुआ तो है, पर ज्ञायक को ज्ञान करने के लिए राग की कोई पराधीनता नहीं है। राग को जाननेवाला ज्ञान रागरूप हो जाता हो - ऐसा भी नहीं है। दोनों में मात्र स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

अब पुनः दृष्टान्त द्वारा इसी बात को और अधिक विस्तार से स्पष्ट करते हैं - दीपक घटादि को प्रकाशित करने के काल में सचमुच तो अपनी उस ज्ञान पर्याय को ही प्रकाशित करता है, जिस ज्ञान में ये घट-पटादि प्रकाशित होते हैं। यदि घट-पटादि को वस्तुतः दीपक प्रकाशित करे तो दीपक घट-पटादि रूप हो जाये, पर ऐसा होता नहीं है और घट-पटादि भी दीपक में जाते नहीं हैं। घट-पट को प्रकाशित करता दीपक क्या घट-पटादि रूप हो जाता है ? नहीं होता। तो क्या प्रकाशित घट-पट दीपक में प्रविष्ट हो जाते हैं ? नहीं होते। वास्तव में तो दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करता ही नहीं है, किन्तु उस समय अपना द्वैतरूप स्वपर प्रकाशपने को ही वह प्रगट करता है, घट-पटादि को नहीं।

जिस तरह दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करता है - यह तो व्यवहार का कथन है। वास्तविक रूप से तो दीपक अपने स्व-पर को प्रकाशित करने वाले एक प्रकाश स्वभाव को ही प्रकाशित करता है; क्योंकि दीपक घट-पट रूप व घट-पट दीपक रूप कभी होता ही नहीं है।

उसीतरह आत्मा द्वारा चेतन में आनेवाले रागादि आत्मा के चेतकपने को ही जाहिर करते हैं, रागादिपने को नहीं। भगवान आत्मा शुद्ध-एक-ज्ञायक-भावरूप है, चेतक स्वभावी है। वह रागादि पुण्य-पाप के भावों को जानने के काल में वास्तव में तो अपनी उस ज्ञान पर्याय को ही जानता है, जिसमें ये पुण्य-पाप के भाव ज्ञात हो रहे हैं। यदि आत्मा पुण्य-पाप आदि भावों को जाने तो आत्मा स्वयं पुण्य-पाप रूप हो जाये, परन्तु आत्मा कभी पुण्य-पाप रूप नहीं होता।

'रागादि को आत्मा जानता हैं' ऐसा कहना तो व्यवहार है। वास्तविक रूप से तो ज्ञान अपने द्वैतरूप स्व-पर को प्रकाशित करनेवाले एकमात्र अपने एक ज्ञानस्वभाव को – चेतकस्वभाव को ही प्रकाशित करता है; क्योंकि ज्ञान पुण्य-पाप आदि भावोंरूप तथा पुण्य-पाप आदि ज्ञान भावरूप कभी नहीं परिणमते। ज्ञान तो सहज ही स्व-परप्रकाशक स्वभावी है जो निरन्तर प्रकाशित होता है। ऐसा वस्तु का स्वरूप जानकर उसे अन्तर अनुभव में लेना समकित का कारण होता है।

अब कहते हैं कि आत्मा व बंध का लक्षणभेद होते हुए भी अज्ञानी को अनादिकाल से आत्मा व रागादि बंध में एकपने का भ्रम है। वह भ्रम एकमात्र प्रज्ञा द्वारा ही छेदा जा सकता है। जिस तरह अन्धकार को दूर करने का उपाय प्रकाश है, उसी तरह भ्रम या व्यामोह दूर करने का उपाय भी एकमात्र सम्यग्ज्ञान ही है।

गाथा २९४ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा का लक्षण चैतन्य है व राग का लक्षण बन्ध है। दोनों में लक्षण भेद है। इससे दोनों भिन्न-भिन्न हैं। दोनों की भिन्नता लक्ष्य में लेकर ज्ञानी को स्व की ओर मोड़कर स्वानुभव करना ही दोनों को भिन्न करने का उपाय है। इसे ही प्रज्ञाछैनी कहते हैं।

आत्मा तो स्पर्शादि गुणों से रहित अमूर्तिक है और बंध सूक्ष्म परमाणु का स्कन्ध है। छद्मस्थ अज्ञानी को दोनों की भिन्नता भासित नहीं होती। मात्र एक स्कन्ध दिखाई देता है। वह अनादि से पर्याय में उत्पन्न हुए रागादि में – पुण्य-पाप के भावों में ही रमता है। अन्तर में आनन्द का रसकन्द आत्मप्रभु स्वयं विराजता है, उसकी तो अज्ञानी को कुछ खबर नहीं है। उसे तो रागादिरूप भावबंध ज्ञात होता है। इस प्रकार उसे अनादि से अज्ञान है।

यहाँ कहते हैं कि – श्री गुरु के उपदेश के निमित्त से और अन्दर निर्णय रूप उपादान की योग्यता से जब यह जानपना है कि चैतन्य मात्र आत्मा का लक्षण है तथा रागादि पुण्य-पाप के जो भाव होते हैं, वे बन्ध के लक्षण हैं।

आत्मा जब स्व-लक्ष्य छोड़कर पर का लक्ष्य करता है, तब रागादि भाव उत्पन्न होते हैं। इसी से परलक्ष्यी भावों को बन्ध का कारण कहा है।

अरे ! जिन्हें भव का भय नहीं है, यहाँ से मर कर हम कहाँ जायेंगे ? – ऐसा विचार नहीं है। उनसे क्या कहें ? बापू! यह देह तो क्षण में छूट जायेगी, यहीं जलकर भस्म हो जायेगी; पर तेरा आत्मा का क्या होगा। यदि मिथ्यात्व की भूमिका में ऐसे ही पड़ा रहा तो चार गति चौरासी लाख योनियों में रखड़ना पड़ेगा।

अब यहाँ आचार्यदेव इन दुःखों से छूटने का उपाय बताते हैं – पर की ओर के लक्ष्य वाला रागादि भाव बन्ध है और आत्मा चैतन्य लक्षण है। दोनों को लक्षण भेद से भिन्न-भिन्न जानकर आत्मानुभव करना धर्म है। यह धर्म आनंदरूप और बंध दुःखरूप है। इसी भेदज्ञान को यहाँ प्रज्ञाछैनी कहा है।

प्रश्न – चैतन्यभाव को ही परम पारिणामिक भाव कहते हैं न ?

उत्तर – परमपारिणामिक भाव छहों द्रव्यों में होता है, इसलिए यहाँ चैतन्य लक्षण से लक्षित ज्ञायकभाव ही कहना उचित है। अहा ! अनंत गुणमण्डित एक ज्ञायकभाव-चिन्मात्रभाव ही आत्मा है। ऐसे आत्मा के स्वरूप में वर्तमान परिणति को ढालना ही धर्म है।

लोक में जो दया को धर्म कहा गया है, वह तो स्थूल व्यवहार की बातें हैं, जो कहने-सुनने में ही अच्छी लगती हैं। यहाँ तो यह कहते हैं कि – दया तो पर जीवों के लक्ष्य से हुआ शुभभाव है। यह तो बंध का लक्षण है, क्योंकि दया से तो पुण्य बन्ध ही होता है न ? इससे धर्म होना माने तो यह तो मिथ्यात्व है।

अरे भाई ! तू ने पर की दया पालने की तो अनंतकाल से चिन्ता की है, पर अन्दर में निर्मलानन्द का नाथ जो चैतन्य महाप्रभु विराजता है, एकबार उसपर भी तो दया कर! पर की दया पालने के चक्कर में तेरी स्वयं की हिंसा हो रही है। उसे भी तो देख। अहा ··· अनन्त शक्तियों का पिण्ड आत्मा चिन्मूर्ति प्रभुस्वरूप है। उसे ज्ञान पर्याय में ज्ञेय बनाकर उसकी प्रतीति करना स्व-दया है और यही सच्चा अहिंसा धर्म है।

जिस दया को धर्म का मूल कहा है, वह यही स्वदया है। इसे छोड़कर पर में रचना-पचना सचमुच 'स्व' की हिंसा है।

राग ही जब आत्मा से भिन्न है तो यह शरीर स्त्री-पुत्र, परिवार आदि अपने कैसे हो सकते हैं ? इन्हें अपना मानना तो निरा पागलपन है।

यहाँ कहते हैं कि - ज्ञान व राग की सूक्ष्म संधि को शोधकर, सावधान होकर अनन्त पुरुषार्थ द्वारा तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी को डालो। - ऐसा करने से राग आत्मा से भिन्न हो जायेगा और उपयोग शुद्ध चैतन्य स्वभाव में एकमेक हो जायेगा। जब अन्तर्मुख हो ज्ञानोपयोग आत्मा के चैतन्य स्वभाव में एकमेक होगा तो स्व स्वपने व राग परपने स्पष्ट दिखाई देने लगेगा।

अहा … ! भगवान आत्मा अन्दर में चिन्मूर्ति प्रभु आनन्द अमृत का सागर है इसमें जो राग की वृत्ति उठती है, वह जहर है। इस जहर व अमृत के मध्य तीक्ष्ण प्रज्ञा छैनी डालते ही दोनों भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसी का नाम भेद-ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, धर्म है। मोक्ष का मूल यही भेदज्ञान है। इसके सिवाय, व्रत-तप आदि के शेष सब विकल्प व्यर्थ हैं।

भेदज्ञान को एक अपेक्षा विकल्प भी कहते हैं, क्योंकि यह दो के बीच होता है न ? जब तक दो का लक्ष्य रहता है, तब तक भी सूक्ष्म विकल्प रहता है। परंतु जब एक ज्ञायक में अन्तर्मुख होता है तो भेदज्ञान का निर्विकल्प परिणमन हो जाता है। यहाँ इस गाथा में प्रज्ञाछैनी शब्द से स्वानुभव ज्ञान समझना, मात्र विकल्प नहीं समझना।

(स्रगधरा)

प्रज्ञाछैत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ १८१ ॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :-

श्लोकार्थ – [**इयं शिता प्रज्ञाछैत्री**] यह प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी [**निपुणै**] प्रवीण पुरुषों के द्वारा [**कथम् अपि**] किसी भी प्रकार से (–यत्नपूर्वक) [**सावधानैः**] सावधानतया (निष्प्रमादतया) [**पातिता**] पटकने पर, [**आत्मा-कर्म-उभयस्य सूक्ष्मे अन्तःसन्धिबन्धे**] आत्मा और कर्म दोनों के सूक्ष्म अन्तरंग सन्धि के बन्ध में [**रभसात्**] शीघ्र [**निपतति**] पड़ती है। किसप्रकार पड़ती है ? [**आत्मानम् अन्तःस्थिर-विशद्-लसद्-धाम्नि चैतन्यपूरे मग्नम्**] वह आत्मा को तो जिसका तेज अन्तरंग में स्थिर और निर्मलतया दैदीप्यमान है ऐसे चैतन्यप्रवाह में मग्न करती हुई [**च**] और [**बन्धम् अज्ञानभावे नियमितम्**] बन्ध को अज्ञानभाव में निश्चल (नियत) करती हुई – [**अभितः भिन्नभिन्नौ कुर्वती**] इसप्रकार आत्मा और बन्ध को सर्वतः भिन्न-भिन्न करती हुई पड़ती है।

भावार्थ – यहाँ आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करनेरूप कार्य है। उसका कर्त्ता आत्मा है, वहाँ करण के बिना कर्त्ता किसके द्वारा कार्य करेगा ? इसलिये करण भी आवश्यक है। निश्चयनय से कर्त्ता से करण भिन्न नहीं होता; इसलिये आत्मा से अभिन्न ऐसी यह बुद्धि ही इस कार्य में करण है। आत्मा के अनादि बन्ध ज्ञानावरणादि कर्म है, उसका कार्य भावबन्ध तो रागादिक है तथा नोकर्म शरीरादिक है। इसलिये बुद्धि के द्वारा आत्मा को शरीर से, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म से तथा रागादिक भावकर्म से भिन्न एक चैतन्यभावमात्र अनुभवी ज्ञान में ही लीन रखना सो यही (आत्मा और बंध को) दूर करना है। इसी से सर्व कर्मों का नाश होता है, और सिद्धपद की प्राप्ति होती है – ऐसा जानना चाहिए ॥ १८१ ॥

कलश १८१ एवं भावार्थ पर प्रवचन

यह भेदज्ञान का अलौकिक कलश है। आचार्य कहते हैं कि – यह आत्मा स्वभाव से चैतन्यप्रकाश का पूर है, आनन्दरस का दरिया है। परंतु इसकी वर्तमान पर्याय में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं वे जहर हैं। इस जहर से मुक्त होने के लिए यहाँ कहते हैं कि – राग का लक्ष्य छोड़कर वर्तमान ज्ञान

की दशा चिदानन्दघन आत्मा की ओर झुक जाये तो रागादि का भाव भिन्न पड़ जाता है। इसप्रकार स्व-सन्मुख अभिमुख होने वाली ज्ञान की पर्याय ही प्रज्ञाछैनी है।

यहाँ कहते हैं कि - यह प्रज्ञारूपी छैनी प्रवीण पुरुषों द्वारा यत्नपूर्वक सावधानी से पटकने पर आत्मा व कर्म की सूक्ष्म संधि में जा पड़ती है, बस यही स्वभाव सन्मुख होने का सम्यक् पुरुषार्थ है।

ज्ञान व आनन्द जिसका स्वतत्त्व है - ऐसा भगवान आत्मा-ज्ञानानन्द का रसकंद है। इसमें जो दया-दान आदि शुभपरिणाम व हिंसा-झूठ-चोरी, विषय-वासना आदि अशुभ परिणाम होते हैं, वे मूलभूत वस्तु नहीं है अर्थात् आत्मा व शुभाशुभ भाव - दोनों एक नहीं है। दोनों में लक्षण भेद से भेद है, सांध है। यहाँ कहते हैं कि - इन दोनों की अन्तरंग संधि में बहुत ही यत्नपूर्वक प्रज्ञाछैनी डालने पर तत्काल दोनों भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

जिसमें राग का ज्ञान है - ऐसी वर्तमान ज्ञान की दशा आत्मा से जुदी नहीं है, परंतु राग आत्मा से जुदा है। जिसतरह दर्पण में जो सिंह का स्वरूप (प्रतिबिम्ब) है, वह दर्पणस्वरूप ही है, सिंहस्वरूप नहीं। उसीतरह चैतन्यमय प्रभु आत्मा में जो राग का ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मस्वरूप ही है, रागरूप नहीं। इससे राग को जाननेवाली वह ज्ञान की दशा अन्तर में स्वाभिमुख होने पर उस राग से भिन्न पड़ जाती है और आत्मा का अनुभव करती है। बस, इसी का नाम सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग यहीं से प्रारंभ होता है।

अहा ! आत्मा अनादि-अनन्त नित्य शाश्वत परिपूर्ण स्वतः सिद्ध वस्तु है। इसका चैतन्य रूपी तेज अन्तर में नित्य, ध्रुव और स्थिर है तथा निर्मलपने दैदीप्यमान है। प्रज्ञाछैनी को ऐसे आत्मा के चैतन्यपुर में यानि त्रिकालीध्रुव आत्मा के चैतन्य ... चैतन्य ... चैतन्य प्रवाह की एवं बंध की सांध में पटकने से वह आत्मा को आत्मस्वभाव में और बंध को अज्ञान भाव में स्थित कर देती है।

अहा ! भगवती प्रज्ञा ज्ञानमय चेतन आत्मा और बंध को सब ओर से अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव -चारों ओर से भिन्न-भिन्न कर देती है। बंध के किसी भी अंश को ज्ञान में नहीं मिलने देती तथा ज्ञान के किसी भी अंश को बंध में नहीं मिलने देती। ऐसी भगवती प्रज्ञा-ज्ञान चेतना ही मोक्ष का उपाय है।

भाई ! तेरा मोक्ष का साधन तेरे स्वयं के पास ही है। उसे जाने बिना अज्ञान भाव से शुभराग को मोक्ष का साधन मानकर अनादिकाल से तूने राग का ही - बंध का ही सेवन किया है। परंतु भाई ! राग से पार अन्तर्मुख हुई ज्ञानचेतनारूप निर्मल निर्विकल्प अनुभूति ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। अहो ! इस निर्मल स्वानुभूति की क्या बात ? इसकी महिमा तो वचनातीत है, विकल्पातीत है। इसलिए राग से सावधान होकर उपयोग को अन्दर स्वरूप में ले जा !

भावार्थ यह है कि यहाँ आत्मा और बंध के बीच भेदज्ञान करनेरूप कार्य का कर्त्ता आत्मा है।

भगवान आत्मा अनादि-अनंत, शुद्ध, चैतन्यसत्तास्वरूप त्रिकाली भिन्न वस्तु है। और रागादि विकारी भाव आत्मा से भिन्न हैं। अनादि से तूने अज्ञान द्वारा इन्हें एक मान रखा है। इन्हें जुदा-जुदा करना ही धर्मरूप कार्य है। यहाँ कहते हैं कि इन्हें भिन्न-भिन्न करने के कार्य का कर्त्ता आत्मा है। अहा ! 'स्वतः सिद्ध वस्तुओं का कर्त्ता ईश्वर है' - यह मान्यता सर्वथा असत्य है।

लोग साधन की बात करते हैं। आचार्यदेव ने इसका भी यहाँ अति उत्तम स्पष्टीकरण कर दिया है। वस्तुतः देखा जाय तो कर्त्ता से भिन्न करण होता ही नहीं है। सत्यार्थ दृष्टि से देखें तो आत्मा से रागादिबन्ध को भिन्न करने के लिए सबसे श्रेष्ठ हेतु आत्मा के अभिन्न षट्कारक हैं। आत्मा का कर्त्ता भी आत्मा ही है और आत्मा का करण भी आत्मा ही है। करण कर्त्ता से पृथक होता ही नहीं है। कर्त्ता व करण दोनों आत्मा की पर्याय की बात है। एक ही पर्याय में छहों कारक होते हैं।

अत: आत्मा से अभिन्न भगवती प्रज्ञा ही इस कार्य में करण है। परसन्मुख की दिशावाले रागादि विकारी भावों को भिन्न करने का साधन ही है।

अब कहते हैं कि - मैं एक ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध चिदानन्द प्रभु आत्मा हूँ। त्रिकाली वस्तु मेरी 'स्व' है। इसतरह 'स्व' की पहचान करके, स्वानुभव करके उसी में लीन रहना ही आत्मा को राग से भिन्न करना है। इसी का नाम भगवतीप्रज्ञा है। इसी से सर्व कर्मों का नाश होता है, सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

प्रभु ! इस राग और आत्मा को इस प्रकार भिन्न कर ले तो तेरा जन्म सफल हो जायेगा। इसी से तुझे आत्मलाभ होगा। अन्दर में अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होगा और तुझे स्वयं से ही विश्वास हो जायेगा कि अब मेरा संसार अल्प रह गया है।

यदि प्रज्ञाछैनी से भेदज्ञान नहीं करेगा तो चार गति में भटकना पड़ेगा। वर्तमान में ये बेचारे सब सेठ लोग ढोर होंगे; क्योंकि नरक में जाने लायक तीव्र पाप के क्रूर परिणाम तो इनके हैं नहीं, परंतु धन के लोभ में इनके माया-कपट-कुटिलता के परिणाम हैं, इस कारण ये मर कर ढोर ही होंगे।

'अन्दर में विराजमान ज्ञानानन्दस्वरूप लक्ष्मी को पहचाने बिना यह बाहर की लक्ष्मी के पति सभी कपट के परिणामों के कारण तिर्यंच गति में ही जायेंगे। अत: जिन्हें ढोर नहीं होना हो, उन्हें अपने को पहचानने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

•

आत्मबन्धौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यमिति चेत् –

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बधो छेददव्वो सुद्धा अप्पा य घेत्तव्वो ॥ २९५॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम् ।
बन्धश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥ २९५॥

आत्मबंधौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ ततो रागादिलक्षणः समस्त एव बंधो निर्मोक्तव्यः, उपयोगलक्षणः शुद्ध आत्मैव गृहीतव्यः। एतदेव किलात्मबंधयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बंधत्यागेन शुद्धात्मोपादानम्।

'आत्मा और बंध का द्विधा करके क्या करना चाहिए।' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं :-

जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हों ।
बंध को है छेदना अर ग्रहण करना आतमा ।। २९५॥

गाथार्थ – [तथा] इसप्रकार [जीवःबन्धः च] जीव और बंध [नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां] अपने निश्चित स्वलक्षणों से [छिद्येते] छेदे जाते हैं। [बंधः] वहाँ, बन्ध को [छेत्तव्यः] छेदना चाहिए अर्थात् छोड़ना चाहिए [च] और [शुद्धः आत्मा] शुद्ध आत्मा को [गृहीतव्यः] ग्रहण करना चाहिए।

टीका – आत्मा और बंध को प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणों को विज्ञान से सर्वथा ही छेद अर्थात् भिन्न करना चाहिए; तत्पश्चात्, रागादिक जिसका लक्षण है ऐसे समस्त बंध को तो छोड़ना चाहिए तथा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसे शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिए। वास्तव में यही आत्मा और बंध के द्विधा करने का प्रयोजन है कि बंध के त्याग से (अर्थात् बंध का त्याग करके) शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।

भावार्थ – शिष्य ने प्रश्न किया था कि आत्मा और बंध को द्विधा करके क्या करना चाहिए ? उसका यह उत्तर दिया है कि बंध का तो त्याग करना और शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना।

गाथा २९५ की टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि – प्रज्ञाछैनी से भेदज्ञान क़रके रागादि को तो छोड़ना और उपयोग जिसका लक्षण है – ऐसे शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।

देखो, इसे छोड़ना व उसे ग्रहण करना– ये ग्रहण–त्याग के सूक्ष्म विकल्प तो विकल्परूप भेदज्ञान हैं। वास्तविक भेदज्ञान में तो उपयोग एकदम स्वरूपसन्मुख होकर मात्र ज्ञायक ... ज्ञायक... ज्ञायक की ओर ही समर्पित हो जाता है। ऐसा करने से जब निर्विकल्प शुद्धात्मानुभूति होती है तब रागादिरूप पुण्य–पाप के बंध भावों पर से लक्ष्य स्वतः छूट जाता है। वही वास्तविक भेदज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है।

आगे कहते हैं – यही वास्तविक आत्मा और बंध को द्विधा करने का प्रयोजन है कि बंध का त्याग कर शुद्धात्मा का ग्रहण हो। इस प्रकार से सम्यग्दर्शन, ज्ञान व अन्तररमणतारूप धर्म प्रगट होता है। इसके सिवाय बाहर में देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा से एवं नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा से जो समकित होने की बातें की जाती हैं, वे तो निमित्त व व्यवहार की बातें हैं। वस्तुतः तो शुद्धात्मानुभूति से ही समकित होता है। यही एक सत्यार्थ है, शेष सब असत्यार्थ हैं।

भावार्थ में शिष्य ने पूछा था कि – आत्मा व बंध को भिन्न–भिन्न करके क्या करना ? उसके उत्तर में कहा है कि बंध का तो त्याग करना एवं शुद्धात्मा को ग्रहण करना।

आत्मा चैतन्यलक्षण से जानने लायक है और बन्ध को रागलक्षण से जाना जाता है। यह दोनों में लक्षण भेद है। इसे जानकर अन्तर्मुख उपयोग द्वारा चैतन्यमय आत्मा को ग्रहण करना और राग को – बंध को छोड़ देना। •

समयसार गाथा २९६

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो ॥ २९६॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा ।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥ २९६॥

ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः, शुद्ध-स्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतो, विभजत इव, प्रज्ञैककरणत्वात्। अतो यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः।

आत्मा और बंधको प्रज्ञाके द्वारा भिन्न तो किया; परन्तु आत्माको किसके द्वारा ग्रहण किया जाये ? – इस प्रश्नकी तथा उसके उत्तरकी गाथा कहते हैं–

जिस भाँति प्रज्ञा छैनी से पर से विभक्त किया इसे ।
उस भाँति प्रज्ञा छैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे ॥ २९६ ॥

गाथार्थ – (शिष्य पूछता है कि –) [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [कथं] कैसे [गृह्यते] ग्रहण किया जाय? (आचार्यदेव उत्तर देते हैंकि –) [प्रज्ञया तु] प्रज्ञाके द्वारा [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [गृह्यते] ग्रहण किया जाता है। [यथा] जैसे [प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [विभक्तः] भिन्न किया, [तथा] उसीप्रकार [प्रज्ञया एव] प्रज्ञाके द्वारा ही [गृहीतव्यः] ग्रहण करना चाहिए।

टीका – यह शुद्ध आत्मा किसके द्वारा करना चाहिए? प्रज्ञा के द्वारा ही यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि शुद्ध आत्माको, स्वयं निजको ग्रहण करनेमें प्रज्ञा ही एक कारण है – जैसे भिन्न करनेमें प्रज्ञा ही एक करण था। इसलिये जैसे प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया था उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ – भिन्न करने और ग्रहण करनेमें करण अलग-अलग नहीं हैं; इसलिये प्रज्ञाके द्वारा ही आत्माको भिन्न किया और प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए।

गाथा २९६ एवं भावार्थ पर प्रवचन

यह एकदम सारभूत गाथा है। गाथा में प्रश्न व उत्तर दोनों हैं। जिसतरह अन्तर्मुखी उपयोग की दशा रूप प्रज्ञा छैनी द्वारा राग को आत्मा से भेदज्ञान किया था, उसीतरह भगवती प्रज्ञा से ही शुद्ध आत्मा का अनुभव करो।

शिष्य का प्रश्न है कि – एकबार राग से भेदज्ञान करने के पश्चात् भी वारम्वार शुद्धात्मा का अनुभव कैसे किया जाय ? क्योंकि एक बार अनुभव हो भी जाये, तो भी वाहर में तो आ ही जाता है न ?

आचार्य इसी गाथा में इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि – प्रयत्न करके प्रज्ञा द्वारा ही पुनः-पुनः शुद्धात्मा को ग्रहण करना। आत्मा के अनुभव द्वारा ही आत्मा का ग्रहण होता है। अतः जिस प्रज्ञा द्वारा भेदज्ञान करके एक बार आत्मानुभूति की, उसी प्रज्ञा के बल से वारम्वार अन्तर्मुखी उपयोग करके बारम्बार आत्मा को ग्रहण करो। आत्मा को ग्रहण करने का अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

आगे कहते हैं कि – ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को ज्ञान लक्षण से लक्षित करके तथा दया-दान-व्रतादि व्यवहार के राग को बन्ध के लक्षणरूप जानकर जिसप्रकार वंध को लक्ष्य में से सर्वथा छोड़ दिया और भगवान आत्मा को अन्तर एकाकारज्ञान से अर्थात् प्रज्ञा से ग्रहण किया – अनुभव किया, उसीप्रकार भगवान आत्मा को दृष्टि में लेकर मोक्ष के लिए स्वयं से स्वयं को विशेषपने प्रज्ञा द्वारा ही अनुभव करो। अहा! प्रज्ञा ही एक मोक्ष का कारण है, साधन है। आत्मा का अनुभव ही एक राग से भिन्न पड़ने का और आत्मा को ग्रहण करने का साधन है, दया-दान-व्रतादि व्यवहार रत्नत्रय आत्मानुभव का साधन नहीं है।

साधन तो सदैव एक ही होता है, पर उसका निरूपण दो प्रकार से किया जाता है। शास्त्र में जहाँ व्यवहार को साधन कहा हो, उसे निमित्त व सहचर का ज्ञान कराने के लिए उपचार से कहा है। – ऐसा यथार्थ जानना।

जिसतरह आत्मा और बन्ध को भिन्न करने में प्रज्ञा को ही एक करण कहा है, उसीतरह आत्मा को ग्रहण करने में भी प्रज्ञा ही एक करण है। इसलिए

जिस तरह प्रज्ञा से भिन्न किया, उसी तरह प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा को ग्रहण करना, यह सम्यक् एकान्त का कथन है।

कथंचित् प्रज्ञा द्वारा व कथंचित् राग द्वारा ग्रहण करो – ऐसा नहीं कहा। अहा! इतनी स्पष्ट बात है तथापि लोगों की समझ में न जाने क्यों नहीं आता ? आचार्य पुकार-पुकार कर कहते हैं कि – प्रज्ञा द्वारा ही ग्रहण करना; क्योंकि प्रज्ञा ही एक करण है।

बापू! राग चाहे शुभ हो या अशुभ हो – यह स्वयं दुःखरूप है व दुःख के कारण रूप है। रागबन्ध दुःख का – संसार का ही लक्षण है। ऐसा जानकर उसका लक्ष्य सर्वथा छोड़कर उपयोग को अन्तर में झुकाकर सुखधाम प्रभु आत्मा में जोड़ दो। अहा! उपयोग की अंतर एकाकार दशा-प्रज्ञा ही शुद्धात्मा को ग्रहण करने का उपाय है। भाई! जनम-मरण के दुःख से छूटनें की यही एकमात्र रीति है। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसलिए संक्षेप में कहते हैं कि – राग से खस और आत्मा में बस। इतना किया तो बस, यही है जिनवाणी का रस-कस। तात्पर्य यह है कि – भिन्न करने के व ग्रहण करने के साधन (करण) भिन्न-भिन्न नहीं हैं। मोक्षरूप साध्य का साधन आत्मा से अभिन्न एक प्रज्ञा ही है। आत्मा का साधन आत्मा में ही है। इसका साधन कोई अन्य वस्तु, निमित्त या व्यवहार नहीं है। इसलिए प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा को भिन्न किया है और प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना है। दोनों के बीच 'ही' शब्द है, जो सम्यक् अनेकान्त का द्योतक है। •

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत् –

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥ २९७॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९७॥

यो हि नियतस्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता, सोऽयमहं; ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायांतोऽत्यंतं मत्तो भिन्नाः। ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतय एव; चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये। अथवा – न चेतये; न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये; किन्तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि।

अव प्रश्न होता है कि – इस आत्माको प्रज्ञाके द्वारा कैसे ग्रहण करना चाहिए? इसका उत्तर कहते हैं :-

इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो चेतना ।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९७॥

गाथार्थ – [प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] (आत्माको) इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि – [यः चेतयिता] जो चेतनवाला (चेतनस्वरूप आत्मा) है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इतिज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिये।

टीका – नियत स्वलक्षणका अवलम्वन करनेवाली प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक (चेतनेवाला, चैतन्यस्वरूप आत्मा) है सो यह मैं

हूँ; और अन्य स्वलक्षणोंसे लक्ष्य (अर्थात् चैतन्यलक्षणके अतिरिक्त अन्य लक्षणोंसे जानने योग्य) जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी, चेतकत्वरूपी व्यापकके व्याप्य नहीं होते इसलिये, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिये मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिये ही, अपनेमेंसे ही, अपनेमें ही, अपनेको ही ग्रहण करता हूँ। आत्माकी, चेतना ही एक क्रिया है इसलिये, 'मैं ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'मैं चेतता ही हूँ'; चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुए के द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुएके लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुयेसे ही चेतता हूँ, चेततेमें ही चेतता हूँ, चेततेको ही चेतता हूँ। अथवा – न तो चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुयेके द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुएके लिए चेतता हूँ, न चेतते हुएसे चेतता हूँ, न चेतते हुएमें चेतताहूँ, न चेतते हुएको चेतता हूँ; किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र (चैतन्यमात्र) भाव हूँ।

भावार्थ – प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया वह चेतक मैं हूँ और शेष भाव मुझसे पर हैं; इसलिये (अभिन्न छह कारकोंसे) मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिये ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझे ही ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'चेतता हूँ', क्योंकि चेतना ही आत्माकी एक क्रिया है। इसलिये मैं चेतता ही हूँ; चेतनेवाला ही, चेतनेवालेके द्वारा ही, चेतनेवालेके लिये ही, चेतनेवालेसे ही, चेतनेवालेमें ही, चेतनेवालेको ही चेतता हूँ। अथवा द्रव्यदृष्टिसे तो – मुझमें छह कारकोंके भेद भी नहीं हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ। – इसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करना चाहिये अर्थात् अपनेको चेतयिताके रूप में अनुभव करना चाहिए।

गाथा २९७ पर प्रवचन

यहाँ प्रश्न हैं कि – आत्मा को प्रज्ञा द्वारा किस विधि से ग्रहण करें? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि – भगवान सर्वज्ञदेव ने जो प्रत्येक आत्मा को देखा है, उन सब जीवों का द्रव्य व गुण तो शुद्ध ही है; किन्तु उनकी पर्यायों में जो मिथ्यात्व व राग-द्वेष आदि विकार है, उनके 'षट्कारक-कर्त्ता-कर्म-करणादि पर्याय के पर्याय में हैं। शद्ध आत्मद्रव्य उसमें कुछ नहीं करता तथा जो निर्मल

निर्विकार धर्म की परिणति आत्मा में होती है, वह निर्मल परिणति भी शुभराग रूप व्यवहारके कारण नहीं होती। शुद्ध द्रव्य-गुण के कारण भी नहीं होती। अहा ! ऐसी 'ओं' ध्वनि में आई व सूक्ष्म बात यहाँ कही जा रही है।

ज्ञानी नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा द्वारा आत्मा को राग से भिन्न अनुभव करते हैं। अहा हा ....! जो ज्ञान की दशा राग से भिन्न पड़कर अन्दर भगवान ज्ञानस्वभाव में एकाकार होकर अपने में भगवान आत्मा को राग से भिन्न जानती है, अनुभव करती है, उसे ही चेतक या चेतनार नाम से कहा जाता है। वह चेतक या चेतनार और कोई नहीं मैं स्वयं ही हूँ - ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

अब कहते हैं कि - निश्चय आत्मा का लक्षण भिन्न है और व्यवहार भावों का लक्षण भिन्न है। ज्ञान लक्षण से ज्ञात हो - ऐसा चेतनारा मैं स्वयं हूँ और अन्य लक्षणों से पहचाने जायें - ऐसे बाकी के सब भाव व्यवहार रूप भाव हैं। आत्मा गुणी और ज्ञानदर्शन आत्मा के गुण-ऐसा गुण-गुणी भेद का विकल्प व्यवहार भाव है।

अब कहते हैं कि - ये सभी व्यवहार भाव ज्ञायक की अवस्था होनेलायक ही नहीं हैं। भगवान आत्मा चेतनारा चेतक व्यापक होकर राग रूप हो, ऐसी वस्तु ही नहीं हैं। अहा हा ....! जो विकार रूप होता है, वह मैं नहीं हूँ। मैं कभी विकार या विस्तार रूप होता ही नहीं हूँ। आत्मा अन्दर में अकेला चैतन्य का दल निर्मल निर्विकार आनन्दस्वरूप है तथा ये विकारी भाव इससे विपरीत विभावभाव हैं। यहाँ कहते हैं कि शुद्ध आत्मवस्तु स्वयं व्यापक होकर विभाव भाव की अवस्थाओं को धारण करे - ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं हैं। जब ज्ञान में ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि - यह चेतनार मैं स्वयं ही हूँ अन्य व्यवहार रूप भाव मेरे चेतकपने रूप व्यापक के व्याप्य नहीं हैं, इसलिए ये मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। जब यह आत्मा ऐसा अन्तर्मुखी पुरुषार्थ करता है, तब समकित होता है।

अहा! भगवान का नाम स्मरण करना, भगवान का दर्शन पूजन स्तुति आदि करना – ये सब व्यवहार के भाव हैं। ये विकल्प-चेतक आत्मा की निर्मल दशा नहीं हैं। यद्यपि धर्मी के भी व्यवहार (राग) होता अवश्य है, पर वह मात्र जानने पुरता प्रयोजनवान है। चेतक उस होते हुए व्यवहार को अपने स्वभाव की सामर्थ्य से ऐसा जानता है कि भूमिकानुसार व्यवहार भी होता है पर व्यवहार है, इस कारण धर्मी व्यवहार को जानता हो – ऐसा भी नहीं, वल्कि मैं चेतक हूँ – ऐसा जानता हुआ धर्मी तो उस काल में स्वयं से स्वयं के कारण स्वपर को प्रकाशित करनेवाली ज्ञान की दशा से परिणमित होता है, उसमें व्यवहार जानने में आ जाता है। बस, इसे ही जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है – ऐसा कहा जाता है।

अब कहते हैं कि – इसलिए मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिए ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ। आत्मा की चेतना ही एक क्रिया होने से ग्रहण करता हूँ अर्थात् मैं चेतता ही हूँ।

यहाँ 'मैं ही' – यह कर्त्ता, 'मेरे द्वारा ही' – यह करण, 'मेरे लिए' यह सम्प्रदान, 'मुझमें से ही' – यह अपादान, 'मुझमें ही' यह अधिकरण और 'मुझको ही' यह कर्म – इस प्रकार कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इन छह कारणों से आत्मा अपने को ही ग्रहण करता है।

आत्मा की चेतना ही अर्थात् धर्म की निर्मल वीतरागी दशा ही एक क्रिया होने से 'मैं ग्रहण करता हूँ' अर्थात् मैं चेतता ही हूँ – ऐसा अर्थ है।

यहाँ कहते हैं कि – "मैं ही कर्त्ता हूँ, मेरी चेतने रूप वीतरागी दशा का कर्त्ता कोई बाह्य निमित्त या व्यवहार नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प उठता है – वह मेरी निर्मल पर्याय का कर्त्ता नहीं है। प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप मैं ही मेरी निर्मल पर्याय का कर्त्ता हूँ। रागादि तो मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं।" इस प्रकार धर्मी पुरुष वीतरागी निर्मल पर्याय को अपना व्याप्य कर्म और स्वयं को उसका व्यापक कर्त्ता मानता है। निर्मल रत्नत्रय व्याप्य और व्यवहार रत्नत्रय व्यापक ऐसा नहीं है, क्योंकि व्यवहार करते-करते निश्चय नहीं होता।

धर्मी की निर्मल वीतरागी पर्याय का साधन भी वीतराग स्वभावी आत्मा स्वयं ही है। 'मेरे द्वारा ही' – ऐसा कहा है न ? इसका अर्थ है कि चिद्रूप आत्मा ही साधन है, करण है, व्रतादि व्यवहार निर्मल पर्याय का साधन नहीं है। अहा····! चेतने वाला मेरा वीतराग भाव (गुण) से ही वीतरागी पर्याय हुई है। राग या निमित्त द्वारा वीतराग भाव नहीं होता। कर्त्ता का करण कर्त्ता से अभिन्न ही होता है। इस कारण चेतने वाला में ही अपनी चेतनारूप निर्मल पर्याय का कर्त्ता और करण हूँ। देखो यहाँ 'ही' कहकर सम्यक् एकान्त से कथन किया है।

इसी प्रकार मुझे जो वीतराग भाव प्रगट हुआ है, उसका सम्प्रदान भी मैं ही हूँ, क्योंकि यह निर्मल पर्याय मेरे लिए ही है न ? इसका देनेवाला ही मैं और लेनेवाला ही मैं ही हूँ। इसकारण मैं ही मेरा सम्प्रदान हूँ।

अपादान कारक भी अभिन्न ही है, क्योंकि यह वीतरागी पर्याय – मुझ में से ही आई है। देव-शास्त्र-गुरु में से या उनके प्रति हुए राग में से निर्मल पर्याय नहीं आती। वास्तव में तो उसी पर्याय में से वह पर्याय आई है। वीतराग सर्वज्ञ देव ऐसा कहते हैं कि – हम भी तेरे लिए पर द्रव्य ही हैं। हमारी ओर देखेगा तो मुझे राग ही होगा और उससे तुझे पुण्य बन्ध होगा, पर धर्म नहीं होगा। यदि धर्म करना हो तो तू भी हमारी तरह स्वसन्मुख हो जा। ऐसा करने से तेरे में से ही तेरी निर्मल वीतरागी दशा प्रगट होगी।

मेरी वीतरागी पर्याय का मैं ही अधिकरण या आधार हूँ, राग या व्यवहार इसका आधार नहीं है। तथा यह निर्मल पर्याय को ही मैंने ग्रहण किया है, इस कारण यह मेरा ही कार्य है, मैंने ही ग्रहण किया – ऐसा कहा है न ? इसका अर्थ है कि मैं वीतरागी पर्याय के सिवाय राग व व्यवहार को ग्रहण नहीं करता।

यहाँ कहते हैं कि – आत्मा की एक 'चेतना' मात्र क्रिया होने से – 'मैं ग्रहण करता हूँ, चेतता हूँ, जानता-देखता हूँ, – आत्मा की यही एकमात्र क्रिया है। कथंचित् चेतना भी और कथंचित् राग की क्रिया भी आत्मा की है – ऐसा नहीं कहा, बल्कि चेतना ही आत्मा की एकमात्र क्रिया है, राग आत्मा की क्रिया नहीं है – ऐसा अस्ति-नस्ति रूप अनेकान्त घटित होता है।

देखो ! देह की क्रिया तो आत्मा की है ही नहीं, दया-दान-व्रत आदि की वृत्ति का कर्त्ता भी आत्मा नहीं है। ये सब व्यवहार के भाव भगवान आत्मा से भिन्न है।

आगे अभिन्न षट् कारणों का विशेष खुलासा करते हुए कहते हैं कि - पोताने अर्थात् स्वयं को चेतता हुआ ही चेतता हूँ। चेतन के द्वारा ही चेतता हूँ अर्थात् चेतने रूप कार्य का साधन मैं स्वयं ही हूँ, कोई अन्य साधन नहीं है। चेतने के लिए ही चेतता हूँ अर्थात् पर ज्ञेयों के नहीं चेतता हूँ। चेतने के स्वभाव से ही चेतता हूँ। राग या व्यवहार में से नहीं चेतता हूँ। चेतने के आधार भी चेतन ही हैं। तथा मैं अपने चेतने रूप कार्य को ही चेतता हूँ।

इसप्रकार व्यवहार उस काल में जानने पुरता प्रयोजनवान है - यह वात भी नहीं रही, इसे भी निकाल कर पृथक् कर दिया। व्यवहार को जानने की वात को तो निकाल ही दिया, पर कहाँ तो सद्भूत व्यवहार के छह भेद जो समझाने के लिए किए थे, उनका लक्ष्य भी छोड़ने के लिए कह रहे हैं। रागादि तो असद्भूत व्यवहार है।

आगे कहते हैं कि वस्तुत: तो मेरे में कोई भेद ही नहीं है। मैं तो जो हूँ वह सर्वविशुद्ध चिन्मात्र भाव हूँ। 'सर्व विशुद्ध' इतना भेद जो पड़ा वह भी अशुद्धता है; पर समझायें कैसे ? समझाने में भेद करना ही पड़ता है न ? भेद किये विना अभेद को समझाया नहीं जा सकता, परन्तु अनुभव के समय भेद नहीं रहते। सम्यग्दर्शन का विषय ऐसा अभेद एक चिन्मात्र भाव है। सम्यग्दर्शन का ध्येय एक अभेद आत्मा है। भेद समकित का ध्येय नहीं है। अहाहा ···! मैं तो एक चिन्मात्र जानने-देखनेवाला मात्र हूँ। ऐसी निर्विकल्प दृष्टि व अनुभव का नाम सम्यग्दर्शन है और यहीं से धर्म की शुरूआत होती है।

अभेद की दृष्टि-द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। अहा ···! इसमें व्यवहार को चेतना तो दूर रहा, भेद को भी नहीं चेतना है, जानना है। यह स्वानुभव दशा की वात है, पर संसारी जीवों को ऐसी गंभीर वात सुनने की फुर्सत कहाँ है? वे तो स्त्री, पुत्र, परिवार को संभारने के जंजाल में फंसे हैं। अरे ! उन्होंने

सचमुच अपने आत्मा को जगजाल में फांस रखा है। अधिकांश लोग ऐसे हैं जो दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि बाह्य क्रियाओं में रचे-पचे रहकर इसी में धर्म होना मानते हैं, पर भाई ! धर्म का स्वरूप ऐसा नहीं है।)

गाथा २९७ के भावार्थ पर प्रवचन

'प्रज्ञा अर्थात् प्रकृष्टज्ञान' जिस वर्तमान ज्ञान की दशा में द्रव्य का चैतन्य महाप्रभु नित्यानन्द स्वरूपी आत्माका अनुभव होता है उसे प्रज्ञा कहते हैं। स्वानुभवस्वरूप स्वसंवेदनज्ञान की दशा प्रज्ञा है। वह प्रज्ञा राग को नष्ट करनेवाली है। इसलिए उसे प्रज्ञा छैनी कहते हैं। अहा···! ऐसी प्रज्ञा द्वारा आत्मास्वरूप का अनुभव करता हुआ आत्मा राग से भिन्न हो जाता है। अर्थात् ऐसा अनुभव करता है कि – मैं तो चेतना लक्षणवाला आत्मा हूँ और मेरे से भिन्न यह राग बंधस्वरूप है, बंध का लक्षण है। इसप्रकार दोनों को भिन्न-भिन्न जानता है। अहा ! जिसकी सत्ता में यह चेतना (जानना-देखना) है वह चेतक ही मैं हूँ तथा शेष सब भाव पर हैं। इसप्रकार स्वाभिमुख ज्ञान की दशा में आत्मा भिन्न अनुभव में आता है।

राग की दिशा परतरफ है और प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान की दिशा स्वतरफ है। दोनों की दिशायें भिन्न-भिन्न हैं। प्रज्ञा रूपी ज्ञान की दशा से दोनों को भिन्न जानकर यह चेतक मैं हूँ, – ऐसा अनुभव में आता है। पर ध्यान रहे, सम्पूर्ण चेतनद्रव्य कहीं ज्ञान की पर्याय में नहीं आ जाता। द्रव्य तो द्रव्य रूप ही रहता है; पर त्रिकाली द्रव्य की जो अनन्त शक्ति है, वह सम्पूर्ण आत्मशक्ति वर्तमान ज्ञान की पर्याय में जान ली जाती है। एकसमय की ज्ञान की दशा में – प्रज्ञा में ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि – जो सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा की सामर्थ्य को पूर्ण जान लेता है।

पहले जो ज्ञान की पर्याय पर की ओर झुकती थी, उसमें रागादि स्वपने भासते थे। अब वह पर्याय व्यय होकर त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के आश्रय से जो नवीन पर्याय उत्पन्न हुई, उसमें – 'यह जो चेतक है, वही मैं हूँ' – ऐसा ज्ञात

हुआ। व्यवहार तो मैं हूँ ही नहीं, किन्तु चेतक का जिसमें अनुभव हुआ, वह ज्ञान की दशा-प्रज्ञा भी नहीं हूँ, किन्तु सभी भाव पर हैं – ऐसा पर्याय में भासित होने लगा। वस इसी का नाम भेदज्ञान व धर्म है, भेद तो समझने के लिए किए गये हैं, स्वानुभव में तो एक अभेद द्रव्य का ही आश्रय होता है, भेद का लक्ष्य नहीं होता।

इसलिए अभिन्न छह कारकों से मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिए ही, मुझमें से ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ।

मैं ही ग्रहण करता हूँ – यह कर्त्ता, मैं स्वयं को ही ग्रहण करता हूँ – यह कर्म, मेरे द्वारा ही मैं स्वयं को ग्रहण करता हूँ – यह कारण या साधन, मेरे लिये ही ग्रहण करता हूँ – यह सम्प्रदान, मुझमें से ही ग्रहण करता हूँ – यह अपादान, मुझमें से ही ग्रहण करता हूँ – यह अधिकरण या आधार है। यह अभिन्न षट्कारकों का परिणमन पर्याय का पर्याय में है, ध्रुव में नहीं; क्योंकि ध्रुव तो कूटस्थ अपरिणामी है।

द्रव्य व गुण तो त्रिकाल ध्रुव हैं। इसलिए कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण – यह षट्कारकरूप परिणमन ध्रुव में नहीं, पर्याय के षट्कारक पर्याय में हैं। पर्याय का पर्याय कर्त्ता, पर्याय का पर्याय कर्म, पर्याय का पर्याय साधन – इसप्रकार पर्याय का षट्कारक रूप परिणमन अभिन्न पर्याय में है।

प्रश्न – वस्तु का परिणमन स्वयं से भी होता है व निमित्त से भी होता है – ऐसे अनेकान्त की सिद्धि कीजिए न ?

उत्तर – भाई ! वस्तु का परिणमन स्वयं से भी हो और निमित्त से भी हो – ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है। अनेकान्त का स्वरूप तो ऐसा है कि – 'स्वयं' से ही होता है, पर से या निमित्तादि से नहीं होता। अहा! वीतराग सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि – आत्मा अनन्त शक्तियों का पिण्ड सच्चिदानन्द प्रभु चैतन्यस्वभाव का सागर पूर्ण पदार्थ हैं; फिर भी यदि कोई अपूर्ण व रागवाला मानता है तो वह वस्तु के स्वरूप को यथार्थ न जानने से

स्वयं को ही धोखा देता है। (ऐसा करने से एक दिन इस जीव की ऐसी दशा हो जायेगी कि – फिर न सुन सकेगा और न बोल ही सकेगा अर्थात् निगोद में चला जायेगा।)

देखो ! वस्तु का मूल स्वरूप सामान्य ..... सामान्य .... सामन्य चिन्मात्र एकरूप ध्रुव है। वस्तु को इस दृष्टि से देखें तो छह कारकों का भेद वस्तु में है ही नहीं। आत्मा तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव है। टीका में भी ऐसा ही कहा था "मैं सर्वविशुद्ध चिन्मात्र भाव हूँ।" सो वह भी यही अभेद की बात है। अन्तर्मुख ज्ञान की पर्याय ऐसा अनुभव करती है – कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ; खण्ड-खण्ड या भेद मेरा स्वरूप नहीं है। क्योंकि यहाँ विकल्प की चर्चा ही नहीं है, यहाँ तो स्वानुभव प्रत्यक्ष की बात है। अतः यहाँ कहते हैं कि – इसप्रकार प्रज्ञा द्वारा अखण्ड-अभेद आत्मा का अनुभव करेंगे। अर्थात् स्वयं को चेतनारूप से अनुभव करो !

(शार्दूलविक्रीडित)

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :-

श्लोकार्थ – **[यत् भेत्तुं हि शक्यते सर्वम् अपि स्वलक्षणबलात् भित्त्वा]** जो कुछ भी भेदा जा सकता है उस सबको स्वलक्षणके बलसे भेदकर, **[चिन्मुद्रा-अंकित-निर्विभागमहिमा शुद्धः चिद् एव अहम् अस्मि]** जिसकी चिन्मुद्रासे अंकित निर्विभाग महिमा है (अर्थात् चैतन्यकी मुद्रासे अंकित विभाग रहित जिसकी महिमा है) ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ। **[यदि कारकाणि वा यदि धर्माः वा यदि गुणाः भिद्यन्ते, भिद्यन्ताम्]** यदि कारकके अथवा धर्मोंके या गुणोंके भेद हों, तो भले हों; **[विभौविशुद्धे चिति भावे काचन भिदा न अस्ति]** किन्तु शुद्ध (समस्त विभावोंसे रहित)

*विभु, ऐसा चैतन्यभावमें तो कोई भेद नहीं है। (इसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण किया जाता है।)

भावार्थ – जिनका स्वलक्षण चैतन्य नहीं है ऐसे परभाव तो मुझसे भिन्न हैं, मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्य ही हूँ। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकभेद, सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व आदि धर्मभेद और ज्ञान, दर्शन आदि गुणभेद यदि कथंचित् हों तो भले हों, परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र भावमें तो कोई भेद नहीं है। – इसप्रकार शुद्धनयसे अभेदरूप आत्माको ग्रहण करना चाहिए ॥ १८२॥

कलश १८२ पर प्रवचन

देखो ! यहाँ विकार की बात नहीं है, क्योंकि यह तो आत्मा का भेद ही नहीं है। परन्तु चैतन्यस्वरूपी, एक, ज्ञायकभाव प्रभु आत्मा में गुणभेद आदि जितने भी भेद पड़ते हैं, उन सबको स्वलक्षण के बल से भेदकर जिसकी चिन्मुद्रा से अंकित निर्विभाग महिमा है – मैं तो ऐसा शुद्ध चैतन्यतत्त्व हूँ।

चिन्मुद्रा अर्थात् ज्ञान व दर्शन आत्मा की मोहर है, छाप है, तथा वह आत्मा एक अभेद चैतन्यरसरूप है। अहा हा ....! धर्मी जीव स्वयं को ऐसा अनुभव करते हैं कि – मैं एक चैतन्य ही हूँ, खण्ड-खण्ड भेदरूप में नहीं हूँ।

अहाहा ....! सम्यग्दर्शन के ध्येयरूप चिन्मात्र शुद्ध आत्मा में कर्त्ता-कर्म-आदि कोई भेद नहीं है। इसप्रकार नित्य, अनित्य, एक-अनेक आदि अपेक्षित धर्मों के भेद भी शुद्ध वस्तु में नहीं। इसीप्रकार ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुणों का भेद भी शुद्ध अचल चैतन्य भाव में नहीं है। अहाहा ....! ज्ञायकभाव आत्मा में एक, नित्य, त्रिकाली, शाश्वत, अखण्ड, एकरूप ध्रुव सामान्य ये कोई भेद नहीं हैं।

यद्यपि सद्भूत व्यवहारनय से षट्कारक के, नित्य-अनित्य आदि अपेक्षित धर्मों के तथा ज्ञान आदि गुणों के अनन्त भेद हैं, परन्तु निश्चय से शुद्ध

* विभु = दृढ़ अचल, नित्य, समर्थ; सर्व गुणपर्यायों में व्यापक।

चिन्मात्रभाव में कोई भेद नहीं है। ज्ञान ... ज्ञान ... ज्ञान – ऐसे ज्ञान के पूर ज्ञानमात्र भूतार्थ स्वभाव में कोई भेद नहीं है।

लोग तो ऐसा मानकर कि – "दया, दान आदि शुभराग करने से धर्म हो जायेगा", व्यवहार में अटके हैं। उनकी यह बात तो ठहरती ही कहाँ है ? यहाँ तो यह कह रहे हैं कि – पर्याय में जो षट्कारकों के भेद खड़े किए हैं, वे भी अभेद एकरूप वस्तु में स्वीकृत नहीं हैं।

कारक, धर्म और गुणभेद तो मात्र ज्ञान कराने के लिए किये गये हैं। अन्तर दृष्टि के विषय में ऐसे कोई भेद दिखाई ही नहीं देते। द्रव्य में भेद हैं अवश्य, परन्तु अभेद स्वभाव पर दृष्टि जमने पर अर्थात् निर्विकल्प अनुभव में भेद दिखाई ही नहीं देते। 'आत्मा में अनन्त गुण हैं', परन्तु दृष्टि अभेद आत्मा को ही विषय बनाती है, अतः उसमें भेद दिखाई नहीं देते। तथा यदि कोई अभेद को छोड़कर भेदों को देखे तो विकल्प अर्थात् राग उत्पन्न हुए बिना रहता ही नहीं है। अर्थात् भेददृष्टि में राग ही होता है, धर्म नहीं।

ज्ञान की एकसमय की पर्याय में छहों द्रव्यों का ज्ञान हो – ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य है। तथा ऐसी अनन्त पर्यायों का पिण्ड एक ज्ञानगुण है। एवम् जैसा एक ज्ञानगुण है, आत्मा में ऐसे-ऐसे अनन्त गुण एवं उनकी अनन्त पर्यायें हैं। ऐसे अनन्त गुणों का अभेद एक पिण्ड आत्मद्रव्य है। ऐसी अपनी अभेद वस्तु में गुण – गुणी के भेद भी लक्ष्य में लेने जैसे नहीं हैं, क्योंकि इससे राग ही होता है।

इसप्रकार प्रज्ञा द्वारा अर्थात् वर्तमान ज्ञान की दशारूप अनुभव द्वारा आत्मा ग्रहण होता है – जाना जाता है। उसमें शुद्ध आत्मद्रव्य है और अनुभव पर्याय है। यद्यपि आत्मा ज्ञान की पर्याय में आता नहीं है तथा पर्याय भी द्रव्य में एकमेक नहीं होती। जानती पर्याय ही है, क्योंकि कार्य तो पर्याय में ही होता है न? ध्रुव तो अक्रिय ही रहता है।

भावार्थ पर प्रवचन

जिसका लक्षण चैतन्य नहीं है – ऐसे परभाव मुझसे भिन्न हैं। मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्य ही हूँ।

देखो ! दया, दान, व्रत आदि शुभ भावों में चैतन्य लक्षण का अभाव है, ये सब परभाव हैं, क्योंकि चैतन्य लक्षण से खाली हैं। गाथा ७२ में इन्हें जड़ कहा है। ऐसा नहीं कि जैसे शरीर के परमाणु जड़ हैं, वैसे ही ये भाव भी जड़ हैं। किन्तु इनमें चैतन्य लक्षण का अभाव है, इस अपेक्षा इन्हें जड़ कहा है। ये भाव स्वयं को नहीं जानते और जाननहार – पर को भी नहीं जानते। अतः ये जड़ हैं।

भाई ! चैतन्य लक्षण से शून्य – ऐसे शुभरागरूप व्यवहार रत्नत्रय से वीतराग धर्मरूप निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। विकार से निर्विकारी दशा नहीं होती।

मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्य ही हूँ। चैतन्य में ज्ञान व दर्शन दोनों हैं। यहाँ 'ही' कहकर सम्यक् एकान्त का कथन किया है। कथंचित् राग हूँ व कथंचित् चैतन्य हूँ – ऐसा अनेकान्त नहीं होता, बल्कि अनेकान्त ऐसा होता है कि मैं शुद्ध चैतन्य ही हूँ और रागादिस्वरूप नहीं हूँ। यह अस्ति-नास्ति धर्म की अपेक्षा सम्यक् अनेकान्त है।

अब कहते हैं कि – पर एवं पर्याय भाव तो मुझसे भिन्न हैं ही, परन्तु चैतन्य की परिणति, अवस्था एवं पर्याय के षट्कारक भी मुझसे या मेरे आत्मद्रव्य से भिन्न ही हैं। आत्मा के अपने अभिन्न षट्कारक इनसे जुड़े हैं।

दूसरी बात – मैं स्वयं से हूँ, पर से नहीं हूँ; मैं द्रव्य से नित्य हूँ, पर्याय से अनित्य हूँ; वस्तुपने से एक हूँ, भेदअपेक्षा से अनेक हूँ – ऐसे अपेक्षित धर्म कथंचित् व्यवहार से हों तो भले हों, परन्तु शुद्ध चेतनामात्र आत्मा में निश्चय से कोई भेद नहीं है। यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की बात नहीं हैं, गुणों की भी बात नहीं हैं; यहाँ तो सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि अपेक्षित स्वभावों को धर्म कहा है। सत् अर्थात् स्वयं की अपेक्षा वस्तु सतस्वरूप है। असत् अर्थात् पर की अपेक्षा से नहीं है। ऐसे वस्तु के अपेक्षित स्वभाव को यहाँ धर्म कहा है। इन धर्मों की पर्यायें नहीं होती। गुण वस्तु में त्रिकाल होते हैं और इनकी पर्यायें होती हैं। इसप्रकार गुण व धर्म में अन्तर है। समयसार

की ४७ शक्तियों के वर्णन में इन एक-अनेक को अपेक्षित धर्मों में सम्मिलित किया है।

अब तीसरी बात – ज्ञान-दर्शन-आनन्द गुण आत्मा में त्रिकाल हैं। इनकी वर्तमान पर्याय भी होती हैं। ज्ञानगुण को ज्ञानगुण के लक्ष्य से देखें तो वह है, परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु में ऐसे गुणभेद नहीं हैं।

क्या कहा ? कुछ समझ में आया ? अरे भाई ! कहते हैं कि – छह कारकों के भेद, सत्-असत् आदि धर्मों के भेद तथा ज्ञान-दर्शन आदि गुणों के भेद मात्र जानने के लिए हों तो भले हों, परन्तु आदर देने के लिए या आश्रय करने के लिए ये कोई भेद नहीं हैं। अहा ....! धर्म की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन और इसके विषयभूत शुद्ध चैतन्यमात्र भावों में ये कोई भेद नहीं हैं। यहाँ शुद्ध चैतन्यमात्र कहकर सभी भेद निकाल दिये हैं। अहो ! ऐसा एक शुद्ध चैतन्यमात्र भाव सम्यग्दर्शन का विषय है, ध्येय है।

इसलिए कहा है कि – इसप्रकार नय से अभेदरूप ..... आत्मा को ग्रहण करना।

'यह अभेद है', ऐसा विकल्प भी अभेद आत्मा में नहीं है। 'यह दृष्टि और यह दृष्टि का विषय' – वस्तु में ऐसा द्वैत भी नहीं है। बस, दृष्टि का शुद्ध चैतन्य पर टिकना – टिका रहना ही अभेद दृष्टि है और इसी रीति से अभेद-एक आत्मा का ग्रहण होता है। 'द्रव्य सामान्य अभेद है' ऐसा विकल्प भी नहीं, परन्तु पर्याय जो द्रव्य की ओर झुक गई – बस, इसे ही अभेद का अनुभव कहा जाता है। इसी का नाम समकित और धर्म है।

कारक भेद, धर्मभेद और गुणभेदों का जानना अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है तथा व्यवहार रत्नत्रय को जानना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु का अनुभव करना शुद्धनय है। ऐसे शुद्धनय से अभेदरूप आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥ २९८॥
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥ २९९॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९८॥
प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९९॥

चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्ट्रत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव। ततोऽहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव; पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव पश्यामि। अथवा – न पश्यामि; न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यंतं पश्यामि; किन्तु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि। अपि च – ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव; जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि। अथवा – न जानामि; न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि, न जानंतं जानामि; किन्तु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि।

(आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र तो ग्रहण कराया; अब सामान्य चेतना दर्शन-ज्ञानसामान्यमय है इसलिये अनुभव में दर्शनज्ञानस्वरूप आत्मा को किसप्रकार अनुभव करना चाहिये – सो कहते हैं :-)

इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो देखता ।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९८॥
इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो जानता ।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९९॥

गाथार्थ – [प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि – [यः दृष्टा] जो देखनेवाला है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिए।

[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये कि – [यः ज्ञाता] जो जाननेवाला है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिए।

टीका – चेतना दर्शनज्ञानरूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती है इसलिये, चेतकत्व की भांति दर्शकत्व और ज्ञातृत्व आत्मा का स्वलक्षण ही है। इसलिये मैं देखनेवाला आत्मा को ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'देखता ही हूँ'; देखते हुए को ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुए के लिये ही देखता हूँ, देखते हुए से ही देखता हूँ, देखते हुए में ही देखता हूँ, देखते हुए को ही देखता हूँ अथवा नहीं देखता; न देखते हुए को देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते हुए के लिए देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ, न देखते हुए को देखता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। और इसीप्रकार – मैं जाननेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ', अर्थात् 'जानता ही हूँ'; जानते हुए को ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिए ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूँ, जानते हुए में ही जानता हूँ, जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा – नहीं जानता; न जानते हुए को जानता हूँ, नहीं जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, न जानते हुए के लिये जानता हूँ, न जानते हुये से जानता हूँ, न जानते हुए में जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ, किन्तु मैं सर्वविशुद्ध ज्ञप्ति (जाननक्रिया) मात्र भाव हूँ। (इसप्रकार देखनेवाले आत्मा को तथा जाननेवाले आत्मा को कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकों के भेदपूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारकभेदों का निषेध करके आत्मा को अर्थात् अपने को दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना चाहिये अर्थात् अभेदरूप से अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ – इन तीन गाथाओंमें, प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करनेको कहा गया है। 'ग्रहण करना' अर्थात् किसी अन्य वस्तुको ग्रहण करना अथवा लेना नहीं है; किन्तु चेतनाका अनुभव करना ही आत्माका 'ग्रहण करना' है। पहली गाथामें सामान्य चेतनाका अनुभव कराया गया है। वहाँ, अनुभव करनेवाला, जिसका अनुभव किया जाता है वह, और जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है वह – इत्यादि कारकभेदरूपसे आत्माको कहकर, अभेदविवक्षामें कारकभेदका निषेध करके, आत्माको एक शुद्ध चैतन्यमात्र कहा गया है।

इन दो गाथाओं में दृष्टा तथा ज्ञाताका अनुभव कराया है, क्योंकि *चेतनासामान्य दर्शनज्ञानविशेषों का उल्लंघन नहीं करती।* *यहाँ भी,* छह कारकरूप भेद-अनुभवन कराके और तत्पश्चात् अभेद-अनुभवन की अपेक्षासे कारकभेदको दूर कराके, दृष्टाज्ञातामात्रका अनुभव कराया है।

गाथा २९८-२९९, उनकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

चैतन्य द्रव्य का लक्षण जो चेतना स्वरूप है, वह चेतना ज्ञान-दर्शनरूप से दो प्रकार की है। इसलिए दर्शनज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करो। ऐसा इस गाथा में कहते हैं।

अभेद से – सामान्यपने से जिसको चेतना कहा जाता है, वही चेतना ज्ञान व दर्शन के भेद से दो प्रकार की है, दो स्वरूप से है। चेतना आत्मा का लक्षण है – ऐसा कहकर राग आत्मा से भिन्न है – यह सिद्ध करते हैं। परन्तु वह चेतना दर्शन व ज्ञानरूप भेद का तथा आत्मा के गुण स्वभावों का उल्लंघन नहीं करती। ज्ञान व दर्शन गुण अर्थात् सामान्य रूप से चेतना तो आत्मा का स्वभाव है। चैतन्यस्वरूपी आत्मा का एक ज्ञान ही स्वभाव है – ऐसा नहीं है, बल्कि दर्शन व ज्ञान – ये दोनों ही आत्मा के स्वभाव हैं। इसलिए चेतनपने की भांति दर्शन व ज्ञान – दोनों ही आत्मा के स्वलक्षण हैं। अनुभव में दर्शन व ज्ञान – दोनों आते हैं।

सनातन दिगम्बर मार्ग के सिवाय अन्य मतों में ऐसा कहते हैं कि – ज्ञान व दर्शन – दोनों एक ही हैं। परन्तु यह सत्य नहीं हैं। दोनों उपयोग भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं।

श्वेताम्बर मतवालों का कहना यह है कि – केवली के भी एक समय में एक ही उपयोग होता है। जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता और जब ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता। परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। केवली परमात्मा के एक ही समय में केवलदर्शन व केवलज्ञान – ऐसे दोनों उपयोग एक साथ ही होते हैं।

अल्पज्ञ होने से छद्मस्थों का उपयोग क्रम से ही होता है। उनके दर्शनपूर्वक ज्ञानोपयोग होता है। छद्मस्थ के एक समय में दो उपयोग नहीं होते। परन्तु केवली परमात्मा ने तो एक समय में परिपूर्ण दशा प्राप्त की है, इसलिए उनके तो एक समय में ज्ञान व दर्शन उपयोग एक साथ ही होते हैं।

चेतकपने की भांति दर्शनपना व ज्ञातापना आत्मा का स्वलक्षण ही है। इसलिए मैं ज्ञातास्वभावी आत्मा को ग्रहण करता हूँ। यहाँ सामान्य बात की। अब षट्कारक के भेद करके विशेष समझाते हैं।

देखो, कर्त्ता, कर्म, करण आदि भेद का विचार करने पर तो आत्मा में विकल्प – राग ही उत्पन्न होता है। इसलिए समकिती इन छह भेदों के विकल्प का लक्ष्य भी छोड़कर एक अभेद आत्मा को ही ग्रहण करते हैं। अहा – दया-दान आदि का राग तो मुझमें है ही नहीं, कारक के छह भेद भी मुझमें नहीं हैं। – ऐसा जानता हुआ धर्मीजीव भेद का लक्ष्य छोड़ देता है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी षट्कारकरूप भेदों को नहीं देखता – यह सामान्य कथन हुआ। नहीं देखता हुआ ही देखता हूँ – यह कर्त्ता का भेद है, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ – यह करण का भेद है, न देखते हुए के लिए देखता हूँ – यह सम्प्रदान के भेद का निषेध है, न देखते हुए से ही देखता हूँ – यह अपादान का भेद है, न देखते हुए में देखता हूँ – यह अधिकरण का भेद है, न देखते हुए को देखता हूँ – यह कर्म का भेद है। सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। इसप्रकार धर्मी सम्यग्दर्शन के विषय की भावना करता है। अर्थात् निर्विकल्प अनुभव करता है। अहा! सम्यग्दर्शन का विषय अभेद, एक सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव है तथा इसमें षट्कारकों के भेद नहीं हैं। अभेद एक दर्शनमात्र वस्तु की दृष्टि सम्यग्दर्शन है और यही धर्म की प्रथम सीढ़ी है।

देखो, सर्वविशुद्ध अधिकार आने वाला है न ? यह उसी की पृष्ठभूमि है। यहाँ कहते हैं कि – ये कर्त्ता–कर्म आदि के भेदरूप मैं नहीं हूँ, मैं तो सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। अहा हा ......! एक अभेद दृष्टास्वभाव भाव ही मैं हूँ। अन्तर में ऐसे अभेद आत्मा की दृष्टि करना ही सम्यग्दर्शन है। ऐसे सम्यग्दर्शन से ही धर्म की शुरुआत होती है।

इसीप्रकार अव ज्ञान से समझाते हैं – मैं ज्ञायक अर्थात् ज्ञाता आत्मा को ग्रहण करता हूँ। "ग्रहण करता हूँ" अर्थात् जानता ही हूँ यह सामान्य वात कही अव षट्कारक के भेद करके विशेष समझाते हैं। जानता हुआ ही जानता हूँ – यह कर्त्ता, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ – यह करण, जानते हुए के लिए जानता हूँ – यह सम्प्रदान, जानते हुए से ही जानता हूँ – यह अप्रादान, जानते हुए में ही जानता हूँ – यह अधिकरण, जानते हुए को ही जानता हूँ – यह कर्म। इसप्रकार छहकारकों के भेद के विचार पहले आते अवश्य हैं, पर भेदों का लक्ष्य करने से विकल्प ही उत्पन्न होते हैं। इसकारण समकिती भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद एक ज्ञानमात्र वस्तु आत्मा को ही ग्रहण करते हैं।

आगे ग्रहण करने की रीति वताते हैं :-

देखा, इस प्रकार छहों कारकों को रद्द कर दिया। अर्थात् दृष्टि में से छोड़ दिया तथा "मैं तो अभेद एक सर्व विशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव हूँ" – ऐसे ज्ञान की क्रियाको ज्ञानस्वभाव में जोड़ दिया। अहा! "मैं तो ज्ञायक स्वभावमात्र हूँ" – ऐसे अभेद एक आत्मा की दृष्टि होने पर पर्याय में भी केवल ज्ञायकस्वभाव ही आया है। राग व भेद नहीं आये। इसी का नाम धर्म है, आत्मा त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव मात्र है। ऐसा जानते हुए, ज्ञान की पर्याय में भगवान आत्मा को उपादेय करते हुए पर्याय में भी जो ज्ञायकस्वभाव की परिणति प्रगट होती है, वही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।

अहा! आत्मा का अस्तित्व कितना और किसप्रकार का है? यह जानकर अन्दर त्रिकाली एक अभेद की दृष्टि करे तव इसे सत्यदृष्टि – सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यहाँ कहते हैं – यह सद्भूत व्यवहारनय का विषय जो कारकों के भेदरूप

हैं, वह मैं नहीं हूँ, मैं तो सर्वविशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव हूँ। 'ज्ञप्तिमात्र हूँ' – यह कहकर राग और सर्व भेदविकल्पों का निषेध कर दिया है।

अहा ! अकेले ज्ञायक··· ज्ञायक··· ज्ञायकस्वभावी अभेद एकरूप आत्मा की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

अरे भाई! लोग तो मानते हैं कि व्यवहार से निश्चय होता है, शुभराग वीतरागता का हेतु है। परन्तु भाई! राग तो असद्भूत व्यवहार है। देख तो सही! यहाँ तो गुणभेदरूप सद्भूत व्यवहार का भी निषेध किया है। यहाँ कहते हैं कि – निर्मल कारकों के भेद का विचार प्रारंभ में आता अवश्य है, आये बिना नहीं रहता, परन्तु जब तक भेद का लक्ष्य रहता है, तब तक निश्चय धर्म प्रगट नहीं होता। बापू! वस्तु का वास्तविक स्वरूप ही ऐसा है कि उसे किसी व्यवहार की या भेद की अपेक्षा नहीं है। नियमसार गाथा ३ में कहा है कि – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है।

अहा ! लोगों को सत्य समझने में रुचि नहीं है, गर्ज भी नहीं है। बस ! इसी कारण भगवान द्वारा कहा गया और संतों द्वारा प्रसिद्ध किया हुआ सत् का स्वरूप समझना कठिन लगता है।

अज्ञानवश जीव ऐसा माने बैठे हैं कि – दूसरों की दया पालना, व्रत करना, सामायिक करना, प्रतिक्रमण करना आदि ही धर्म है। उनसे संत कहते हैं कि बापू ! तुझे खबर नहीं है। जिसे तू धर्म मानता है, वह सच्चा धर्म नहीं है।

अहा ····! अन्दर राहरहित जो अभेद एक चैतन्यमात्र चिदानन्द प्रभु आत्मा विराजता है, उसके आश्रय से अनुभव होने पर प्रथम सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है और उसके बाद उसी स्वरूप में जो विशेष लीनता होती है, उसे सामायिक कहते हैं । जिसमें समता का लाभ हो, उसे सामायिक कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि – इस प्रकार ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा को कर्त्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान और अधिकरण रूप कारकों को भेदपूर्वक ग्रहण करके अर्थात् प्रथम ज्ञान में भेदपूर्वक जानकर पश्चात् कारक के भेदों

को दूर करके – भेदों का लक्ष्य छोड़कर स्वयं को शुद्ध एक दर्शनमात्रभावरूप से उसीप्रकार ज्ञानमात्रभावरूप से अनुभव करो। इसप्रकार अभेद के अनुभव को सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ पर प्रवचन

इन तीनों गाथाओं में प्रज्ञा द्वारा आत्मा को ग्रहण करने की बात कही है। 'ग्रहण करना' कहने में किसी अन्य वस्तु को ग्रहण करने या लेनें की बात नहीं है, चेतना का अनुभव करना ही आत्मा का 'ग्रहण' करना है।

सत्‌चित्‌स्वरूप आत्मा के त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होकर वर्तमान में 'मैं चैतन्यभाव मात्र हूँ' ऐसा अनुभव करने का नाम 'आत्मा का ग्रहण' करना है।

सत् द्रव्यस्वभाव है, चित्त गुणस्वभाव है एवं अनुभव करना पर्यायस्वभाव है। – इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ गये। अहा .....! जिनको धर्म करना है, सुखी होना है, उन्हें निमित्त, राग व भेद की दृष्टि दूर करके सबसे विमुख होकर अभेद एक चैतन्यमात्र आत्मा में ही दृष्टि एकाग्र करनी चाहिए। भाई! यही एक मार्ग है।

परभावों से एवं विकार से भिन्नता की बात पहले आ चुकी है। यहाँ तो निर्मल कारकों के भेद को भी दूर करने को कहा जा रहा है। चैतन्य की निर्मल पर्याय कर्त्ता, निर्मल पर्याय कर्म, निर्मल पर्याय करण इत्यादि षट्कारकों के परिणमन में जो लक्ष्य जाता है, वह भेदरूप व्यवहार है। इस भेद-व्यवहार का लक्ष्य छोड़कर चैतन्यप्रकाश के पुंज अभेद एक शुद्ध अन्तःतत्व की दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है।

अब कहते हैं कि – पहले छह कारकों का भेद करके समझाया था। उसके बाद भेद का निषेध करके अभेद का अनुभव कराया; क्योंकि भेद की दृष्टि में अभेद का अनुभव नहीं होता। इसकारण भेद को गौण करके अभेद स्वरूप शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु की दृष्टि कराई।

इन दो गाथाओं में दृष्टा व ज्ञाता का अनुभव कराया; क्योंकि चेतनासामान्य दर्शनज्ञान विशेषों का उल्लंघन नहीं करता। यहाँ भी पहले छह कारकरूप भेद अनुभव कराकर अभेद अनुभव की अपेक्षा से कारक भेद दूर कराया तथा अन्तर में अभेद एक आत्मस्वरूप का अनुभव करना ही धर्म है – ऐसा बताया है।

यहाँ प्रश्न है कि – चेतना में जगत की वस्तुयें सामान्य – विशेषपने प्रतिभासित होतीं हैं। अर्थात् चेतना में पदार्थ भेदाभेदपने प्रतिभासित होते हैं। आत्मा भी एक वस्तु है। चेतना आत्मा का गुण है। इसकी पर्याय में स्व व पर का प्रतिभास सामान्य-विशेषात्मक रूप से होता है; क्योंकि कोई भी वस्तु सामान्य-विशेष धर्म का उल्लंघन नहीं करती। द्रव्यरूप से सभी वस्तुएँ सामान्य हैं और गुण-पर्यायपने विशेष हैं। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु का सामान्य-विशेष स्वभाव है। उन समस्त वस्तुओं का ज्ञान-दर्शन की पर्याय में प्रतिभास होता है। अहा ....! समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले दर्शन और ज्ञान चैतन्यमय आत्मा के स्वभाव हैं। इसकारण चेतना उनका उल्लंघन नहीं कर सकती।

यदि चेतना में सामान्य-विशेष रूप वस्तु को प्रतिभासने की शक्ति ही न हो अर्थात् देखने-जाने रूप शक्ति ही न हो तो चेतना का ही अभाव हो जाये और उसका अभाव होने पर दो दोष उत्पन्न हो जायेंगे –

१. अपने गुणों का नाश होने से चेतन को अचेतनपने का प्रसंग प्राप्त होगा।
२. व्यापक चेतना के अभाव में व्याप्य आत्मा का ही अभाव होने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

देखो, यहाँ चेतनागुण को व्यापक व आत्मा को व्याप्य कहा है। यहाँ आत्मा और उसकी पर्यायों में व्याप्य-व्यापक की बात नहीं है। यहाँ तो गुण व्यापक व त्रिकाली द्रव्य 'आत्मा' को व्याप्य रूप से ग्रहण किया है; क्योंकि गुण आत्मा में व्यापक रूप से रहते हैं न! इसलिए गुण व्यापक और आत्मा व्याप्य – ऐसा कहा है । अहा ! त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव व्यापक हुआ व आत्मा उसका व्याप्य हुआ। यदि चेतना के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अभाव हो तो व्याप्य आत्मा

ही नहीं रहेगा – यह दोष आता है। इसलिए दोष के निवारणार्थ भी आत्मा को दर्शन-ज्ञान स्वरूप ही अंगीकार करना योग्य है।

यहाँ कहते हैं कि – चेतना को ज्ञान-दर्शनस्वरूप – दो रूप यथार्थ जानकर अभेद एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनुभव करना तथा राग और पर्याय का लक्ष्य छोड़ना। बस, इसी का नाम निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग है।

देखो, अज्ञानी जीव ने अनादि से राग-द्वेष-कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का ही वेदन किया है। उसको जड़ का स्वाद तो कभी आता ही नहीं है और स्वरूप का स्वाद उसने कभी लिया नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि लाड्डू, बरफी, पेड़ा आदि मिष्ठान्न, धन-सम्पदा तथा स्त्री का सुन्दर शरीर आदि जड़ पदार्थ तो पर द्रव्य हैं। अतः उनका स्वाद आने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में अत्यन्ताभाव है। हाँ, उनके लक्ष्य से अज्ञानी को अपने रागादि का स्वाद आता है। उससे वह पर में भले-बुरे की कल्पना किया करता है। पर भाई! यह तो दुःख का ही स्वाद है।

अहो ! यदि एक क्षण भी ज्ञानचेतना का स्वाद लें तो इसके जन्म-मरण ही टल जावें। पर····· अज्ञानी ने ऐसा प्रयत्न कभी किया ही नहीं

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :-

(शार्दूल विक्रीडित)

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत् ।
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ॥
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥१८३॥

श्लोकार्थ – [जगति हि चेतना अद्वैता] जगतमें निश्चयतः चेतना अद्वैत है [अपि चेत् सा दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्] तथापि यदि वह दर्शनज्ञानरूपको छोड़ दे [तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्] तो सामान्यविशेषरूपके अभाव से (वह चेतना) [अस्तित्वम् एव त्यजेत्] अपने अस्तित्वको ही छोड़ देगी; और

[तत्-त्यागे] इसप्रकार चेतना अपने अस्तित्वको छोड़ने पर, (१) [चितः अपि जडता भवति] चेतनके जड़त्व आ जायेगा – अर्थात् आत्मा जड़ हो जाय [च] और (२) [व्यापकात् बिना व्याप्यः आत्मा अन्तम् उपैति] व्यापक (चेतना) के बिना व्याप्य जो आत्मा वह नष्ट हो जायेगा (–इसप्रकार दो दोष आते हैं)। [तेन चित् नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्तु] इसलिये चेतना नियमसे दर्शनज्ञानरूप ही हो।

भावार्थ – समस्त वस्तुएँ सामान्यविशेषात्मक हैं। इसलिए उन्हें प्रतिभासनेवाली चेतना भी सामान्यप्रतिभासरूप (–दर्शनरूप) और विशेषप्रतिभासरूप (–ज्ञानरूप) होनी चाहिए। यदि चेतना अपनी दर्शनज्ञानरूपता को छोड़ दे तो चेतनाका ही अभाव होने पर या तो चेतन आत्माको (अपने चेतना गुणका अभाव होने पर) जड़त्व आ जायेगा अथवा तो व्यापकके अभावसे व्याप्य ऐसे आत्माका अभाव हो जायेगा। (चेतना आत्माकी सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होनेसे व्यापक है और आत्मा चेतन होनेसे चेतनाका व्याप्य है। इसलिए चेतनाका अभाव होने पर आत्माका भी अभाव हो जायेगा।) इसलिये चेतनाको दर्शनज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिए।

यहाँ तात्पर्य यह है कि – सांख्यमतावलम्बी आदि कितने ही लोग सामान्य चेतनाको ही मानकर एकान्त कथन करते हैं, उनका निषेध करने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि 'वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषरूप है इसलिए चेतनाको समान्यविशेषरूप अंगीकार करना चाहिए'॥ १८३॥

कलश १८३ एवं भावार्थ पर प्रवचन

निश्चय से जगत में चेतना अद्वैत है। चित् अर्थात् चेतन द्रव्य और चेतना गुण – दोनों स्वभाव से अभेद हैं। वस्तुपने या द्रव्यपने से एक होते हुए भी चेतना स्वरूप से ही सामान्य और विशेष – ऐसे दर्शन-ज्ञानस्वरूप से दो पने रहती है।

यदि चेतना अपने सामान्य-विशेषस्वरूप को अर्थात् दर्शन-ज्ञानरूप को छोड़ दे तो जीव चेतना के अभाव में जड़ हो जाये। चेतन को जड़पना आ जाये।

स्वभाव से चेतना एक होते हुए भी ज्ञाता-दृष्टापना भी इसका स्वरूप है। यदि वह ज्ञाता-दृष्टापना छोड़ दे तो चेतना का अभाव हो जायेगा तथा चेतना के बिना चेतन जीवद्रव्य जड़ हो जायेगा।

यहाँ कोई कह सकता है कि इस बौद्धिक व्यायाम से क्या लाभ ? इस सबका धर्म से क्या सम्बन्ध है? उसके उत्तर में कहते हैं कि – अरे भाई ! अपना ऐसा स्वरूप जानकर अपनी दृष्टि को अपने अखण्ड-एक-चैतन्यमूर्ति आत्मा के स्वरूप में स्थापित करने का नाम ही तो धर्म है।

पहले बोल में आत्मा को जड़ होने का दोष दर्शाया था और अब दूसरे बोल में आत्मा को नष्ट होने का दोष बता रहे हैं। यदि व्यापक चेतना ही न रहे तो व्याप्य आत्मा का नाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

इस प्रकार चेतना के दो रूप नहीं मानने से दो दोष उत्पन्न होते हैं। इससे कहते हैं कि – चेतना नियम से दर्शन-ज्ञान रूप ही है। अर्थात् चेतना नियम से दर्शनज्ञानमय ही है।

इसी कलश के भावार्थ में कहते हैं कि – देखो, भगवान ने देखा है कि – जगत में सब द्रव्य जाति अपेक्षा छह हैं और संख्या अपेक्षा जीव अनन्त, पुद्गल परमाणु अनन्तान्त, धर्मास्तिकाय एक, अधर्मास्तिकाय एक, आकाश एक और कालाणु असंख्यात हैं। ये सभी – प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषरूप हैं। सामान्य-विशेष होना वस्तु का सहज स्वभाव ही है। इस कारण उनको प्रतिभासित करने वाली चेतना भी सामान्य-विशेषरूप है। सामान्य प्रतिभासरूप दर्शन और विशेष प्रतिभासरूप ज्ञान है।

यहाँ कहते हैं कि – चेतना को ज्ञाता-दृष्टापने दो रूप न मानें तो चेतना का ही अभाव हो जायेगा और चेतना का अभाव होने पर चेतन आत्मा को जड़ रूप होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

चेतना व्यापक है और आत्मा व्याप्य है, इसकारण व्यापक का अभाव होने पर व्याप्य आत्मा का ही अभाव हो जायेगा। इसलिए चेतना को दर्शन-ज्ञान स्वरूप ही मानना योग्य है। चेतन द्रव्य व चेतनागुण अभेद हैं। इसलिए जिसे धर्म प्राप्त करना हो, उसे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से अभेद भगवान आता की दृष्टि करके उसी में एकाग्र होना चाहिये।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि – पर्याय व द्रव्य तो अभिन्न ही हैं, इसलिए पर्याय में अशुद्धता हो तो द्रव्य भी अशुद्ध ही होना चाहिए ?

उत्तर में कहते हैं – भाई! ऐसा नहीं है। द्रव्य तो त्रिकाली है और पर्याय तो एक समयवर्ती है। सिद्धों की निर्विकारी पर्याय भी एक समय की है। ये कोई त्रिकाली वस्तु नहीं है। जिसतरह सिद्ध पर्याय द्रव्य का एक-एक समयवर्ती निर्विकारी भेष है। उसी तरह मोक्षमार्ग की पर्याय भी त्रिकाली द्रव्य का एक-एक समयवर्ती आंशिक निर्मल भेष है और संसार की पर्याय भी चेतन द्रव्य का एक-एक समयवर्ती विकारी भेष है।

इसी शास्त्र की ३२०वीं गाथा में कहा है कि – मोक्षमार्ग की पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। चेतन द्रव्य का चेतना स्वभाव है। उस चेतन द्रव्य में – अभेद में एकाग्र होने पर चेतनास्वभावमय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का परिणाम प्रगट होता है। यह पर्याय यदि द्रव्य में एकरूप-अभेद हो जाय तो मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश होने से त्रिकाली पारिणामिक भाव का भी नाश हो जायेगा।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु एक-शुद्ध-चैतन्य रसकंद है। उसे ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाने से जो स्व-संवेदन ज्ञान हुआ, उसी के साथ 'यह अखण्ड-एक-परिपूर्ण चिन्मात्र वस्तु मैं हूँ' – ऐसी प्रतीति प्रगट हुई और साथ ही स्वरूप में रमनेरूप आचरण प्रगट हुआ। इसप्रकार प्रगट हुए शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की पर्याय त्रिकाली आत्मद्रव्य के साथ एक हो जाय तो मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जायेगा। इसलिए निश्चय से पर्याय द्रव्य से भिन्न ही है।

संवर अधिकार की प्रारंभिक गाथाओं में कहा है कि – भगवान आत्मा एक वस्तु है और दया-दान आदि के शुभाशुभ भाव इससे भिन्न दूसरी वस्तु है; क्योंकि राग के प्रदेश व आत्मा के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। जितने क्षेत्र में राग उत्पन्न होता है, वह क्षेत्र ध्रुव के क्षेत्र से भिन्न गिना गया है और इसी से विकार का आधार आत्मा को नहीं माना तथा आत्मा का आधार विकार

को नहीं माना। इस प्रकार दोनों में परस्पर आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है - ऐसा वहाँ संवर अधिकार में सिद्ध किया है। तात्पर्य यह है कि पर्याय द्रव्य से वास्तव में भिन्न ही है।

मोक्षमार्ग की पर्याय के प्रदेश भी त्रिकाली द्रव्य के क्षेत्र से भिन्न ही गिने गये हैं, माने गये हैं। यह बात चिद्विलास में आई है। प्रवचनसार में भी कहा है कि उत्पाद उत्पाद से है, ध्रुव व व्यय से नहीं, व्यय व्यय से है, उत्पाद व ध्रुव से नहीं तथा ध्रुव-ध्रुव से है, उत्पाद व व्यय से नहीं।

पर्याय की स्थिति एक समय की होती है, जबकि द्रव्य त्रिकाल है। पर्याय का भाव जिस प्रदेश में उत्पन्न होता है, वह प्रदेश का अंश भिन्न है तथा त्रिकाली द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं। अहा····! पर्याय का व्यय पर्याय से है, पर्याय की उत्पत्ति पर्याय से है, पर्याय की स्थिरता (टिकाव) पर्याय से है। पर्याय के षट्कारक पर्याय में पर्याय से हैं। इसप्रकार निश्चय से पर्याय द्रव्य से भिन्न है।

इसलिए अशुद्ध पर्याय होने से सम्पूर्ण त्रिकाली द्रव्य अशुद्ध नहीं हो जाता। पर्याय की अशुद्धता के काल में भी द्रव्य तो एकरूप शुद्ध ही है। उसे पर्याय अपेक्षा अशुद्ध कहना - यह बात जुदी है।

भाई! पर्याय है अवश्य; पर्याय हो ही नहीं - ऐसा कोई कहे - तो यह कहना सत्य नहीं है। पर्याय है और कार्य पर्याय में ही होता है, त्रिकाली द्रव्य में नहीं होता। हाँ, शुद्ध-एकरूप त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है। परन्तु वह एक समय की अवस्था है। अहा····! एक समय की अवस्था का भाव भिन्न, काल भिन्न, क्षेत्र भिन्न और वीर्य भिन्न है। अहो! वस्तु का स्वरूप ऐसा है। भगवान ने ऐसा ही देखा एवं जैसा देखा वैसा ही कहा है।

यहाँ कहते हैं कि - चेतना को दर्शनज्ञान स्वरूप ही मानना। अहा! जैसा वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषरूप है, उसी प्रकार वस्तु को देखने-जानने रूप चेतना भी सामान्य दर्शनस्वरूप और विशेष ज्ञानस्वरूप है। अहा·····! ऐसे अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को जानकर उसी में एकाग्रपने लीन होकर रहना - इसी का नाम धर्म है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि – सांख्यमती आदि कितने ही लोग सामान्य चेतना को ही मानकर एकान्त ग्रहण करते हैं। उनका विरोध करने के लिए "वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषरूप है, इससे चेतना को सामान्य-विशेष रूप ही अंगीकार करना" – ऐसा यहाँ ज्ञान कराया है।

अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को यथार्थ पहचान कर उसके आश्रय से सर्वप्रथम समकिती होना चाहिए।

अब आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं :-

(इन्द्रवज्रा)

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥१८४॥

श्लोकार्थ – [चितः] चैतन्यका (आत्माका) तो [एकः चिन्मयः एव भावः] एक चिन्मय ही भाव है, और [ये परे भावाः] जो अन्यभाव हैं [ते किल परेषाम्] वे वास्तव में दूसरोंके भाव हैं; [ततः] इसलिए [चिन्मयः भाव एव ग्राह्यः] (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है, [परे भावाः सर्वतः एव हेयाः] अन्य भाव सर्वथा त्याज्य हैं॥१८४॥

कलश १८४ पर प्रवचन

चैतन्य द्रव्य का अर्थात् भगवान आत्मा का तो एक चिन्मय ही भाव है। जानना-देखना ही आत्मा का स्वभाव है। रागादि रूप जो अन्य भाव हैं, वे सब वस्तुतः पर भाव हैं। हिंसा, झूठ, चोरी आदि के जो विकल्प उठते हैं, वे पापभाव हैं तथा दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि के पुण्यभावरूप विकल्प शुद्ध चैतन्य के भाव नहीं हैं। ये सब पर भाव ही हैं।

अहा हा ····! भगवान आत्मा तो शुद्ध चिन्मय-चेतनामय है। चेतना वाला कहने से भेद भासित होता है, अतः चेतना वाला न कह कर चेतनामय कहा है। आत्मा तो एक अभेद-शुद्ध चिन्मय प्रभु है न ? बस, इस एक-अभेद-चिन्मय आत्मा का अनुभव करना ही धर्म है, मोक्षमार्ग व मोक्ष का उपाय है।

कुछ लोग दो शंकायें प्रगट करते हैं। वे कहते हैं कि –

१. द्रव्य व पर्याय एक है, अभिन्न है, इसलिए पर्याय अशुद्ध होने पर द्रव्य शुद्ध कैसे रह सकता है ?

२. व्यवहार से निश्चय होता है और व्यवहार शुभभाव रूप होता है, अतः शुभभाव करते-करते सम्यग्दर्शन होने में क्या बाधा है ?

प्रथम शंका का समाधान तो यह है कि – वास्तव में तो चेतना की एक समय की जाननक्रियारूप-जानने-देखने के अनुभवरूप निर्मल पर्याय द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। तथा ये जो रागादि विकल्प उठते हैं, ये अशुद्ध पर्यायें तो द्रव्य से सर्वथा भिन्न ही हैं। जो सर्वथा भिन्न हो, वह ज्ञायक में प्रवेश कैसे कर सकती है? जो भिन्न हैं, वे तो भिन्न ही रहेंगी।

अहाहा····! चित् अर्थात् कारणजीव, कारणपरमात्मा एक-शुद्ध-चिन्मय है, जो कि तीनों काल शुद्ध है। वर्तमान पर्याय की अशुद्धता के समय भी यह अन्दर स्वभाव से तो शुद्ध ही है। गुण वस्तु गुणमय है। जैसे शक्कर (मिश्री) मिठास से तन्मय है, उसी तरह चित् चेतना से तन्मय है। अभेद है, एक है, चिन्मय है। अहा····! ऐसा अभेद एक आत्मा में गुण-गुणी का भेद डालना अन्य भाव है; क्योंकि भेद को लक्ष्य में लेते ही विकल्प (राग) ही उठता है। अतः भेद को गौण करके एक अभेद का ही लक्ष्य करना योग्य है। अहा····! दृष्टि में लेने योग्य तो एक त्रिकाल शुद्ध चिन्मय आत्मा ही है।

यह जड़ माटी शरीर तो आत्मा है ही नहीं, जड़ कर्म भी आत्मा की चीज नहीं है तथा पाप भाव भी आत्मा में नहीं है और पुण्यभाव भी आत्मा की वस्तु नहीं है। ये व्यवहार रत्नत्रय के शुभभाव भी आत्मा की चीज नहीं हैं।

एक चिन्मयभाव के सिवाय सर्वभाव परभाव हैं। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध पड़ता है, वह भाव भी परभाव है। वह भी जीवभाव नहीं है। जब ऐसी वस्तुस्थिति है तो शुभभावरूप परभाव से आत्मा में धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती।

भगवान आत्मा में पुण्य-पाप का भाव नहीं – यह तो ठीक; उसमें वर्तमान पर्याय का भी अभाव है। त्रिकाली ध्रुव में वर्तमान पर्याय का अभाव है।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि पर्याय पर्याय में भी नहीं है – ऐसा कैसे संभव है? पर्याय का पर्यायपने तो अस्तित्व है ही न?

समाधान यह है कि – जिस तरह समयसार गाथा ११ में पर्याय को अभूतार्थ कहा; सो वहाँ गौण करके अभूतार्थ कहा, न कि अभाव करके; उसी प्रकार यहाँ भी पर्याय को गौण किया है। क्योंकि – वहाँ इसका प्रयोजन तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है, एतदर्थ त्रिकाली सत् को सत्यार्थ कहा तथा वर्तमान पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा है। क्योंकि त्रिकाली ध्रुव के ही आश्रय से निज प्रयोजन की सम्यग्दर्शन की सिद्धि होती है, पर्याय के आश्रय से नहीं।

इसप्रकार अभेद एक चिन्मय आत्मा में एकाग्र करना ही दुःख की मुक्ति का उपाय है। बीच में व्यवहार आता अवश्य है, पर वह कोई उपाय नहीं, वह तो बन्ध का ही कारण है। इसलिए चिन्मयभाव ही ग्रहण करने योग्य है। अन्य सभी भाव सर्वथा छोड़ने योग्य हैं।

चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है – यह सम्यक् एकान्त है। चिन्मय का ग्रहण होने पर परभाव उत्पन्न ही नहीं होते – इसे ही परभाव का त्याग करना कहा जाता है। आत्मा में तो परवस्तु का ग्रहण-त्याग होता ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं – परभाव सब प्रकार से हेय हैं। यद्यपि व्यवहारनय से व्यवहार को शास्त्रों में पूज्य कहा है, पर उसका अर्थ यह है कि – व्यवहार से व्यवहार जानने लायक है। निश्चय से तो सब प्रकार का व्यवहार हेय ही है। कलश टीका में व्यवहार का अर्थ कथनमात्र है।

भाई! तेरे अन्दर अनन्त ज्ञान, अनन्त-आनन्द, अनन्त वीर्य आदि अनन्त-अनन्त ईश्वरपना विद्यमान है न अहाहा ··· भगवान! तू ईश्वर है। अपनी ईश्वरता को ग्रहण कर और परभावों से छूट जा! परभाव तो हर तरह से छोड़ने लायक ही है। समकिती व मुनियों को भी परभाव आये बिना नहीं रहते, पर वे उन्हें हेय मानते हैं। ज्ञानी को एक चिन्मय आत्मा ही ग्राह्य है, उपादेय है – ऐसा भगवान की वाणी में आया है।

समयसार गाथा ३००

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइए भावे ।
मज्झमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥३००॥

को नाम भणेद्बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान् ।
ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धम् ॥३००॥

यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात्, स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति, शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति। एवं च जानन कथं परभावान्ममामी इति ब्रूयात्? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसम्बन्धस्यासंभवात्। अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः, शेषाः सर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धांतः।

अब इस उपदेशकी गाथा कहते हैं :-

निज आतमा को शुद्ध अर पररूप पर को जानता ।
है कौन बुध जो जगत में परद्रव्य को अपना कहे ? ॥३००॥

गाथार्थ – [सर्वान् भावान्] सर्व भावोंको [परकीयान्] दूसरेका [ज्ञात्वा] जानकर [कः नाम बुधः] कौन ज्ञानी, [आत्मानं] अपनेको [शुद्धम्] शुद्ध [जानन्] जानता हुआ, [इदम् मम] 'यह मेरा है' (–'यह भाव मेरे हैं') [इति च वचनं] ऐसा वचन [भणेत्] बोलेगा?

टीका – जो (पुरुष) परके और आत्माके नियत स्वलक्षणोंके विभागमें पड़नेवाली प्रज्ञाके द्वारा ज्ञानी होता है, वह वास्तवमें एक चिन्मात्र भावको अपना जानता है और शेष सर्व भावोंको दूसरोंका जानता है। ऐसा जानता हुआ (वह पुरुष) परभावोंको 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा? (नहीं कहेगा;) क्योंकि परमें और अपनेमें निश्चयसे स्वस्वामिसम्बन्धका असम्भव है। इसलिये, सर्वथा चिद्भाव ही (एकमात्र) ग्रहण करनेयोग्य है, शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य हैं – ऐसा सिद्धान्त है।

भावार्थ – लोकमें भी यह न्याय है कि – जो सुबुद्धि और न्यायवान होता है वह दूसरेके धनादिको अपना नहीं कहता। इसीप्रकार जो सम्यग्ज्ञानी है, वह समस्त परद्रव्योंको अपना नहीं मानता। किन्तु अपने निजभावको ही अपना जानकर ही ग्रहण करता है।

समयसार गाथा ३००, उसकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

अहाहा....! धर्म कैसे प्रगट होता है – यह बात यहाँ कह रहे हैं। कहते हैं कि भगवान आत्मा का लक्षण शुद्ध चेतना स्वरूप है तथा बन्ध का लक्षण रागादि रूप है। भले, वह देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का राग हो, इन्हीं की श्रद्धा का राग हो या अन्य कोई भी पुण्य भाव हो – बन्ध का ही लक्षण है। इस प्रकार दोनों के निश्चय स्वलक्षण जानकर दोनों की सांध में प्रज्ञा रूपी छैनी पटकने से आत्मा धर्मी होता है।

आत्मा का स्वभाव चेतना है और राग भिन्न है, पर है; इसप्रकार दोनों के बीच सांध है। उन दोनों के बीच प्रज्ञा छैनी पटकने पर 'स्व' का ज्ञान होता है। तथा नास्तिपने राग मेरी वस्तु नहीं है – ऐसा ज्ञान हो जाता है। इसी का नाम भेदविज्ञान है, धर्म है। भाई ! धर्म करनेवाले को प्रथम यह भेदविज्ञान करना आवश्यक है, तभी वह धर्मी-ज्ञानी होता है।

ऐसा धर्मी पुरुष वस्तुतः एक चिन्मात्र भाव को ही अपना मानता है। शेष चेतनारहित सर्व भावों को पर जानता है। व्यवहार रत्नत्रय के भावों को भी वही पर जानता है। धर्मी की दृष्टि में एक ओर आत्मा 'स्व' और दूसरी ओर सर्व रागादि 'पर' है।

देखो, शुभ राग का जो विकल्प उठता है, उसी क्षेत्र में उसी काल में ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार दोनों की उत्पत्ति होते हुए भी प्रज्ञा छैनी द्वारा धर्मी दोनों को भिन्न जानता है। स्वयं को ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव वाला चिन्मय आत्मा जानता है और रागादि भावों को 'पर' जानता है।

अहाहा....! भगवान आत्मा अनन्त शक्तियों का और गुणों का घनपिण्ड, अभेद, एक चेतनामात्र वस्तु है। जो अपने ऐसे स्वरूप का रागरहित अनुभव करता है, वह ज्ञानी है, धर्मी है।

आगे कहते हैं कि – जिसने राग से भिन्न शुद्ध चेतना मात्र भगवान आत्मा का अनुभव किया, वह ज्ञानी व्यवहार के राग को अपना कैसे मान सकता है? नहीं मानता; क्योंकि पर व निज के साथ निश्चय से स्व-स्वामी संबंध असंभव है। शुद्ध चेतनास्वभाव 'स्व' और स्वयं का आत्मा उसका 'स्वामी' – ऐसा स्व-स्वामी सम्बन्ध है। पर 'राग' 'स्व' व 'आत्मा' 'स्वामी' – ऐसा सम्बन्ध नहीं है। तो फिर ज्ञानी उस राग को अपना कैसे माने ? 'पर' भाव का स्वामी 'पर' है, आत्मा उसका स्वामी नहीं है।

समयसार परिशिष्ट में ४७ शक्तियों का वर्णय किया है। उसमें अन्तिम स्व-स्वामी सम्बन्ध शक्ति है। जिस शक्ति के कारण अपने द्रव्य-गुण व निर्मल पर्याय अपना 'स्व' है और स्वयं आत्मा उसका 'स्वामी' है, ऐसी 'स्व-स्वामी सम्बन्ध' शक्ति है। परविकार अपना स्व और स्वयं विकार का स्वामी – ऐसा स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा विकार का स्वामी बने – ऐसी उसमें कोई शक्ति ही नहीं है।

धर्मी पुरुष यह नहीं मानते कि – "स्त्री-पुत्रादि मेरे हैं," क्योंकि पर-द्रव्य व परभाव के साथ आत्मा को स्व-स्वामी सम्बन्ध होना असंभव है। अरे! जगत जन तो ऐसा कहते हैं कि – यह मेरा भगवान है, ये हमारे गुरु हैं। परन्तु भाई! परवस्तु को अपना मानना तो स्थूल अज्ञान है; क्योंकि आत्मा में परवस्तु का त्रिकाल अभाव है। स्वयं के व पर के साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध होना सदाकाल असंभव है।

बापू ! यह शरीर की क्रिया व वाणी तो बहुत दूर की बात है; क्योंकि ये तो प्रगट पर हैं। परन्तु यहाँ तो आत्मा में उत्पन्न हुए दया-दान, व्रतादि के भाव भी पर हैं। व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प भी पर है।

बनारसीदास ने परमार्थ बचनिका में कहा है कि – पर सत्तावललम्बीज्ञान भी अपनी वस्तु नहीं है। जो पर है उसका स्वामी आत्मा कभी भी नहीं है। जिसके साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है, उससे लाभ माने तो यह मान्यता मिथ्यात्व है।

सभी सम्प्रदायों में लोग मिथ्या मान्यता की भूलों से ग्रसित हैं। स्थानकवासियों में बाह्य तप और व्रत करने को धर्म मान रखा है तो श्वेताम्बरों ने भगवान की भक्ति करने और गिरनार व सम्मेद शिखर की यात्रा करने में धर्म मान रखा है। बेचारों को यह खबर ही नहीं है कि कर्त्ता बुद्धि से शुभाशुभ राग में एवं परद्रव्य में कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व की मान्यता रूप मिथ्यात्व का महापाप निरन्तर हो रहा है। जब राग में धर्म मानना ही मिथ्यात्व है, तो व्रत-तप, पूजा-यात्रा आदि के शुभ राग से वीतराग धर्म कैसे हो जायेगा? दिगम्बर सम्प्रदाय में भी स्त्री-पुत्रादि कुटुम्ब छोड़ो, वस्त्र छोड़ो, नग्न हो जाओ। वस, हो गये धर्मात्मा। परन्तु उन्हें भी यह खबर ही नहीं है कि आत्मा में पर का ग्रहण-त्याग मानना ही मिथ्यात्व है; क्योंकि आत्मा पर के ग्रहण-त्याग से शून्य है। आत्मा में ऐसी एक शक्ति है जिसे त्यागोपादान शून्यत्व शक्ति कहा गया है। अहा ! धर्म का स्वरूप बहुत सूक्ष्म है भाई ! इसे उपयोग को सूक्ष्म करके समझना पड़ेगा।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव व्यवहार के राग को अपना नहीं मानता; क्योंकि व्यवहार (राग) मेरा 'स्व' एवं मैं उसका 'स्वामी' – ऐसा सम्बन्ध ही असंभव है। इसलिए सर्वथा चिद्भाव ही (एक) ग्रहण करने योग्य है। शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य हैं। – ऐसा सिद्धान्त है।

कहते हैं कि – एक चेतन आत्मा और उसका चेतन स्वभाव ही अभेद एक अनुभव करने लायक है। अन्दर स्वरूप में मग्न होकर इसका संवेदन और आनन्द का स्वाद लेने योग्य है। यह सिद्ध हुई वस्तु है। व्यवहार व निश्चय का स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है, यह आगमसिद्ध बात है।

कहने का तात्पर्य (भावार्थ) यह है कि – लोक में भी कोई खानदानी समझदार न्यायप्रिय मनुष्य हो तो आर्थिक स्थिति साधारण होने पर भी दूसरे की धरोहर या उधार मांग कर लाई वस्तु को अपनी सम्पत्ति नहीं मानता, यह वस्तु मेरी नहीं है – ऐसा ही मानता है और यही लौकिक न्याय है।

इसी प्रकार जो सम्यग्ज्ञानी है, वह समस्त परद्रव्यों को अपना नहीं मानता। व्यवहार का, पुण्य का भाव आता है, वह उसकी सत्ता को मानता है; परन्तु वह मेरा भाव है – ऐसा नहीं मानता। वह समस्त परद्रव्यों को तथा परभावों को अपना नहीं मानता। भले उस भाव से इन्द्रपद एवं चक्रवर्ती का पद मिले, तो भी वह उस भाव को अपना नहीं मानता।

अहा! अपने एक चिन्मात्रभाव को ही अपना जानकर उसका अनुभव करता है। यह भगवान की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है। जिसका महाभाग्य होता है, उसे ही सुनने को मिलती है औरजिसके जीवन में परिणत हो जाये, उसके भाग्य का तो पूछना ही क्या है ?

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :-

(शार्दूलविक्रीडित)

सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥ १८५॥

श्लोकार्थः- [उदात्तचित्तचरितैः मोक्षार्थिभिः] जिनके चित्तका चरित्र उदात्त (-उदार, उच्च, उज्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी [अयम् सिद्धान्तः] इस सिद्धान्तका [सेव्यताम्] सेवन करें कि – [अहम् शुद्धं चिन्मयम् एकम् परमं ज्योतिः एव सदा एव अस्मि] 'मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ; [तु] और [एते ये पृथग्लक्षणः विविधाः भावाः समुल्लसन्ति ते अहं न अस्मि] जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकारके भाव प्रगट होते हैं वे मैं नहीं हूँ,[यतः अत्र ते समग्राः अपि मम परद्रव्यम्] क्योंकि वे सभी मेरे लिये परद्रव्य हैं' ॥ १८५॥

कलश १८५ पर प्रवचन

कलश में पहला शब्द 'मोक्षार्थी' आया है। मोक्षार्थी कहो या धर्मी कहो या ज्ञानी कहो – तीनों एकार्थक हैं। अनन्त सुखमय मोक्ष का आंशिक अनुभव

जिसे हुआ है वह मोक्षार्थी है। कलश टीका में मोक्षार्थी का अर्थ ऐसा किया है कि सकल कर्मों के क्षय से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख का जिसने उपादेयरूप अनुभव किया है – ऐसा जीव। अतीन्द्रिय आनन्द का अंश जिसके स्वाद में आया है तथा जो पूर्ण आनन्दं का अर्थी है, वह मोक्षार्थी है।

नियमसार में पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द के आत्मलाभ को मोक्ष कहा है तथा ऐसे मोक्ष का जो अर्थी, वह मोक्षार्थी है। पूर्ण आनन्दस्वरूप मोक्ष के कारणरूप मार्ग में जो स्थित है, वह मोक्षमार्गी ही मोक्षार्थी है। दूसरे प्रकार से कहें तो मोक्ष जिनका प्रयोजन है और जो मोक्ष के लिए ही निरन्तर प्रयत्नरत हैं वे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा मोक्षार्थी हैं।

अनन्त दुःख की दशा संसार है, इससे विपरीत अनन्त आनन्द की दशा मोक्ष है तथा जिसमें किंचित् आनन्द की दशा और किचिंत् दुःख की दशा है – वह साधक मोक्षार्थी है।

'मोक्षार्थी' को ही परिभाषित करते हुए कहते हैं कि – जिसमें ज्ञान व आनन्द पूर्ण स्वभाव विद्यमान है, उस भगवान आत्मा की जिसको दृष्टि हुई है, उसी का जिसे ज्ञान हुआ है और अन्दर में रमणतारूप आचरण प्रगट हुआ है, वह मोक्षार्थी है। ऐसे मोक्षार्थी के चित्त का चारित्र उदात्त है। अर्थात् उसके ज्ञान का आचरण उदार है, उच्च है, उज्ज्वल है। क्षण-क्षण में उसके आनन्द की रमणता वृद्धिंगत होती रहती है।

देखो, मोक्षार्थी के चित्त का आचरण अर्थात् ज्ञान का आचरण ! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में रमणता करना ही चेतन का आचरण है। चेतन का आचरण कहो या चित्त का आचरण कहो – दोनों एक ही बात है। यह चेतन का चारित्र अत्यन्त उदात्त है। उदात्त है अर्थात् उदार है। उच्च है, उज्ज्वल है। सम्यग्दृष्टि के ऐसा रागरहित आत्मोन्मुख आचरण होता है। ऐसा रागरहित आचरण करने में समकिती उदार होते हैं।

भगवान आत्मा शुद्ध चेतनास्वरूप है। उसमें अन्तर एकाग्र होकर उसी में रमना, ठहरना ही ज्ञान का आचरण है। देखो! समकिती को जो बाह्य व्रतादि

होते हैं, उस आचरण की बात नहीं है। यह रागरूप आचरण वस्तुतः आचरण ही नहीं है, इसे तो उपचार से आचरण कहा जाता है।

ज्ञान का चरित्र अर्थात् वीतरागी चरित्र। कलश टीकाकार ने तो "उदार चित्त चरितैः" का ऐसा अर्थ किया है कि – "संसार, शरीर, भोगों से रहित अभिप्राय है जिसका, वह उदार चित्त चरित वाला है।"

आलाप पद्धति में अध्यात्म के निश्चय व व्यवहार दो नय कहे हैं। वहाँ पूर्ण-शुद्ध-अभेद-एक को निश्चयनय के विषय में लिया है। कहने का अर्थ यह है कि – चेतन द्रव्य पूर्ण शुद्ध है, पूर्ण आनन्दरूप है, चारित्र की पूर्ण रमणतारूप है। अर्थात् आत्मा के स्वभाव में पूर्ण रमणतारूप चारित्र त्रिकाल विद्यमान है। वर्तमान पर्याय में भले रमणता कम है, परन्तु स्वरूप में तो चारित्र पूर्ण रमणतारूप है। अहा....! ऐसे आत्मा का आलम्बन लेकर जिसने आनन्द में रमणता करने रूप ज्ञान का आचरण प्रगट किया है और जिसको पूर्ण आनन्द के लाभ का प्रयोजन है, उस मोक्षार्थी के आचरण को यहाँ ज्ञान का आचरण कहा है। यहाँ रागरूप आचरण की तो बात ही नहीं है। ज्ञानी को राग होता है, पर उसका ज्ञानी को आदर नहीं है; वह तो उस व्यवहार का ज्ञायक मात्र रहता है।

कहते हैं कि – व्रतादि रूप राग की क्रिया निज वैभव सम्पन्न ज्ञानी का आचरण नहीं है। अन्दर प्रगट प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द की दशा निज वैभव है और वही मोक्षार्थी का आचरण है।

अब प्रचुर आनन्द में रहनेवाले मुनिराज आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि – जिसके चित्त का चरित्र उदात्त है, ऐसे मोक्षार्थियों को इस सिद्धान्त का सेवन करना चाहिए कि – 'मैं तो सदा से शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति स्वरूप ही हूँ।'

सिद्धान्त अर्थात् शाश्वत सिद्ध वस्तु। धर्मी जीव स्वयं को ऐसा अनुभव करता है कि – 'मैं सदा ही शुद्ध चिन्मय एकरूप परम चैतन्य ज्योतिस्वरूप ही हूँ।'

देखो, यहाँ 'सदा ही शुद्ध' – ऐसा कहा है। इसलिए कोई ऐसा कहे कि – "अशुद्ध पर्याय के समय त्रिकाली द्रव्य अशुद्ध हो जाता है" – तो उसका ऐसा कहना व मानना सही नहीं है। चेतनास्वभाव तो अन्दर में एकरूप-त्रिकाल शुद्ध ही है। समकिती अपने ऐसे अभ्यन्तर स्वरूप का जो अनुभव करता है, इसी का नाम धर्म है।

आगे कहते हैं कि – ये जो चैतन्य से भिन्न लक्षण वाले दया, दान, व्रत, भक्ति आदि अनेक प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वे 'मैं' नहीं हूँ। साधक दशा में मेरी पर्याय में असंख्य प्रकार के शुभाशुभ भाव होते हैं, वे भाव मुझसे भिन्न ही हैं। वे मैं नहीं हूँ।

प्रश्न – अभी-अभी पहले यह कह आये हैं कि "मैं सदा ही एकरूप शुद्ध चिन्मात्र हूँ।" तुरन्त वाद यहाँ यह कह रहे हैं कि – चेतना से भिन्न लक्षण वाले विविध भाव मेरी पर्याय में प्रगट होते हैं। आखिर आप कहना क्या चाहते हैं?

उत्तर – यहाँ कहने का प्रयोजन यह है कि – मोक्षमार्गी-धर्मी अपने को ऐसा अनुभव करता है कि – "वस्तुतः तो मैं एकरूप ही हूँ तथा ये भूमिकानुसार भिन्न लक्षणवाले अनेक प्रकार के शुभाशुभ भाव जो वर्तमान पर्याय में प्रगट होते रहते हैं, मैं उनस्वरूप नहीं हूँ; वे भाव मुझसे भिन्न ही हैं।"

लोग तो व्रत-तप आदि शुभभावों को साधन मानते हैं, जवकि यहाँ यह कह रहे हैं कि – "वे शुभभाव 'मैं' नहीं हूँ, अर्थात् वे मेरा स्वरूप नहीं हैं। पृथक लक्षण वाले ये अनेक भाव मेरी भूमिका में होते अवश्य हैं, परन्तु 'वे मैं नहीं', वे सव मेरे शुद्ध-एक-चिन्मयस्वभाव से भिन्न ही हैं। विकार लक्षणवाले हैं न ? इसलिए वे भिन्न ही हैं।"

एक समय की केवलज्ञान पर्याय परिपूर्ण है। जिस तरह इस पर्याय में अपने द्रव्य-गुण व तीनों काल की पर्यायों का तथा छह द्रव्यों का ज्ञान आ जाता है, पर पर्याय में द्रव्यगुण व छह द्रव्य प्रविष्ट नहीं हो जाते। उसी तरह ऋजुज्ञान की पर्याय में भी 'यह मैं हूँ' – ऐसे ध्रुव के अस्तित्व का और 'यह मैं नहीं

हूँ' – ऐसे रागादि का ज्ञान आ जाता है, पर रागादि पदार्थ ज्ञान की पर्याय में प्रवेश नहीं करते भिन्न ही रहते हैं। इस प्रकार स्व-स्वरूप में एकाग्र होकर परिणमन करते हुये ज्ञानी के स्वयं के ज्ञान में रागादि परभाव अपने त्रिकाली स्वभाव से भिन्न ही भासित होते हैं।

ज्ञानी कहते हैं – पर्याय में प्रगट होते हुये ये विविध शुभाशुभ भाव 'मैं नहीं हूँ' क्योंकि वे सव मेरे लिए परद्रव्य हैं। – ऐसा मैं जानता हूँ। अन्तर में शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट निर्मल रत्नत्रय की परिणति मेरे लिए 'स्व' द्रव्य है, रागादि भाव 'पर' द्रव्य हैं।

अहा ·····! जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म का वंध होता है, ऐसी षोडषकारण भावनाएँ भी मेरे लिए पर द्रव्य हैं – ऐसा कहते हैं। कर्मप्रकृति तो अजीव पर है ही, परन्तु जो व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प उत्पन्न होता है, वह भी मेरे लिए अजीव-परचीज है – ऐसा कहा है। समझ में आया ·····?

अव आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं :-

(अनुष्टुभ्)

अव आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं :-

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥ १८६॥

श्लोकार्थ – [परद्रव्यग्रहं कुर्वन्] जो परद्रव्यको ग्रहण करता है [अपराधवान्] वह अपराधी है [बध्येत एव] इसलिये बन्धमें पड़ता है, [स्वद्रव्ये संवृतः यतिः] और जो स्वद्रव्यमें ही संवृत है (अर्थात् जो अपने द्रव्यमें ही गुप्त-मग्न है – संतुष्ट है, परद्रव्यका ग्रहण नहीं करता) ऐसा यति [अनपराधः] निरपराधी है [न वध्येत] इसलिए वँधता नहीं है॥ १८६॥

कलश १८६ पर प्रवचन

परद्रव्य अर्थात् व्रत, तप, भक्ति, दया, दान आदि परभावों को जो अपने मानकर ग्रहण करता है, वह अपराधी है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग,

शास्त्र स्वाध्याय का राग और पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि व्यवहार रत्नत्रय के राग को धर्मी जीव परद्रव्य जानते हैं। उस राग को अपना मानना अपराध है और ऐसा अपराधी जीव बन्धन में पड़ता है। भाई! जितने व्यवहार के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे सब परद्रव्य हैं। उन्हें जो भला और स्व-द्रव्य जानता है, वह अपराधी है, चोर है।

अब कहते हैं कि जो स्वद्रव्य में ही संवृत है – ऐसा यति निरपराधी है। इस कारण वह बँधता नहीं है।

अहाहा .....। जो मुनिराज स्वद्रव्य में ही संतुष्ट रहकर अपने स्वरूप में ही रमते हैं, वे निरपराधी हैं। जो परद्रव्य व परभाव को नहीं चाहते, किन्तु नित्यानन्द-सहजानन्दस्वरूप स्वद्रव्य में ही गुप्त होकर तृप्त-तृप्त रहते हैं, वे निरपराधी हैं। इस कारण उन्हें बन्ध नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं कि – भाई ! वर्तमान में शुद्ध उपयोग तो है नहीं, इसलिए वर्तमान में तो पुण्य ही धर्म है। उनसे आचार्य कहते हैं कि भाई! तू यह क्या कह रहा है? शुद्धोपयोग नहीं है तो क्या पुण्य ही धर्म हो सकता है? यहाँ तो शुभभावों को परद्रव्य कहा है और इसे ग्रहण करने को अपराध कहा है। यह तो बन्धन है। अरे भाई ! पुण्य करके तो तू अनन्त बार नवमीं ग्रैवेयक तक गया, पर भवभ्रमण नहीं मिटा।

अहा ! परद्रव्य को, पुण्य को अपना मानना यह तो अपराध है और इसकी सजा चार गति में जन्म-मरण रूप जैल है।

प्रश्न – यदि शुभभावों को धर्म व धर्म का कारण नहीं मानेंगे तो फिर कोई पूजा-पाठ क्यों करेगा? मन्दिर भी क्यों बनायेगा और प्रतिमा भी क्यों पधरायेगा?

उत्तर – भाई ! आप चिन्ता क्यों करते हो ? मन्दिर और प्रतिमा तो अपने-अपने स्वसमय में, स्वयं की, तत्समय की योग्यता से बनते हैं; उन्हें बनाता ही कौन है ? कोई नहीं बनाता। लोग तो झूठा अभिमान ही करते हैं।

परद्रव्य की क्रिया कौन कर सकता है? और धर्मात्मा को धर्मायतन बनाने का राग आये विना रहता नहीं है। अतः जब उनके बनने का काल आता है तो निमित्त रूप में धर्मात्मा भी बनाने के विकल्प में तैयार रहते हैं, पर राग के ये विकल्प हैं अपराध ही। यह विकल्प आना निरपराध दशा नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि पर द्रव्यों को – व्यवहार के विकल्पों को जो ग्रहण ही नहीं करते, वे यति निरपराधी हैं। मुनिराजों को व्यवहार के विकल्प आते हैं, पर उनका मुनियों को बहुमान नहीं है। वे इनसे लाभ भी नहीं मानते और इन्हें अपना भी नहीं मानते। अहा·····! ऐसे मुनिराज निरपराधी हैं। इन्हें बन्ध नहीं होता। जो अल्पबन्ध होता भी है, उसे स्वभाव की दृष्टि की मुख्यता में गिना नहीं जाता, क्योंकि धर्मी इसे परद्रव्य जानता है।

थेयादी अवराहे जो कुव्वदि सो उ संकिदो भमइ ।
मा बज्झेज्जं केण वि चोरो त्ति जणम्हि वियरंतो ॥३०१॥
जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि ।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥३०२॥
एवम्हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा ।
जइ पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ॥३०३॥

स्तेयादीनपराधान् यः करोति स तु शंकितो भ्रमति ।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ॥३०१॥
यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जनपदे भ्रमति ।
नापि तस्य बद्धुं यच्चिंतोत्पद्यते कदाचित् ॥३०२॥
एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयिता ।
यदि पुनर्निरपराधो निश्शंकोऽहं न बध्ये ॥३०३॥

यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु तं न करोति तस्य सा न संभवति; तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्य-ग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु शुद्धः संस्तं न करोति तस्य सा न संभवतीति नियमः। अतः सर्वथा सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात्।

अपराध चौर्यादिक करें जो पुरुष वे शंकित रहें ।
कि चोर है यह जानकर कोई मुझे ना बाँध लें ॥३०१॥
अपराध जो करता नहीं निःशंक जनपद में रहे ।
बंध जाऊँगा ऐसी कभी चिन्ता न उसके चित रहे ॥३०२॥
अपराधि जिय 'मैं बधूँगा' इसतरह नित शंकित रहे ।
पर निरपराधी आतमा भयरहित है निःशंक है ॥३०३॥

गाथार्थ – [यः] जो पुरुष [स्तेयादीन् अपराधान्] चोरी आदिके अपराध [करोति] करता है [सः तु] वह '[जने विचरन्] लोकमें घूमता

हुआ [केन अपि] मुझे कोई [चौरः इति] चोर समझकर [मा बध्ये] पकड़ न ले', इसप्रकार [शंकितः भ्रमति] शंकित होता हुआ घूमता है; [यः] जो पुरुष [अपराधान्] अपराध [न करोति] नहीं करता [सः तु] वह [जनपदे] लोकमें [निश्शंकः भ्रमति] निःशंक घूमता है, [यद्] क्योंकि [तस्य] उसे [बद्धुं चिन्ता] बँधनेकी चिन्ता [कदाचित् अपि] कभी भी [न उत्पद्यते] उत्पन्न नहीं होती। [एवम्] इसीप्रकार [चेतयिता] अपराधी आत्मा [सापराधः अस्मि] मैं अपराधी हूँ [बध्ये तु अहं] इसलिए मैं बँधूगा' इसप्रकार [शंकितः] शंकित होता है, [यदि पुनः] और यदि [निरपराधः] अपराध रहित (आत्मा) हो तो [अहं न बध्ये] 'मैं नहीं बँधूँगा' इसप्रकार [निश्शंकः] निःशंक होता है।

टीका – जैसे इस जगतमें जो पुरुष, परद्रव्यका ग्रहण जिसका लक्षण है ऐसा अपराध करता है उसीको बन्धकी शंका होती है और जो अपराध नहीं करता उसे बन्धकी शंका नहीं होती, इसीप्रकार आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ, परद्रव्यका ग्रहण जिसका लक्षण है ऐसा अपराध करता है उसीको बन्धकी शंका होती है तथा जो शुद्ध वर्तता हुआ अपराध नहीं करता उसे बन्धकी शंका नहीं होती – ऐसा नियम है। इसलिए सर्वथा समस्त परकीय भावोंके परिहार द्वारा (अर्थात् परद्रव्यके सर्व भावोकों छोड़कर) शुद्ध आत्माको ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है।

भावार्थ – यदि मनुष्य चोरी आदि अपराध करे तो उसे बन्धनकी शंका हो; निरपराधको शंका क्यों होगी? इसीप्रकार यदि आत्मा परद्रव्यका ग्रहणरूप अपराध करे तो उसे बन्धकी शंका अवश्य होगी; यदि अपनेको शुद्ध अनुभव करे, परका ग्रहण न करे, तो बन्धकी शंका क्यों होगी? इसलिए परद्रव्यको छोड़कर शुद्ध आत्माका ग्रहण करना चाहिए। तभी निरपराध हुआ जाता है।

गाथा ३०१ से ३०३ एवं टीका पर प्रवचन

देखो, कहते हैं कि आत्मा भी अशुद्ध-रागरूप वर्तता हुआ अपराधी है। अशुद्धता परद्रव्य है। इसकारण परद्रव्य में प्रवर्तन करता हुआ जीव अपराध

करता है। दया, दान, भक्ति आदि के भाव परद्रव्य हैं और उनमें एकत्वबुद्धि का होना, इन्हें अपने भाव मानना अपराध है।

दुनिया में जो छह-छह माह के उपवास करते हैं न ? और उनके महोत्सव मनाते हैं, जुलूस निकालते हैं, आचार्य कहते हैं कि इन्हें करने में धर्म होना बहुत दूर ···· इनमें जो एकत्वबुद्धि वर्तती है, ये मैंने किये और इनसे मुझे धर्म का लाभ है – ऐसा मानना अपराध है। गजब बात है न ?

अहाहा ····! आत्मा चैतन्य प्रकाश का पुंज है, उसे छोड़ पुण्य-पाप के भावों को अपना मानकर जो प्रवर्तन करते हैं, वे गूढ़ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, अपराधी हैं – ऐसा कहते हैं।

अहा ····। अरहंत भगवान को जिसमें से अनन्त ज्ञान व अनन्त आनन्द प्रगट होता है – ऐसी ज्ञान व आनन्द की शक्ति प्रत्येक आत्मा में पूर्ण पड़ी है। वह कहीं बाहर से प्रगट नहीं होती। जो अन्दर में शक्तिरूप से विद्यमान है, वही अरहंत दशा में प्रगट होती है।

पंचास्तिकाय में जहाँ यह सिद्ध किया है कि – द्रव्य गुण व पर्याय – तीनों एक द्रव्य के हैं, अन्य द्रव्य से भिन्न एक सत्ता है – वहाँ "द्रवति इति द्रव्यम्" जो द्रवित होता है वह द्रव्य – ऐसा कहा है। वहां यह बताना चाहते हैं कि – अशुद्ध पर्याय भी स्वयं द्रव्य से द्रवित होती है। वहाँ पर्याय द्रव्य की है – ऐसा एक अस्तित्व (सत्ता) सिद्ध करने का उद्देश्य है। जिस तरह समुद्र में तरंग उठती है, वह समुद्र की है, उसी तरह द्रव्य में जो पर्याय उठती है, वह द्रव्य की है। पंचास्तिकाय गाथा २७ में जहाँ यह आता है कि राग-द्वेष का कर्त्ता आत्मा है, वहाँ विकार आत्मा की पर्याय में होता है – ऐसा बताया गया है।

पर ध्यान रहे, जहाँ अध्यात्म की दृष्टि करानी हो, द्रव्यदृष्टि से बात कही गई हो, वहाँ ऐसा आता है कि – पर्याय द्रव्य में नहीं है और वह द्रव्य से उत्पन्न नहीं होती; पर्याय का कर्त्ता द्रव्य नहीं, बल्कि पर्याय स्वयं पर्याय से उत्पन्न होती है।

परमात्मप्रकाश गाथा ६८ में ऐसा आया है कि – त्रिकाली आनन्दस्वरूप प्रभु आत्मा ही एक परमार्थ वस्तु है। वह आत्मा मोक्षमार्ग आदि पर्यायों का कर्त्ता नहीं है। जहाँ शुद्ध द्रव्य की दृष्टि करानी हो, वहाँ कहते हैं कि सुन! तेरे अन्दर जो नित्यानन्द प्रभु विराजता है, वह कभी भी पर्याय को नहीं करता। आत्मा तो आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु स्वभाव से सिद्ध सदृश है। जिस तरह भगवान सिद्ध में राग-द्वेष नहीं; उसी तरह भगवान आत्मा में – त्रिकाली द्रव्य में राग-द्वेष नहीं है। यदि इसमें स्वभावतः राग-द्वेष हों तो कभी नष्ट ही नहीं हो सकेंगे।

प्रश्न – एक ओर रागादि का कर्त्ता कहते हो और तुरन्त बाद दूसरी ओर अकर्त्ता कहने लगते हो – यह बात कुछ समझ में नहीं आती ?

उत्तर – आचार्य कहते हैं राग में वर्तता, राग में एकत्व करता या रागादि का कर्त्ता माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है और शास्त्र में उसे रागादि का कर्त्ता कहा जाता है। तथा ज्ञानी के रागादि में एकत्व, ममत्व, कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व ही नहीं; अतः वह विकार का अकर्त्ता ही है। जहाँ जो अपेक्षा हो, उस कथन को यथार्थ समझना चाहिए। अपेक्षा से यथार्थ बात समझ ले तो विरोध उत्पन्न नहीं होता।

भगवान का निरूपित मार्ग तो ऐसा ही है। इसमें कोई क्या कर सकता है? वस्तुस्थिति ही ऐसी है। भगवान ने कुछ किया नहीं है। उन्होंने तो जैसी वस्तुस्थिति है वैसी जानी है और वैसी ही दिव्यध्वनि में प्रगट हो गई है।

भगवान कहते हैं कि – जो कोई भी जीव अपने शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को छोड़कर पुण्य परिणाम में (व्यवहार में) अपनेपन से वर्तता है, वह अपराधी है और उसे स्वयं शंका होती है कि मैं बँधता हूँ। ऐसी शंका वाला स्वयं बन्धन में पड़ता ही है।

परन्तु जो शुद्ध प्रवर्तन करता हुआ अपराध नहीं करता, उसे बंधन की शंका ही नहीं होती। अहाहा ····! 'मैं तो ज्ञानानन्द स्वभावी प्रभु एक शुद्ध चिन्मात्र आत्मा हूँ' – जो ऐसी अनुभवरूप ! वर्तमान दशा में वर्तता है, वह अपराधी नहीं है। ऐसे आत्मा को बन्धन की शंका नहीं होती – ऐसा नियम है।

अब कहते हैं कि – उपर्युक्त सर्व परभावों की दृष्टि छोड़कर शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना, शुद्ध आत्मा में ही दृष्टि स्थिर करना, उसे ही ज्ञान का ज्ञेय बनाना, उसी में लीनता करना, क्योंकि तभी निरपराध दशा होती है।

जीवों की दया का जो विकल्प आता है, उसे यहाँ परद्रव्य कहा है, वह परभाव है और उसे ग्रहण करना अपराध है। बापू! पर की दया तो कोई पाल ही नहीं सकता। परजीव तो अपनी आयु से बचते हैं एवं आयु के क्षीण होने पर मरते हैं। किसी के बचाने से कोई आज तक बचा ही नहीं है फिर भी जो ऐसा मानता है कि मैं जीवों को बचा सकता हूँ। पर यह मान्यता मिथ्यात्व है।

यद्यपि परजीवों को कोई बचा नहीं सकता; परन्तु बचाने का भाव ज्ञानियों को भी आता अवश्य है। लेकिन ज्ञानी उसे ग्रहण नहीं करता; अपना नहीं मानता; क्योंकि वह ऐसा जानता है कि परभाव का ग्रहण अपराध है। यदि वह परभाव को अपना मानकर वर्तन करे तो वह नियम से मिथ्यादृष्टि है।

जितने भी दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभ विकल्प उठते हैं, वे सब परद्रव्य हैं, परभाव हैं, वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। 'उन सर्व परभावों का सर्वथा परिहार करके' इस वाक्य में सर्व व सर्वथा – ये दो शब्द आये हैं। इनका अर्थ यह है कि समस्त शुभाशुभ परभावों का सर्वथा लक्ष्य छोड़कर निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानानन्द-स्वरूपी आत्मा को जानना, अनुभव करना तथा इसी में दृष्टि लगाकर स्थिर होना। यही शुद्ध आत्मा का ग्रहण है और यही निरपराध दशा है।

यहाँ भावार्थ में कहते हैं कि – जो चोरी आदि अपराध करता है, उसे भय होता है कि – 'मुझे कोई बन्धन में डालेगा', निरपराधी को भय का क्या काम ? जो निरपराध है, वह तो निर्भय ही है; उसे बन्धन का भय नहीं होता।

इसीप्रकार जो जीव परभावों को – शुभाशुभ राग को ग्रहण करता है तो उसको बंध की शंका होती ही है। तथा जो स्वयं को शुद्ध अनुभव करता है, पर को ग्रहण नहीं करता तो उसको बन्धन की शंका नहीं होती।

इसलिए सर्व शुभाशुभ राग का भी लक्ष्य छोड़कर अपने शुद्ध-एक-चैतन्य भाव को ग्रहण करने से निरपराध होते हैं। यह है निरपराध होने की रीति।

को हि नामायमपराधः ?

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ॥३०४॥
जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणाइ णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥३०५॥

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थम् ।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥३०४॥
यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शंकितस्तु स भवति ।
आराधनया नित्यं वर्तते अहमिति जानन् ॥३०५॥

परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः। अपगतो राधो यस्य चेतयितुः सोऽपराधः। अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधः, तेन सह यश्चेतयिता वर्तते स सापराधः। स तु परद्रव्यग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्ध्यभावाद्बन्धशंकासंभवे सति स्वयमशुद्धत्वादनाराधक एव स्यात्। यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावाद्बन्धशंकाया असंभवे सति उपयोगैकलक्षणशुद्ध आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादाराधक एव स्यात्

अब प्रश्न होता है कि यह 'अपराध' क्या है ? उसके उत्तर में अपराध का स्वरूप कहते हैं –

साधित अराधित राध अर संसिद्धि सिद्धि एक है ।
बस राध से जो रहित है वह आतमा अपराध है ॥३०४॥
अपराध है जो आतमा वह आतमा निःशंक है ।
'मैं शुद्ध हूँ' – यह जानता आराधना में रत रहे ॥३०५॥

गाथार्थ – [संसिद्धिराधसिद्धं] संसिद्धि, *राध, सिद्ध [साधितम् आराधितं च] साधित और आराधित – [एकार्थम्] ये एकार्थवाची शब्द हैं;

राध = आराधना; प्रसन्नता; कृपा; सिद्धि; पूर्णता; सिद्ध करना; पूर्ण करना ।

[यः खलु चेतयिता] जो आत्मा [अपगतराधः] 'अपगतराध' अर्थात् राध से रहित है [सः] वह आत्मा [अपराधः] अपराध [भवति] है।

[पुनः] और [यः चेतयिता] जो आत्मा [निरपराधः] निरपराध है [सः तु] वह [निश्शंकितः भवति] निःशंक होता है; [अहं इति जानन्] 'जो शुद्ध आत्मा है सो ही मैं हूँ' ऐसा जानता हुआ [आराधनया] आराधना से [नित्यंवर्तते] सदा वर्तता है।

टीका – परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन सो राध है। जो आत्मा 'अपगतराध' अर्थात् राधरहित हो वह आत्मा अपराध है। अथवा (दूसरा समासविग्रह इसप्रकार है:) जो भाव राध रहित हो वह भाव अपराध है; उस अपराधयुक्त जो आत्मा वर्तता हो वह आत्मा सापराध है। वह आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव द्वारा शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव के कारण बन्ध की शंका होती है इसलिये स्वयं अशुद्ध होने से, अनाराधक ही है। और जो आत्मा निरपराध है वह, समग्र परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव के कारण बन्ध की शंका नहीं होती इसलिये 'उपयोग ही जिसका एक लक्षण है ऐसा एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ' इसप्रकार निश्चय करता हुआ शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसी आराधनापूर्वक सदा वर्तता है इसलिए, आराधक ही है।

भावार्थ – संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित – इन शब्दों का एक ही अर्थ है, यहाँ शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन का नाम 'राध' है। जिसके वह राध नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके वह राध है वह आत्मा निपराध है। जो सापराध है उसे बन्ध की शंका होती है इसलिये वह स्वयं अशुद्ध होने से अनाराधक है। और जो निरपराध है वह निःशंक होता हुआ अपने उपयोग में लीन होता है इसलिये उसे बन्ध की शंका नहीं होती, इसलिये 'जो शुद्ध आत्मा है वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है।

गाथा ३०४-३०५ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

अहा ....। अनादि से जीवों को पुण्य-पाप भावों की सिद्धि थी। 'पुण्य-पाप का विकार ही मैं हूँ' - ऐसा इसे मिथ्यात्वरूप अपराध का सेवन हो रहा था।

अब जब इसी आत्मा ने गुलांट खाई, चिन्तन में परिवर्तन किया और ऐसा जाना-माना कि मैं तो शुद्ध चिदानन्द प्रभु आत्मा हूँ - इसप्रकार जब से इसे यथार्थ ज्ञान, श्रद्धान व रमणता हुई, तबसे उसे पर्याय में शुद्ध आत्मा की सिद्धि हो गई। यह साधक भाव ही 'राध' है, आत्मा का सेवन है - ऐसा कहते हैं। इसी का नाम धर्म व मोक्षमार्ग है।

कहने का तात्पर्य यह है कि - निर्मलानन्द भगवान आत्मा का आश्रय करने से जो अन्दर में साधक भाव प्रगट हुआ, निर्मल रत्नत्रय प्रगट हुआ, उसमें भगवान आत्मा की सिद्धि हुई।

भाई! बात बहुत सूक्ष्म है। कभी सुनी नहीं है न? इसलिए कठिन पड़ती है। प्रभु! एक बार सुन तो सही! व्रत करना, तप करना - आदि क्रियायें तो राग हैं और राग अपराध है; अपवित्र, अशुद्ध, बाधक व विराधक भाव है; बंध का कारण है। एक भगवान आत्मा ही परम पवित्र अबंध है। इसे दृष्टि में स्वीकार करना व इसी में लीनता करना ही आत्मा की सिद्धि है।

यहाँ कहते हैं कि - जिसमें आत्मा की सिद्धि होती है, वह साधक भाव ही राध है। वह साधकपना ही भगवान आत्मा की सेवा है।

लोग जन सेवा को प्रभु सेवा कहते हैं; परन्तु भाई ! पर की सेवा कौन कर सकता है ? आत्मा एक उंगली को भी तो अपनी इच्छानुसार ऊँचा-नीचा नहीं कर सकता; क्योंकि वह परद्रव्य है न? जब परद्रव्य का परिणमन करना संभव ही नहीं है तो कौन/किसकी सेवा करे? कैसे करे? अरे! जो राग की सेवा करता है, वह भी अज्ञानी है।

भाई! पर की ओर के लक्ष्य वाले सभी भाव, चाहे वे हिंसादि पाप भाव हों या अहिंसादि पुण्य भाव हों - वे सर्व भाव अपराध हैं। वे भाव बंध साधक

हैं। जो उन भावों का सेवन करता है, वह बंध का ही सेवन करता है और उससे संसार की ही सिद्धि व वृद्धि होती है। ऐसा यथार्थ जानकर जो समस्त परभावों से विमुख होकर आत्मा के सन्मुख होता है, भगवान आत्मा के निर्मल ज्ञान, श्रद्धान एवं अन्तर रमणता रूप चारित्र प्रगट करता है, उसको आत्मा की सिद्धि होती है; आत्मा प्राप्त होता है। ऐसी शुद्धात्मा की सिद्धि ही मोक्ष का साधन है।

अहा ····! जिस तरह कोई व्यक्ति गाय के थन में से दूध दुहता है, उसी तरह आचार्य अमृतचन्द्र ने भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की गाथाओं में भरे भावों को निकाल-निकाल कर हमें समझाने का प्रयास किया है।

भाई ! तू सुन तो सही। भगवान ! तू तीन लोक का नाथ प्रभु अन्दर अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द से पूर्ण भरा हुआ परमेश्वर है। तथा पर्याय में जो ये शुभाशुभ वृत्तियां उठती हैं, वे अपराध हैं; दुःख हैं। इसलिए परभावों से हटकर उपयोग को अन्तर्मुख करके शुद्ध आत्मा का ज्ञान कर। और दृष्टि को उसी में स्थिर करके अन्तर रमणता कर! अहा! शुद्ध स्वरूप का ज्ञान-श्रद्धान व रमणता ही आत्मा की सिद्धि है और यही साधकपना है। यही आत्मा की सेवा है।

समयसार गाथा १७-१८ में आया है कि – आबाल-गोपाल सबकी ज्ञान पर्याय में आत्मा जानने में आ रहा है। भाई ! तेरी ज्ञान की दशा में स्वज्ञेय भगवान आत्मा ज्ञात हो रहा है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है न ? इस कारण अज्ञानी को भी आत्मा तो ज्ञात हो रहा है। पर क्या करे ? उसकी दृष्टि आत्मा पर नहीं है। उसकी दृष्टि बाहर में पर एवं राग के ऊपर है; निमित्तादि पदार्थों पर है। उसकी बहिरात्मदृष्टि है, इस कारण उसे पर का तथा रागादि का ही अस्तित्व भासित होता है। किन्तु जब यही जीव गुलांट मारकर अर्थात् अपनी दृष्टि को पलटकर अन्दर में पूर्णानन्द के अस्तित्व को देखता है, तो इसे ऐसा भासित होने लगता है कि – "मैं तो शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु आत्मा हूँ।"

इसप्रकार अन्तर्दृष्टिवंत को आत्मा की सिद्धि हो जाती है। यही साधक भाव है और यही राध है।

अब कहते हैं कि – जो आत्मा राध रहित अर्थात् शुद्धस्वरूप की सेवा से रहित है; साधकपने से रहित है, तथा आत्मा की सिद्धि से रहित है; वह अपराध है। शुद्ध आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान व आचरण से रहित है वह आत्मा अपराध है। देखो, जीव कर्म के या निमित्त के जोर के कारण अपराधी नहीं है; परन्तु साधकपने से रहित है; शुद्ध आत्मा के सेवन से रहित है; इस कारण अपराधी है।

अब कहते हैं कि 'अथवा जो भाव राध रहित हो, वह अपराध है।'

देख़ो, पहले यह कह आये हैं कि जो आत्मा राध रहित है, वह अपराध है तथा अब यहाँ ऐसा कहा है कि जो भाव राध रहित है, वह अपराध है। यहाँ आत्मा और भाव को एकार्थवाची लिया है।

अब कहते हैं कि – जो आत्मा राध रहित अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप की सेवा से रहित है, साधकपने से रहित है अथवा आत्मा की सिद्धि से रहित है, वह अपराध है। शुद्ध आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान व आचरण से रहित है, वह आत्मा अपराध है। वह अपराध अन्य किसी के कारण नहीं, बल्कि स्वयं के कारण ही है।

इसी 'अपराध' शब्द का दूसरे प्रकार के समास विग्रह के अनुसार 'जो भाव राध रहित हो, वह अपराध है।'

जिन भावों से शुद्ध आत्मा का सेवन न होता हो, वे सर्व रागादि भाव अपराध हैं तथा जिसका भाव अपराध है, वह आत्मा अपराध है।

अब कहते हैं – आत्मा तो शुद्ध चैतन्य प्रभु है। परन्तु जो आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य की सन्मुखता का अनादर करने वाले पुण्य-पाप आदि रागभावों में वर्तता है, वह सापराध है। प्रत्येक आत्मा अन्दर में तो अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप भगवान स्वरूप से विराज रहा है, पर अज्ञानी को यह बात समझ में नहीं आ सकती। जिसे अपने शुद्ध अस्तित्व का भान नहीं है, वह अज्ञानी तो पुण्य आदि व्यवहार भावों में मशगूल-एकमेक होकर वर्तता है। अतः वह जीव सापराध है।

अव कहते हैं कि रागादि परभावों के ग्रहण से उन्हें शुद्ध आत्मा की असिद्धि है – अप्राप्ति है। रागादि भाव परद्रव्य हैं और उनका ग्रहण करना अपराध है।

कुछ लोग महाव्रतादि शुभरागरूप भावों को चारित्र व धर्म मानते हैं। परन्तु भाई! महाव्रतादि के परिणाम शुभभाव हैं और वे परद्रव्य हैं। परद्रव्य होने से उन्हें ग्रहण करना अपराध है; क्योंकि वह आत्मा की वस्तु नहीं है, परवस्तु है। अतः उसे ग्रहण करना या सेवन करना अपराध है। मुनिराज भी उन्हें अपराध ही समझते हैं। किसी भी राग को भला जानना-मानना एवं अपना मानना अपराध है।

अहा .....! जो जीव राग की आराधना करता है, वह सापराध है। और उसे आत्मा की सिद्धि का अभाव है।

टीका में 'अनाराधक ही है' – ऐसा जो मूल पाठ है, उसका अर्थ यह है कि किसी भी प्रकार से वह आत्मा का आराधक नहीं है। भाई ! आत्मा के निर्मल ज्ञान, श्रद्धान व आचरण के सिवाय जो भी व्यवहार का क्रियाकाण्ड है, वह सव आत्मा का अनाराधक भाव है।

अव कहते हैं कि जो निरपराध है, उसे समग्र परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि का सद्भाव है। अहाहा .....! ऐसे धर्मी जीवों को समस्त परद्रव्यों के अर्थात् रागादि भावों के परित्याग की भावना है और शुद्ध आत्मा की सिद्धि का सद्भाव है। धर्मी जीव एक शुद्ध आत्मा में ही लीन वर्तता है, इस कारण उसे वन्ध की शंका नहीं होती।

धर्मी जीव को तो अन्तरंग में यह निश्चय हुआ है कि – उपयोग लक्षण एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ, रागादि व्यवहार मैं नहीं हूँ। रागादि तो परद्रव्य-वन्ध का लक्षण है। भाई ! मार्ग तो यह एक ही है। शुभराग-शुभोपयोग भी परद्रव्य है। और उसे ग्रहण करना अपराध है, मिथ्यात्वभाव है।

प्रश्न – जव शुभोपयोग भी परद्रव्य है तो स्त्री-पुत्र परिवार और देहादि को अपना मानने वालों का क्या होगा ?

उत्तर – बापू ! ये क्या तेरे हैं ? भाई ! ये तो प्रत्यक्ष परजीव हैं। इन्हें अपना मानना तो महा मिथ्यात्व है, यहाँ तो विशेष समझने की बात यह है कि दया, दान, व्रत, भक्ति का राग परद्रव्य है। क्योंकि वह सब निकल जाने वाला भाव है और सिद्ध दशा में निकल ही जायेगा। हे आत्मन ! एक ज्ञाता-दृष्टा ही तेरा स्वरूप है। ज्ञाता-दृष्टा के सिवाय अन्य कोई तेरा स्वरूप नहीं है।

अहा ! चौथे गुणस्थान में रहते सम्यग्दृष्टि जीव के अंतरंग में ऐसा दृढ़ निश्चय होता है कि यह उपयोग लक्षण एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ। लौकिक जगत जिसे धर्म मानता है – वह शुभराग मेरा लक्षण नहीं है। जगत के जीव कुछ भी मानें, पर रागादि भाव कभी भी मेरे हुए ही नहीं, हैं ही नहीं, और होंगे भी नहीं। मैं तो परम पवित्र शुद्ध-एक-उपयोग लक्षण जीव ही हूँ।

अहाहा ····! धर्मी सदा ऐसे दृढ़ ज्ञान-श्रद्धान सहित आत्मा की आराधना करता है। जिसकी दृष्टि के विषय में अपना पूर्ण परमेश्वर प्रभु आत्मा वर्तता है, वह जीव आराधक है। उसे ही आत्मा का सेवन करने वाला साधक कहा जाता है। मैं शुद्धोपयोगमय ही हूँ – जिसे अन्तरंग में ऐसा दृढ़ श्रद्धान हुआ है, वह सदा ही आराधक है। भाई ! कभी द्रव्य का आश्रय और कभी राग का आश्रय हो – ऐसा धर्मी का स्वरूप नहीं। धर्मी के तो निरन्तर एक शुद्ध आत्मद्रव्य का ही आश्रय होता है।

प्रश्न – तो क्या धर्मी के व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि होते ही नहीं हैं?

उत्तर – कौन कहता कि धर्मी के व्रत-तप आदि होते नहीं हैं, परन्तु इन्हें वह शुभरागरूप होने से अपराध मानता है धर्म नहीं। उसे जो शुभराग होता है, उसका वह ज्ञाता होता है। राग को मात्र जानता ही है, आदरने लायक नहीं मानता।

आचार्य योगीन्दुदेव ने तो पुण्य-पाप को एक कोटि में रखते हुए बहुत स्पष्ट लिखा है :-

"पाप तत्त्व को पाप तो जाने सब जग कोय ।
पुण्य तत्त्व भी हेय है, कहे अनुभवी बुध कोय ॥"

अरे भाई ! 'एक उपयोगमय शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ' – ऐसा यथार्थ श्रद्धान हुए बिना ज्ञान व आचरण कहाँ से हो ? इसके बिना कोरा बाह्य क्रियाकाण्ड तो सब व्यर्थ ही है।

(भाई! राग की दृष्टि में वर्तने वाला जीव मर कर कहाँ जायेगा ? यह जड़ देह तो यहीं जलकर भस्म हो जायेगी; पर जीव कहाँ जायेगा ? सोचा कभी ?)

अहा ....! जिसने राग को – पुण्यभाव को अपना माना है, वह तो राग के दुःख के वेदन में ही जीयेगा। वह तो चारगति में दुःख के वेदन में ही जीयेगा। तथा जिसको शुद्धात्मा की ऐसी प्रतीति हो गई कि 'मैं तो एक उपयोगमय शुद्ध आत्मा ही हूँ', वह शुद्ध आत्मा की दृष्टिपूर्वक आराधक हुआ है। वह जहाँ भी जायेगा, वहाँ आत्मा में ही रहेगा।

देखो न ! श्रेणिक राजा की आयु पहले मिथ्यात्व दशा में बंध गई थी तो वह मरण करके प्रथम नरक में गये। पर आयु बंध के बाद उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई, उससे वे आज देह से नरक में रहकर भी आत्मा से आत्मवासी हैं। वे वहाँ नरक में तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति बाँध रहे हैं और आने वाली चौबीसी में पहले तीर्थंकर होंगे।

अहा ! नरक में हो तो भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने को शुद्ध चैतन्यस्वरूप सदा उपयोग स्वरूप ही देखता है। वैसा ही श्रद्धान करता है। उसे रागादि परिणाम आते हैं तो भी वह उन्हें आत्मभूत नहीं मानता।

भाई! यह बात पंचमकाल के मुनिवर पंचमकाल के जीवों से कह रहे हैं। जो ऐसा मानते हैं कि यह बात तो बहुत ऊँची है, चौथे काल के जीवों के लिए कही गई है; उनसे कहते हैं कि भाई ! चौथे काल से इस सिद्धान्त का क्या सम्बन्ध? आत्मा का कल्याण करने में काल की अपेक्षा नहीं होती। जीव अपने कल्याण के लिए काल का मुँह क्यों ताके? आत्मा के कल्याण में काल की कोई पराधीनता नहीं है।

गाथा ३०४-३०५ के भावार्थ पर प्रवचन

संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित शब्दों का अर्थ एक ही है। संसिद्धि अर्थात् सम्यक् प्रकार से सिद्धि होना; आत्मा जैसा शुद्ध एक-उपयोगमय है, वैसा दृष्टि, ज्ञान व चारित्र में आना, तद्रूप परिणत होना। आत्मा का सम्यक् ज्ञान, श्रद्धान व चारित्र प्रगट होने पर आत्मा की जो सिद्धि - प्राप्ति होती है, वही संसिद्धि है।

श्री जयसेनाचार्य की टीका में 'संसिद्धि' का अर्थ 'राधन' किया है। मूल में तो 'राध' कहा है। भगवान आत्मा चैतन्य महाप्रभु जैसा है, वैसा इसका ज्ञान-श्रद्धान होना और उसी में रमणता रूप चारित्र का प्रगट होना राध है, राधन है। इसे ही आत्मा का आराधन कहते हैं।

अहा ! भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दघन-एक-जानने-देखने के उपयोग स्वरूप मात्र है। उसका ज्ञान-श्रद्धान करके उसी में स्थिरता करना शुद्ध आत्मा की सिद्धि है। दर्शन-ज्ञान में शुद्ध आत्मा ज्ञात हो गया - यही आत्मा की सिद्धि है और यही 'राध' है।

जिसे ऐसा 'राध' प्राप्त नहीं है, वह सापराध है तथा जिसको यह 'राध' प्राप्त हो गया है, वह निरपराध है।

देखो ! भगवान की पूजा, भक्ति आदि का जो राग है, वह पूर्णता प्राप्त न होने तक धर्मी के जीवन में आये विना नहीं रहता। पर धर्मी की दृष्टि उस राग पर नहीं रहती; वह उसे उपादेय नहीं मानता। अशुभ से वचने के लिए वह शुभराग का भाव उसे आता ही है।

देखो ! जो सापराध है, उसे वंध की शंका होती है। इसलिए वह स्वयं अशुद्ध है। इस कारण वह अनाराधक है। राग-व्यवहार है; वह अशुद्ध है और उस अशुद्धता को जो अपनी वस्तु मानता है, वह अशुद्धता का आराधक है। इसलिए वह आत्मा का अनाराधक है।

जो निरपराध है, वह निःशंक है। वह अपने उपयोग में लीन होता है। धर्मी अपने ज्ञान-दर्शनमय आत्मा में लीन है। उसे जो राग आता है, वह उसे मात्र

जानता है। राग है, इसलिए जानता है – ऐसा नहीं; अपने सहज सामर्थ्य के द्वारा ही ज्ञान राग को जानता है। स्व को और पर को जानना ज्ञान की सहज सामर्थ्य है।

लोकालोक है, इसलिए केवलज्ञान उसे जानता है – ऐसा नहीं है। केवलज्ञान को केवलज्ञान रूप होने के लिए लोकालोक की पराधीनता नहीं है। केवलज्ञान की पर्याय स्वयं से ही है। वह पर्याय सहज अपने सामर्थ्य से प्रगट हुई है। लोकालोक तो अनादि से है और केवलज्ञान तो स्वाश्रय से नया प्रगट होता है। अतः केवलज्ञान व लोकालोक में मात्र ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध है, अन्य कुछ भी नहीं।

यहाँ कहते हैं – 'धर्मी निःशंक होकर अपने उपयोग में लीन होता है उसे बंध की शंका नहीं होती।' अहा…'शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ' – ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र व तप के एकभाव रूप निश्चय आराधना का आराधक ही है। देखो, निश्चय आराधना एकभावरूप-वीतरागभाव रूप, आनन्दभाव रूप-चैतन्यभाव रूप है। आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र व तप – ये सब वीतरागभाव रूप-एकभावरूप हैं।

अहा …! शुद्ध चैतन्य में लीन होने रूप प्रवर्तना तप है और 'उपवसति इति उपवासः' – आत्मा के समीप बसना उपवास है। लो, इसके सिवाय शेष सब अपवास अर्थात् मठवास है।

इस प्रकार जिसके निर्मल रत्नत्रय प्रगट हुआ है, वह धर्मी जीव एकभाव रूप निश्चय आराधना का आराधक ही है।

(मालिनी)

अनवरतमनंतबध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

श्लोकार्थ – [**सापराधः**] सापराध आत्मा [**अनवरतम्**] निरन्तर [**अनन्तैः**] अनन्त पुद्गलपरमाणुरूप कर्मोंसे [**बध्यते**] बँधता है; [**निरपराधः**] निरपराध आत्मा [**बन्धनम्**] बन्धन को [**जातु**] कदापि [**स्पृशति न एव**] स्पर्श नहीं करता। [**अयम्**] जो सापराध आत्मा है वह तो [**नियतम्**] नियम से [**स्वम् अशुद्धं भजन्**] अपनेको अशुद्ध सेवन करता हुआ [**सापराधः**] सापराध है; [**निरपराधः**] निरपराध आत्मा तो [**साधु**] भलीभाँति [**शुद्धात्मसेवी भवति**] शुद्ध आत्मा का सेवन करनेवाला होता है॥ १८७॥

कलश १८७ पर प्रवचन

सापराध अर्थात् शुद्ध एक नित्यानन्द-चिदानन्द प्रभु आत्मा को छोड़कर जो पुण्य-पाप के भावों को अपना मानता है और इनसे अपना लाभ मानता है – ऐसा आत्मा अनन्त-अनन्त पुद्गल परमाणुमय कर्मों से बंधता है। जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी मानना चोरी है, अपराध है। ऐसा काम करने वाला नियम से बन्धन में पड़ता है।

निरपराध अर्थात् जिसने रागरहित अपने ज्ञानानन्द आत्मा की दृष्टि की, उसी में ही जो रमता है, वह निरपराध है, उसे कभी भी बन्धन नहीं होता। अहाहा ····! अशुद्ध उपयोग रूप पुण्य-पाप के भाव से रहित जो शुद्ध उपयोगी है, वह आत्मा-निरपराधी है। उसे बंध का कभी स्पर्श नहीं होता। धर्मी जीव अपनी चैतन्य स्वरूप शुद्ध-चैतन्य सत्ता स्पर्श करता है, अनुभव करता है; उसे बन्ध का स्पर्श नहीं होता।

देखो, दया-दान-पूजा-भक्ति आदि शुभराग का सेवन भी अशुभराग की भाँति ही अशुद्ध का सेवन है। इसप्रकार स्वयं को अशुद्ध सेवता हुआ आत्मा सापराधी है।

अहो! संतों ने बहुत ही स्पष्ट रूप से घोषणा की है। जो आत्मा पुण्य-पाप के अशुद्ध भावों का सेवन करता है, वह अपराधी है और वह निरन्तर

कर्मों से बँधता है। तथा जो आत्मा पुण्य-पाप से रहित, शुद्ध, एक, चैतन्य उपयोगमय, पूर्णज्ञान, पूर्णआनन्द आदि अनन्त शक्तियों से भरा है, सदा एकरूप, भूतार्थ, शुद्ध चिद्घन आत्मा को समीचीनता से जानकर उसकी सेवा करता है, वह निरपराधी है। उसे बन्ध नहीं होता। वह बन्धन का, राग का स्पर्श नहीं करता।

गाथा ३०६ व ३०७ की उत्थानिका

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन ? यतः प्रतिक्रमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा; सापराधस्याप्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेस्तदपोहकत्वेनामृतकुम्भत्वात्। उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे – अप्पडिकमणमपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव। अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो ॥ १ ॥ पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुम्भो दु ॥ २ ॥

टीका – (यहाँ व्यवहारनयावलम्बी अर्थात् व्यवहारनय को अवलम्बन करनेवाला तर्क करता है कि:-) 'शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास करने का क्या काम है? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि से ही आत्मा निरपराध होता है; क्योंकि सापराध के जो अप्रतिक्रमण आदि हैं, वे अपराध को दूर करनेवाले न होने से विषकुंभ हैं, इसलिए जो प्रतिक्रमणादि हैं, वे अपराध को दूर करनेवाले होने से अमृतकुम्भ हैं। व्यवहार का कथन करनेवाले आचारसूत्र में भी कहा है कि :-

अप्पडिकमणमपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो ॥ १ ॥
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुम्भो दु ॥ २ ॥

अर्थ – ''अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – यह (आठ प्रकार का) विषकुम्भ है ॥ १ ॥

[१]प्रतिक्रमण, [२]प्रतिसरण, [३]परिहार, [४]धारणा, [५]निवृत्ति, [६]निन्दा, [७]गर्हा और [८]शुद्धि – यह आठ प्रकार का अमृतकुम्भ है॥ २॥"

उत्थानिका पर प्रवचन

यहाँ व्यवहारनय का अवलम्बन लेनेवाला प्रश्न करता है कि शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास करने का क्या काम है ? क्यों करें शुद्धात्मा की उपासना का श्रम ? जब प्रतिक्रमण आदि से ही आत्मा निरपराध होता है। सापराध के जो अप्रतिक्रमण है, वह अपराध को दूर करने वाला नहीं होने से विषकुंभ है तथा प्रतिक्रमणादि अपराध को दूर करने वाले होने से अमृतकुंभ है।

देखो ! व्यवहार नयावलम्बी यह कुतर्क करता है कि अज्ञानी को जो अप्रतिक्रमण रूप अशुभभाव है, वह विषकुंभ है; क्योंकि वह अपराध दूर करने वाला नहीं है। परन्तु जो शुभभावरूप प्रतिक्रमण है, वह अमृतकुंभ है; क्योंकि वह अपराध को दूर करनेवाला है। शुभभाव की क्रिया से अप्रतिक्रमणादि जो अशुभभाव – पाप भाव है, उसका निरोध होता है। शुभराग द्वारा अशुभभाव से पीछे हटना, पाप से छूटना अमृत है – ऐसा शास्त्र में कहा है। इसप्रकार जब शुभभाव से आत्मा निरपराध होता है तो फिर शुद्धात्मा की आराधना से क्या लाभ ? ऐसी अज्ञानी की दलील है पर यह उसका कुतर्क है।

वस्तुतः बात यह है कि जिस धर्मी जीव को ऐसी यथार्थ श्रद्धा हुई कि 'मैं ज्ञान व आनन्द का कंद प्रभु आत्मा हूँ, और ये दया-दान आदि के विकल्प

---

१. प्रतिक्रमण = कृत दोषों का निराकरण।
२. प्रतिसरण = सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा।
३. परिहार = मिथ्यात्व-रागादि दोषों का निवारण।
४. धारणा = पंचनमस्कारादि मंत्र, प्रतिमादि द्रव्यों के आलम्बन द्वारा चित्त को स्थिर करना।
५. निवृत्ति = बाह्य विषयकषायादि इच्छा में प्रवर्तमान चित्त को हटा लेना।
६. निन्दा = आत्मसाक्षीपूर्वक दोषों का प्रगट करना।
७. गर्हा = गुरुसाक्षी से दोषों का प्रगट करना।
८. शुद्धि = दोष होने पर प्रायश्चित लेकर विशुद्धि करना।

जो उठते हैं, वे जहर हैं' – ऐसी स्वानुभवमंडित अन्तरंग श्रद्धावाले धर्मी जीवों के शुभभावों को व्यवहार से शास्त्रों में अमृत कहा है; परंतु जिसे निश्चय से निर्विकल्प अमृत का स्वाद है, उसके राग को व्यवहार से अमृत कहा है। यहाँ व्यवहारावलम्बी अज्ञानी कहता है कि – देखो ! शुभराग को अमृत कहा है न ? पर, उसे यह विवेक नहीं है कि जिसे अन्दर में शुद्धोपयोग रूप अमृत का स्वाद आया है और जिसने शुभराग को जहर स्वीकार किया है उसके शुभराग को व्यवहार से – उपचार से अमृत कुंभ भी कहा है। अज्ञानी के शुभ राग को तो उपचार भी लागू नहीं पड़ता।

परन्तु अज्ञानी अपने पक्ष के समर्थन में आगम की उन गाथाओं को प्रस्तुत करता है, जिनमें ज्ञानी के शुभभाव रूप प्रतिक्रमण की बात कही है। अप्रतिक्रमण, अप्रतिशरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – ये आठ प्रकार के विषकुम्भ हैं तथा प्रतिक्रमण, प्रतिशरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि – ये आठ प्रकार के अमृत कुंभ हैं।

प्रतिक्रमण :- पूर्व में किये पापों का निराकरण करनेरूप शुभभावों को प्रतिक्रमण कहते हैं। निश्चय से वस्तुस्वरूप का अनुभव करने वाले धर्मीपुरुष को ही यथार्थ शुभभाव रूप व्यवहार प्रतिक्रमण होता है। शास्त्र में उपचार से इसे ही अमृत कहा है।

अहा ! इसका आधार या पक्ष लेकर निश्चय दृष्टि वालों से अज्ञानी कहता है कि तुम तो एक त्रिकाली शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करते हो, और उसी की सेवा करते हो; पर यह शुभभाव रूप जो व्यवहार प्रतिक्रमण है, वह अशुभ से बचता है, अशुभ का नाश करता है, इसलिए पहले इसे करने दो न ?'

उनसे कहते हैं – भाई ! शुभराग रूप प्रतिक्रमण जो ज्ञानी के होता है, वह वास्तव में तो जहर ही है। अरे! इसे तो उपचार से अमृत कहा है तथा अज्ञानी को तो उपचार भी लागू नहीं पड़ता। अज्ञानी के तो सचमुच प्रतिक्रमण होता ही नहीं है।

प्रतिसरण :- सम्यकत्वादि गुणों में शुभराग रूप प्रतिसरण है। 'मैं एक शुद्ध चिन्मात्र हूँ' – ऐसा अनुभव करने रूप विकल्प जो ज्ञानी के आता है, वह प्रतिसरण है। ज्ञानी के ऐसे विकल्पों का उपचार से अमृत कहा है। निश्चय से ये भाव हैं तो जहर, पर निर्मल अमृत रूप परिणति का सहचर जानकर उन्हें उपचार से अमृत कहने में आया है। पर इस कारण उन्हें वास्तव में अमृत नहीं समझ लेना। अज्ञानियों को तो इसका मिथ्या पक्ष हो गया है।

परिहार :- मिथ्यात्व और राग-द्वेष आदि दोषों का निराकरण करने रूप जो शुभभाव है, उसे परिहार कहते हैं। धर्मी के ऐसे शुभभावों को उपचार से अमृतकुंभ कहा है। वास्तव में तो शुभ उपयोग जहर ही है।

धारणा :- णमोकार मंत्र के माध्यम से पंच परमेष्ठी का स्मरण करने रूप शुभभाव धारणा है। पंच नमस्कार मंत्र, ॐ मंत्र आदि मंत्रों के द्वारा आत्मा-परमात्मा के चिन्तन रूप शुभभाव धर्मी जीवों के होते हैं। उन्हें शास्त्र में उपचार से अमृतकुंभ कहा है। आत्मानुभव की अपेक्षा से वस्तुतः ये शुभ भाव जहर हैं, परंतु इनको आत्मानुभव का सहचर जानकर उपचार से अमृत कुंभ कहा है। अब इस कथन का आधार लेकर या पक्ष करके अज्ञानी यह कहता है कि शुभ से अशुभ मिटता है न! इसलिए प्रथम शुभ करना चाहिए। शास्त्रों में भी इन शुभभावों को अमृत कुंभ क़हा है।

इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि वीतराग का मार्ग वीतराग भाव से उत्पन्न होता है, राग से नहीं। तथापि बाह्य द्रव्य का आलम्बन लेने पर जो शुभभाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें व्यवहार से जिनवाणी में अमृत कुम्भ कहा है। चाहे वह बाह्य द्रव्य जिनबिम्ब हो, साक्षात् जिनेन्द्र भगवान हो अथवा पंचपरमेष्ठी हो पर निश्चय से ये सब जहर हैं। वीतराग भाव की प्रगटता के बिना धर्म की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि व पूर्णता कभी भी संभव नहीं है। मंत्र आदि के परावलंबी शब्दों का लक्ष्य छोड़कर स्व-आश्रय से परिणत हुए बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती।

निवृत्ति :- विषय-कषाय रूप अशुभ से हटकर शुभ में आना निवृत्ति है। जिसको अन्दर में शुद्ध निश्चय का अनुभव है, उन धर्मी जीवों को ऐसा शुभभाव होता है और उन भावों को व्यवहार से अमृत कुंभ कहते हैं। स्त्री-कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति आवरू आदि के ममत्व रूप पापभावों में वर्तते हुए अपने चित्त को वहाँ से हटाकर धर्मी जो शुभ में आता है, उसके इस उपचार शुभ को अमृत कहते हैं। अज्ञानी का अकेला शुभभाव तो जहर ही है।

जिस तरह चावल की वोरी भी चावल के भाव में तुल जाती है, पर वह वोरी (वारदान) चावल नहीं है। चावल व वोरी दोनों भिन्न हैं। उसी तरह भगवान आत्मा स्वाश्रय से प्रगट हुए अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है, वह धर्म है। तथा जो भूमिकानुसार राग आता है वह धर्म नहीं है। वह चावल-वारदान की भाँति ही आत्मा से भिन्न ही है। उसे धर्म परिणति का सहचर जानकर उपचार से अमृत कहा है। वस्तुतः है तो वह आत्मधर्म से भिन्न ही।

वापू ! वीतरागता का मार्ग अलौकिक है और वह वीतरागता से ही उत्पन्न होता है। वीतराग स्वरूप-जिनस्वरूप निज आत्मा के आश्रय से जितना वीतराग भाव होता है वह धर्म है, अमृत है और उसमें कमी रहने पर जितना परावलम्बी शुभराग रहता है वह निश्चय से विषकुंभ है, जहर का घड़ा है।

निन्दा - आत्मसाक्षी पूर्वक दोषों को प्रगट करना, अशुभभाव आ गया हो तो उसकी निन्दा करना। यह शुभभावरूप निन्दा है। ऐसा भाव समकिती को आता है।

वास्तव में यह भाव अतीन्द्रिय आनन्द रूपी अमृत के स्वाद से भिन्न है। तो भी धर्म का सहचर जानकर इस भाव को भी उपचार से अमृत कहा है। पर यह भाव वस्तुतः अमृत नहीं है।

गर्हा - गुरु की साक्षी से दोषों को प्रगट करना, स्वयं को जो पापकर्म हुआ हो तो अति निश्छल भाव से गुरु के पास जाकर प्रगट करना, गुरु से कहना शुभभाव रूप गर्हा है। समकिती के ऐसा शुभभाव होता है। इसे उपचार से अमृत कहा है, पर वास्तव में यह धर्म नहीं है।

शुद्धि – जो पापकर्म हुआ हो, उसका प्रायश्चित्त लेने रूप शुभभाव शुद्धि है। ऐसा शुभभाव समकिती को होता है। पर निश्चय से यह धर्म नहीं है।

देखो ! इन आठ वोलों को व्यवहार से शास्त्रों में अमृत कहा है। अज्ञानी शिष्य इसी को मुख्य करके ऐसा कहते हैं कि हमें तो पहले अशुभ से बचने के लिए शुभ ही करना चाहिए न? पहले शुभ तो करने दो। शुभ से अशुभ टलता है न ?

शिष्य के इसी अभिप्राय के समाधान में आचार्य देव ने निश्चय की प्रधानता से अगली गाथा कही है।

यहाँ कहते हैं कि जो मिथ्यात्व की भूमिका में हैं, वे तो पाप से पीड़ित होकर चारगति में रखड़ने वाले ही हैं; परन्तु जो समकिती हैं, उन्हें भी द्रव्यप्रतिक्रमण का शुभभाव आये विना नहीं रहता; पर वह भाव भी उन्हें वन्ध का कारण होने से हेय है। इसलिए जब तक पूर्ण केवलज्ञान की दशा की प्राप्ति न हो, तव तक ज्ञान की दशा को भगवान ज्ञायक स्वरूप आत्मा में जोड़ दे और ये वाहर के सव आलम्वन छोड़ दे। क्योंकि इनसे तो राग व वन्ध ही होता है। ज्ञान का ज्ञान में प्रतिष्ठित रहना ही एकमात्र मोक्ष का कारण है। •

अत्रोच्यते –

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ॥३०६॥
अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही अमयकुंभो ॥ ३०७॥

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।
निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुम्भः ॥ ३०६॥
अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव ।
अनिवृत्तिश्चानिंदाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुम्भः ॥ ३०७॥

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद्विषकुम्भ एव; किं तस्य विचारेण ? यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुम्भोऽपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयीकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकरणासमर्थत्वेन विपक्षकार्यकारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात्। अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीया भूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वंकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुंभत्वं साधयति। तयैव च निरपराधो भवति चेतयिता। तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव। अतस्तृतीयभूमिकयैव निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते। तत्प्राप्त्यर्थ एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः। ततो मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति, किंतु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न मुंचति, अन्यदपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणाद्यगोचराप्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षणमतिदुष्करं किमपि कारयति। वक्ष्यते चात्रैव – कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ इत्यादि।

उपरोक्त तर्क का समाधान करते हुए आचार्यदेव (निश्चयनय की प्रधानता से) गाथा द्वारा करते हैं :-

प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा ।
निन्दा गरहा और शुद्धि अष्टविध विषकुम्भ हैं ॥ ३०६॥
अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अर अपरिहार अधारणा ।
अनिन्दा अनिवृत्त्यशुद्धि अगर्हा अमृतकुंभ हैं ॥ ३०७॥

अन्वयार्थ – [**प्रतिक्रमणं**] प्रतिक्रमण, [**प्रतिसरणं**] प्रतिसरण, [**परिहारः**] परिहार, [**धारणा**] धारणा, [**निवृत्तिः**] निवृत्ति, [**निन्दा**] निन्दा, [**गर्हा**] गर्हा [**च शुद्धिः**] और शुद्धि – [**अष्टविधः**] यह आठ प्रकार का [**विषकुम्भः**] विषकुम्भ [**भवति**] है (क्योंकि इसमें कर्तृत्त्व की बुद्धि सम्भवित है)।

[**अप्रतिक्रमणम्**] अप्रतिक्रमण, [**अप्रतिसरणम्**] अप्रतिसरण, [**अपरिहारः**] अपरिहार, [**अधारणा**] अधारणा, [**अनिवृत्तिः च**] अनिवृत्ति, [**अनिन्दा**] अनिन्दा, [**अगर्हा**] अगर्हा [**च एव**] और [**अशुद्धिः**] अशुद्धि – [**अमृतकुम्भः**] यह अमृतकुम्भ है (क्योंकि इससे कर्तृत्त्व का निषेध है – कुछ करना ही नहीं है, इसलिये बन्ध नहीं होता)।

टीका – प्रथम तो जो अज्ञानी जनसाधारण (अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाववाले हैं इसलिये स्वयमेव अपराधरूप होने से विषकुम्भ ही हैं; उनका विचार करने का क्या प्रयोजन है? (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं) और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं वे सब अपराधरूपी विष के दोष को (क्रमशः) कम करने में समर्थ होने से अमृतकुम्भ हैं (ऐसा व्यवहार आचारसूत्र में कहा है) तथापि प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण ऐसी अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमिका को न देखनेवाले पुरुष को वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करने को असमर्थ होने से विपक्ष (अर्थात् बन्ध) का कार्य करते होने से विषकुम्भ ही हैं। जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है वह, स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के कारण समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करने वाली होने से,

साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है और इसप्रकार (वह तीसरी भूमि) व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि को भी अमृतकुम्भत्व साधती है। उस तीसरी भूमि से ही आत्मा निरपराध होता है। उस (तीसरी भूमि) के अभाव में द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही है। इसलिये, तीसरी भूमि से ही निरपराधत्व है ऐसा सिद्ध होता है। उसकी प्राप्ति के लिये ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं। ऐसा होने से यह नहीं मानना चाहिए कि (निश्चयनयका) शास्त्र द्रव्यप्रतिक्रमणादि को छुड़ाता है। तब फिर क्या करता है ? द्रव्यप्रतिक्रणादि से छुड़ा नहीं देता (– अटका नहीं देता, संतोष नहीं मनवा देता); इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप, शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा, अति दुष्कर कुछ करवाता है। इस ग्रन्थ में ही आगे कहेंगे कि – *कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥

(अर्थ :- अनेक प्रकार के विस्तार वाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से जो अपने आत्मा को निवृत्त कराता है वह आत्मा प्रतिक्रमण है। इत्यादि।)

भावार्थ – व्यवहारनयावलम्बी ने कहा था कि – "लगे हुये दोषों का प्रतिक्रमणादिकरने से ही आत्मा शुद्ध होता है, तब फिर पहले से ही शुद्धात्मा के आलम्बन का खेद करने का क्या प्रयोजन है ? शुद्ध होने के बाद उसका आलम्बन होगा; पहले से ही आलम्बन का खेद निष्फल है।" उसे आचार्य समझाते हैं कि – जो द्रव्य प्रतिक्रमणादि से रहित हैं उसके अवलम्बन के बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं, वे दोषों के मिटाने में समर्थ नहीं हैं; क्योंकि निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही व्यवहारनय मोक्षमार्ग में है, केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है, बन्ध का ही मार्ग है। इसलिये यह कहा है कि – अज्ञानी के जो अप्रतिक्रमणादिक हैं सो तो विषकुम्भ है ही; उसका तो कहना ही क्या है? किन्तु व्यवहारचारित्र में जो प्रतिक्रमणादिक

---

* गाथा ३८३-३८५; वहाँ निश्चयप्रतिक्रमण आदि का स्वरूप कहा है।

कहे हैं वे भी निश्चयनय से विषकुम्भ ही हैं, क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रमणादि से रहित, शुद्ध, अप्रतिक्रमणादिस्वरूप ही है।

समयसार गाथा ३०६-३०७ पर प्रवचन

"अशुभ से बचने के लिए शुभ तो करना चाहिए न ?" इसके समाधान में निश्चय नय की प्रधानता से इन गाथाओं में खुलासा करते हैं।

भाई ! शुभभावों में जिनके राग की मन्दता हो तो उनको शुभभाव होता है तथा यदि इनमें कर्त्ताबुद्धि हो तो वह मिथ्यात्त्व है। अन्दर में ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि हुए बिना बाह्य व्रत-तप आदि तो केवल देह का शोषण है, इनसे भवभ्रमण नहीं मिटता। इनसे तो संसार ही फलता है, मुक्ति नहीं होती। पर करें क्या? आजकल जहाँ देखो वहीं बस एक ही प्ररूपणा चलती है कि - "व्रत करो, तप करो, उपवास करो" इत्यादि। पर बापू ! ये सब शुभभाव हैं, जिन्हें यहाँ विषकुम्भ कहा है। अज्ञानी के तो ये भाव विषकुंभ हैं ही, किन्तु समकिती भी इन्हें विषकुंभ ही जानता/मानता है, क्योंकि ये अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद से विपरीत हैं।

टीका में स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं - अज्ञानी जीवों को जो मिथ्यात्व और राग-द्वेष आदि अप्रतिक्रमण के भाव हैं, वे शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव स्वभाव रूप हैं। तथा वे स्वयमेव अपराध स्वरूप हैं। इसलिए वे भाव विषकुम्भ ही हैं। उन भावों का विचार करने से प्रयोजन ही क्या है? अर्थात् वे भाव तो प्रथम से ही त्यागने योग्य हैं।

अहा ....! जो प्रतिक्रमण आदि पुण्यभावों को धर्म मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, अपराधी हैं। अनादि से वह मिथ्यादर्शन आदि भावों का सेवन करते हुए चारों गतियों में रुल रहे हैं।

अब कहते हैं कि जिसने अन्तर में अपना आत्मा-अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्दस्वरूप अनुभव किया है - ऐसे धर्मी पुरुष को सुबह-शाम द्रव्य ितक्र ५ रूप शुभभाव आता है। वह अपराध रूपी विष के दोष को घटाने

में समर्थ है। इस कारण कहा है कि – धर्मी के प्रतिक्रमणादि शुभभाव व्यवहार से अमृतकुम्भ हैं।

देखो ! धर्मी को ये द्रव्य प्रतिक्रमणादि के शुभभाव रागादि दोषों को घटाने में तो समर्थ हैं, पर अभाव करने में नहीं। रागादि का अभाव तो एक शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का आश्रय लेने से होता है पर जिन्हें अन्तर में शुद्ध एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी अमृतस्वरूप आत्मा का भान हुआ है, उन्हें जो निन्दा, गर्हा आदि का शुभराग रूप व्यवहार प्रतिक्रमण का भाव आता है, उससे अशुभ भाव घटता है – इस अपेक्षा शुभ राग को व्यवहार से शास्त्रों में अमृत कुंभ कहा है। जिनको आत्मज्ञान नहीं हुआ, उनका शुभभाव तो मात्र विषकुम्भ ही है।

अहा ! जिन्हें स्वानुभव सहित अन्तर आत्मा में रमणता हुई है, ऐसे संतों की यह बात है। बापू उन संतों के महाव्रत रूप शुभभाव भी निश्चय से चारित्र नहीं हैं। अन्तर में ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में रमना ही निश्चय से चारित्र है।

अहाहा ....। "शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम" ऐसे अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में रमने और ठहरने को वीतराग मार्ग में चारित्र कहा है। अहा....! ऐसे चारित्रवंतों को निन्दा-गर्हा आदि परद्रव्य के आलम्बन रूप शुभभाव आते हैं, तथा उनको पंचपरमेष्ठी के स्मरण, स्तुति आदि का शुभ राग भी आता है। उस शुभ राग में मात्र पाप को घटाने की ताकत है। पाप को कम करने का हेतु देख उस शुभराग को व्यवहार से अमृतकुम्भ कह दिया है।

अब कहते हैं कि – मिथ्यादृष्टि को अशुभ व शुभभावों रूप अप्रतिक्रमण व प्रतिक्रमण के सिवाय एक तीसरा शुद्ध भावरूप अप्रतिक्रमण की खबर नहीं होती। "शुभाशुभ रहित तीसरी भूमिका क्या है?" इसका बोध मिथ्यादृष्टि जीवों को नहीं होता। जिसे अन्तर में शुद्धोपयोग दशा कभी हुई ही नहीं, उन जीवों को 'प्रतिक्रमण अपराध है' – ऐसा भासित ही नहीं होता। वे द्रव्य प्रतिक्रमण करें तो भले करें, पर उनकी वह क्रिया दोष मेटने में समर्थ नहीं

है। उल्टा बंध का कार्य ही करती है। किये गये दोषों का निराकरण करना, समकित आदि गुणों की प्रेरणा करना, मिथ्यात्वादि का निवारण करना, पंच नमस्कार आदि का भाव अर्थात् प्रतिमा आदि का आलंबन, वाह्य विषयों से चित्त को हटाना, आत्मसाक्षीपने दोषों का प्रगट करना, गुरु की साक्षी से दोषों को प्रगट करना, दोष उत्पन्न होने पर प्रायश्चित लेकर विशुद्धि करना – ये आठों प्रकार के शुभभाव हैं। मिथ्यादृष्टि के ये आठों शुभभाव विषकुम्भ हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के इन भावों में दोष नष्ट करने की विल्कुल भी सामर्थ्य नहीं है।

जो जीव तीसरी भूमिका के अप्रतिक्रमण सहित हैं, उन्हें जो शुभभाव आते हैं, वे दोष घटाने में समर्थ होते हैं।

अब कहते हैं कि – जो अप्रतिक्रमण रूप तीसरी भूमि है, वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धि रूप होने से साक्षात् अमृतकुम्भ है। जव परमानन्दमय भगवान आत्मा की दृष्टि हो जाती है तब उसे शुद्धात्मा की सिद्धि होने पर तीसरी भूमिका प्रगट होती है। यह तीसरी भूमिका सर्वदोषों को नष्ट करने में समर्थ होती है। अतः यह अमृतकुम्भ है। इसके साथ के व्यवहार प्रतिक्रमण को भी अमृतकुम्भ कहा गया है।

यहाँ कहते हैं कि – अप्रतिक्रमणादि रूप तीसरी भूमिका स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धि-प्राप्ति रूप है तथा वह सर्व अपराध रूपी विष के दोषों के सर्वथा नष्ट करने वाली है, इस कारण शुद्धोपयोग रूप भूमिका स्वयं साक्षात् अमृतकुंभ है। अहाहा ···· ! शुद्धोपयोग रूप भूमिका में निर्मल रत्नत्रय पकता है। अतः वह साक्षात् अमृतकुम्भ है। अहा ····। ऐसी तीसरी भूमिका वाले धर्मी पुरुष को जो द्रव्य प्रतिक्रमणादि होते हैं, उन्हें व्यवहार से, अमृतकुम्भपना प्राप्त होता है। वस्तुतः तो तीसरी भूमिका वाले का द्रव्य प्रतिक्रमण भी अमृतकुम्भ नहीं है, परन्तु साक्षात् अमृतकुम्भ का सहचारी है। इस कारण उसको अमृतकुम्भ उपचार से कहा जाता है।

अव कहते हैं कि – लो, शुद्धोपयोगरूप तीसरी भूमि से ही आत्मा निरपराध होता है, अन्य प्रकार से नहीं। व्यवहार रत्नत्रय से भी नहीं। जहाँ

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है – शुद्धोपयोग नहीं है, वहाँ सभी प्रकार का क्रियाकाण्ड अपराध ही है। व्यवहार प्रतिक्रमण, सामायिक, प्रोषध, दया-दान, व्रत-तप, भक्ति-पूजा आदि सर्व एक शुद्धोपयोग के अभाव में अपराध ही हैं। इसलिए शुभाशुभ भावों से रहित तीसरी भूमिका से ही निरपराधपना सिद्ध होता है। धर्मी को भी व्यवहार रत्नत्रय के विकल्प तो आते हैं; परन्तु उसका लक्ष्य तो अन्दर भगवान आत्मा के अनुभव में ही रहता है। दया-दान आदि शुभभाव के काल में भी उसकी दृष्टि शुद्धात्मा पर ही होती है तथा राग को छोड़कर अन्दर चिदानन्दमय भगवान आत्मा की पूर्ण प्राप्ति का ही लक्ष्य रहता है। उस शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए ही यह द्रव्य प्रतिक्रमण आदि हैं, शुभराग में अटके रहने के लिए नहीं।

अब कहते हैं कि – ऐसा नहीं मान लेना कि – यह निश्चयनय प्रधान शास्त्र व्यवहार प्रतिक्रमणादि छुड़ाकर हमें अशुभ में जाने को प्रोत्साहित करता है। इस शास्त्र में शुभ को छोड़कर अशुभ में जाने की तो बात ही नहीं है। शास्त्र के कथन का अभिप्राय द्रव्य प्रतिक्रमण आदि छुड़ाना नहीं है; परन्तु उसी में जो अनादि से अटके हैं, मात्र वह अटक छुड़ाने का उद्देश्य है। प्रतिक्रमण, सामायिक, भक्ति, व्रत, तप, पूजा आदि के शुभराग में जो अटके हैं और इसी में धर्म माने बैठे हैं, उसका सही मार्गदर्शन करके निश्चयपूर्वक व्यवहार कराने का उद्देश्य है।

अहा ····! पुण्यभाव को छोड़कर पाप में प्रवर्तन कराने की बात कोई भी शास्त्र कैसे कह सकता है? शास्त्र में तो सदैव पाप की भाँति पुण्य को भी छोड़कर परम पवित्र शुद्धात्मा के अनुभव की बात ही कही जाती है, क्योंकि आत्मा का अनुभव ही निरपराधपना है।

यहाँ द्रव्यप्रतिक्रमण नहीं छुड़ाते हैं। किन्तु जो शुभराग में संतुष्ट होकर रुक जाते हैं, उन्हें वहां से छुड़ाकर अन्दर ध्रुवधाम में – चैतन्य धाम में ले जाते हैं।

अहाहा ····! भगवान आत्मा! तू पूर्णज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणों का, अनन्त शक्तियों का पिण्ड है न ! अनन्त स्वभावों से भरा तेरा सत्त्व है न !

उसे प्राप्त करने का मार्ग बताते हुए कहते हैं कि – उसे प्राप्त करने के लिए शुभ-अशुभ भाव कार्यकारी नहीं हैं। तेरा चैतन्य तत्त्व अशुभभाव रूप अप्रतिक्रमणादि से तथा शुभभाव रूप प्रतिक्रमणादि से अगोचर है, अगम्य है।

भाई! देखो, नारियल के ऊपर की छाल, कठोर नरेटी और गोला के ऊपर की रातास (लालिम) – ये कोई नारियल नहीं हैं; किन्तु अन्दर सफेद मिठास से भरा गोला ही वस्तुतः नारियल है। फिर भी सहचारी होने से छिलके आदि को भी नारियल का नाम व कीमत मिल जाती है। उसी प्रकार शरीर, कर्म एवं पुण्य-पाप के भाव आत्मा नहीं हैं। इन तीनों से भिन्न-शुद्ध चैतन्य और आनन्द का घनपिण्ड ही आत्मा है।

यहाँ कहते हैं – प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण से अगोचर, शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है – ऐसा अति दुष्कर शुद्धोपयोग रूप जो तीसरे अप्रतिक्रमणादि भाव हैं, वीतराग भाव हैं; उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई है।

भाई ! शुद्धोपयोग अति दुष्कर है। सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय अति दुष्कर है। अहा ! अनन्तकाल में शुभ क्रियायें तो अनन्तबार की हैं, परन्तु शुभाशुभ से भिन्न शुद्ध चैतन्य तत्त्व का ज्ञान-श्रद्धान व अनुभव एक क्षण भी नहीं किया; इस कारण वह दुष्कर है।

यहाँ कहते हैं कि – यह समयसार शास्त्र-शुद्धात्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है – ऐसे अतिदुष्कर निर्मल रत्नत्रय की प्राप्ति का ज्ञान कराता है। अतः यह शास्त्र परम अद्‌भुत महिमावंत है।

देखो, इस पृथ्वी के नीचे नरक हैं। राजा-महाराजा तथा बहुत पैसे वाले जो विषयानन्दी रौद्र ध्यान करते हैं और मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य भक्षण करते हैं, वे मर कर नरक में जाते हैं। क्योंकि ऐसे क्रूर परिणामों का फल नरक ही है, जहाँ अनन्त दुःख हैं। भाई! हमारा आपका आत्मा भी अब तक अनन्तबार वहाँ जाकर आया है। तथा जो मायाचारी, कुटिलता करते हैं वे तिर्यंचगति में जाते हैं। ऐसे भाव भी हम-तुमने अनन्त बार धारण किए हैं। अहा....। यदि एक बार भव रहित हो जायें, तो फिर जन्म मरण नहीं होता। जिस तरह कच्चा

चना बार-बार उगता है; एक बार सेक दिया जाय तो फिर उगता नहीं। उसी तरह अज्ञानी स्वरूप के भान बिना पुण्य-पाप के भाव किया ही करता है। यदि एक बार पुण्य-पाप रहित अपने आत्मा का स्वरूप देख ले, जान ले, पहचान ले और उसी में जम जाये, रम जाये तो वह भी सिके हुए चने की भाँति जन्म-मरण से रहित हो जाता है। भवरहित होकर अत्यन्त निराकुल आनन्द की दशा को प्राप्त हो जाता है।

भाई! अन्तर में तू कितना महान है इसकी तुझे खबर ही नहीं है! बस, इसी कारण अब तक तू चारगति में रुला है। अब तू क्रियाकाण्ड से भिन्न हो अपने आनन्द रस से भरे शुद्ध चैतन्यतत्त्व में आ जा! और उसी में निवास कर! तुझे भवरहित अनन्त सुखमय पद की प्राप्ति होगी।

जो आत्मा को साधता है, सचमुच वही साधू है। जिसने अपने आत्मा को नहीं साधा, वह साधु नहीं है।

अहा! ऐसा मनुष्यपना मिला और इस बात को समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया तो जिस तरह डोरा रहित सुई खो जाती है और हाथ नहीं आती उसी तरह तू भव समुद्र में कहीं खो जायेगा। तुझे आत्मा हाथ नहीं आयेगा

भावार्थ पर प्रवचन

देखो, व्यवहार के पक्ष वाले कहते हैं कि – जब प्रतिक्रमण आदि शुभभावों से लगे हुए दोषों का नाश हो जाता है और आत्मा शुद्ध हो जाता है तो फिर पहले से ही शुद्ध की दृष्टि कराने एवं शुद्धात्मा का अनुभव करने का कष्ट क्यों किया जाय? शुभ से आत्मा पवित्र हो जायेगा और बाद में शुद्ध का आलम्बन हो जायेगा। अतः प्रारम्भ से ही शुद्ध का आलम्बन करने का कष्ट उठाना व्यर्थ है।

उनको आचार्य समझाते हैं – अपने ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा की दृष्टि बिना व्यवहार क्रिया-काण्ड सब दोष रूप ही है। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, प्रतिक्रमण आदि, जिसे लोक धर्म मानकर बैठा है, वे सब शुभभाव, अन्तर

आत्मा के अनुभव बिना, परमार्थ से, पाप ही हैं। जो स्वयं दोष रूप ही हैं, वे दोषों को कैसे मिटायें ?

भाई! मोक्षमार्ग में निश्चय सहित व्यवहार होता है। जिन्हें रागरहित शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा की दृष्टि, ज्ञान व अनुभव हुआ है, ऐसे निश्चय वालों के शुभ राग को व्यवहार कहा जाता है। पर जिन्हें ऐसे निश्चय स्वरूप की दृष्टि और अनुभव नहीं है, उनके व्यवहार क्रियाकाण्ड कोई अर्थ नहीं रखते। वे तो केवल अपराध व दोष ही हैं। जो निश्चय सहित व्यवहार होता है, वही व्यवहार मोक्षमार्ग है। केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग नहीं है। वह तो बन्ध का ही मार्ग है।

अब कहते हैं कि – अज्ञानी को जो मिथ्यात्वादि रूप अप्रतिक्रमणादि हैं, वे सब तो विषकुम्भ हैं ही। उनकी तो बात ही क्या करना? परन्तु जिसे शुभभाव रूप प्रतिक्रमण कहा है, वह भी निश्चय से विषकुंभ ही है।

अहाहा....। जिसको अन्दर में अपने निश्चयस्वरूप का भान है, उसके शुभभाव रूप व्यवहार को व्यवहार कहा है। पर वह व्यवहार भी निश्चय से विषकुम्भ ही है।

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं :-

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालंबनम् ।
आत्मन्येवालानित च चित्त-
मासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥ १८८ ॥

श्लोकार्थ – [**अतः**] इस कथन से, [**सुख-आसीनतां गताः**] सुखासीन (सुख से बैठे हुए) [**प्रमादिनः**] प्रमादी जीवों को [**हताः**] हत कहा है (अर्थात् उन्हें मोक्ष का सर्वथा अनधिकारी कहा है), [**चापलम् प्रलीनम्**] चापल्या का (–अविचारित कार्य का) प्रलय किया है (अर्थात् आत्मप्रतीति से रहित क्रियाओं को मोक्ष के कारण में नहीं माना), [**आलम्बनम् उन्मूलितम्**] आलम्बन को उखाड़ फेंका है (अर्थात् सम्यग्दृष्टि

के द्रव्यप्रतिक्रमण इत्यादि को भी निश्चय से बन्ध का कारण मानकर हेय कहा है), [आसम्पूर्ण-विज्ञान-घन-उपलब्धेः] जबतक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्माकी प्राप्ति न हो तबतक [आत्मनि एव चित्तम् आलानितं च] (शुद्ध) आत्मारूपी स्तम्भ से ही चित्त को बाँध रखा है (अर्थात् व्यवहार के आलम्बन से अनेक प्रवृत्तियों में चित्त भ्रमण करता था उसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा में ही लगाने को कहा है क्योंकि वही मोक्ष का कारण है)॥ १८८॥

कलश १८८ पर प्रवचन

यहाँ निश्चयनय से प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहा और अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा इसलिये यदि कोई विपरीत समझकर प्रतिक्रमणादि को छोड़कर प्रमादी हो जाये तो उसे समझाने के लिये यह कलश कहा है ।

आत्मा की पहचान बिना दया-दान-व्रत भक्ति आदि शुभ क्रियाओं से धर्म मानकर जो शुभराग में संतुष्ट हैं, उन्हें प्रमादी कहा है; वे मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। उनका मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं हुआ है।

आत्मज्ञान शून्य दान-पुण्य, भक्ति-पूजा, पंचपरमेष्ठी का स्मरण आदि शुभराग की क्रियायें चापल्य है, चपलता है – ऐसा आचार्य अमृतचन्द कहते हैं। अहा! अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव किए बिना जो मात्र पुण्य की क्रियायें करने में पड़ा है, वह सब चापल्य है। उनकी वे क्रियायें मोक्षमार्ग नहीं मानी गई हैं। वे सब क्रियायें बन्धमार्ग की क्रियायें ही हैं।

अब कहते हैं कि – स्वद्रव्य के आलम्बन के सिवाय जो भी परद्रव्य का आलम्बन है, ज्ञानी ने उस सब को उखाड़ फैंका है। सम्यग्दृष्टि के जो द्रव्य-प्रतिक्रमण आदि हैं, उन सबको निश्चय से बंध का कारण जानकर हेय माना है। परद्रव्य, चाहे वह परमेष्ठी हो या शास्त्र, उनका आलम्बन लेने को यहाँ प्रमाद कहा है। और प्रमाद हेय है। एक वीतरागभाव के सिवाय पाप की निन्दा, चित्त को पाप से हटाना आदि सभी राग की क्रियायें प्रमाद हैं और उनमें परद्रव्य का आलम्बन है।

यहाँ कहते हैं कि – जितना भी परद्रव्य का आलम्बन है, वह मूल से ही उखाड़ फेंका है। अर्थात् उसे मूल से ही हेय कर दिया है।

प्रश्न – भावपाहुड़ में पंचमहाव्रतों को अंगीकार करने की जो बात आई है, शोड़ष कारण भावना भाने की बात कही है, और भी अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार की शुभ क्रियाओं को करने की बात आती है, उन सब कथनों का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर – हाँ, आती है, जहाँ भी ऐसे कथन आते हैं, वहाँ ज्ञानियों की भूमिका में भी कैसे-कैसे शुभभाव होते हैं – यह ज्ञान कराया गया है।

यह सब व्यवहार का कथन है। वस्तुत: बात यह है कि – वीतराग परमात्मा के आलम्बन से भी राग ही होता है। पंचास्तिकाय में आता है कि अरहंत के प्रति हुआ राग भी मोक्ष का कारण नहीं है।

पंचास्तिकाय गाथा १६८ में कहा है कि – थोड़ा-सा राग भी दोष परम्परा का कारण है। अरहंतादि की भक्ति राग परिणाम के बिना नहीं होती और राग परिणाम होने पर आत्मा बुद्धि प्रसार किए बिना रह नहीं सकता। बुद्धि प्रसार अर्थात् चित्त की चंचलता, मन का शुभाशुभभावों में जाना परद्रव्य के आलम्बन होते ही विचार तरंगें उठने ही लगती हैं। इसप्रकार परद्रव्य का आलम्बन जिसका मूल है – ऐसा अल्पराग भी दोष की संतति का मूल है। भाई! वीतरागता का मार्ग तो वीतरागता से ही प्रगट होता है।

अहाहा ····! चैतन्यस्वरूपी आत्मा एक वीतराग स्वभाव से भरा तत्त्व है। इसके आलम्बन बिना जितना परद्रव्य का आलम्बन होगा, उतना राग ही उत्पन्न होगा और यह परम्परा भी दोष की परम्परा का मूल है। ज्ञानी को ये भाव आते अवश्य हैं; परन्तु इन्हें वह बन्ध का ही कारण जानता है।

प्रश्न – दूसरे शास्त्रों अरहंतादि की भक्ति आदि को परम्परा मोक्ष का कारण कहा है न ?

उत्तर – भाई! यह तो आरोपित कथन है। मोक्षमार्ग में रत जीवों को ऐसा भाव आता है – ऐसा जानकर उपचार से उसे परम्परा मोक्ष का कारण कहा

है। वास्तव में तो वीतराग स्वभावी भगवान आत्मा की सन्मुखता से प्रगट हुआ एक वीतरागभाव ही परम्परा से मोक्ष का कारण है।

कलश टीका में कहा है कि – बुद्धिपूर्वक ज्ञान करते हुए जितना पढ़ना, विचारना, चिन्तवन करना, स्मरण करना आदि है, वह मोक्ष का कारण नहीं है – ऐसा जानकर शुभभाव को हेय कहा है।

आत्मज्ञानी को भी राग तो दुःखरूप ही है। समयसार गाथा ७२ से ७४ में भी कहा है कि – धर्मी को भी शुभराग से पुण्यबंध होता है। उसके फल में संयोग मिलते हैं और संयोग के लक्ष्य से फिर राग व दुःख ही होता है।

देखो, धर्मी को एक समय में दो धारायें चलती हैं, जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं होती, तबतक साधक को कुछ शुद्धता है और कुछ अशुद्धता-रागधारा भी है। भाई ! चाहे वह व्यवहार रत्नत्रय हो, तो भी यह राग ही है, बन्ध का ही कारण है, इस कारण हेय है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि – जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है तथा जितने अंश में समकित है, उतने अंश में अबन्ध है।

आचार्य अमृतचन्द तीसरे कलश में कहते हैं कि – "द्रव्यदृष्टि से तो मैं शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति ही हूँ, परन्तु निमित्त के वश से हमारी परिणति रागादि से व्याप्त होने से कल्मासित – मैली है यह समयसार-शुद्धात्मा के ग्रन्थ की व्याख्या करने से ही हमारी परिणति परमविशुद्ध होगी।"

देखो, अन्दर द्रव्यदृष्टि का जोर है न ? इसीलिए ऐसा कहते हैं कि शुद्धात्मा के बल से परम विशुद्धि होगी ही। देखो, छटवें गुणस्थान में वर्तते मुनिराज भी कहते हैं कि – हमारी परिणति किंचित् मैली है जो हमें पुसाती नहीं है। हमें तो परमविशुद्धि चाहिए। भाई ! राग का अंशकण भी हो तो वह मैल है और हेय ही है।

भाई! तेरा सुख स्वाधीन स्वावलम्बन से ही प्रगट होता है। अरे! तू 'स्व' को छोड़कर परद्रव्य के अवलम्बन में कहाँ अटक गया है? 'भगवान'

तू राग को अपना मानकर ही तो आज तक चौरासीलाख योनियों में जन्मा-मरा है। इसलिए भाई! अब तू परावलम्बन की दृष्टि छोड़कर स्वावलम्बन प्रगट कर!

अब कहते हैं कि – जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक मैंने अपने चित्त को त्रिकाली ध्रुव के साथ ही जोड़ दिया है। अपने ज्ञानोपयोग को महाव्रतादि में जोड़ने की बात न कहकर आचार्य त्रिकाली ध्रुव से ही आत्मा को जोड़ने को कह रहे हैं; क्योंकि वही एक मात्र मोक्ष का कारण है।

(वसन्ततिलका)

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कृतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १८९॥

श्लोकार्थ – [यत्र प्रतिक्रमणम् एव विषं प्रणीतं] (हे भाई!), जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है, [तत्र अप्रतिक्रमणम् एव सुधा कुतः स्यात्;] वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता।) [तत्] तब फिर [जनः अधः अधः प्रपतन् किं प्रमाद्यति] मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है? [निष्प्रमादः] निष्प्रमाद होता हुआ [ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वम् किं न अधिरोहित] ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता?

भावार्थ – अज्ञानावस्था में जो अप्रतिक्रमणादि होते हैं उनकी तो बात ही क्या? किन्तु यहाँ तो, शुभप्रवृत्तिरूप द्रव्यप्रतिक्रमणादि का पक्ष छुड़ाने के लिए उन्हें (द्रव्यप्रतिक्रमणादि को) निश्चयनय की प्रधानता से विषकुम्भ कहा है क्योंकि वे कर्मबन्ध के ही कारण हैं, और प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रमणादि से रहित होने से अप्रतिक्रमणादिरूप है, उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात् वहाँ के अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा है। तृतीय भूमि पर चढ़ाने के लिये आचार्यदेव ने यह उपदेश दिया है। प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहने की बात

सुनकर जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं उनके सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि 'यह लोग नीचे ही नीचे क्यों गिरते हैं? तृतीय भूमि में ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते ?' जहाँ प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा है वहां उसका निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है, अज्ञानी का नहीं। इसलिये जो अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे हैं वे अज्ञानी के अप्रतिक्रमणादि नहीं जानना चाहिए, किन्तु तीसरी भूमि के शुद्ध आत्मामय जानना चाहिए॥ १८९॥

कलश १८९ पर प्रवचन

यहाँ निश्चयनय से शुभभाव रूप प्रतिक्रमण आदि को विषकुम्भ कहा और शुद्धोपयोगरूप अप्रतिक्रमण आदि को अमृत कुंभ कहा। इस कथन को कोई उल्टा समझकर प्रतिक्रमण को छोड़कर पापभावरूप अप्रतिक्रमण में प्रमादी न हो जाय, इसके लिए यह कलश कहा गया है।

देखो ! जहाँ शुभभाव को विषकुम्भ कहा हो वहाँ अप्रतिक्रमण अर्थात् अशुभभाव अमृतकुम्भ कैसे हो जायेगा ? जहाँ व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रत्याख्यान आदि व्यवहार की शुभ क्रियाओं को जहर कहा है, वहाँ तीव्रराग में जाना व अशुभ में जाना, अमृत कैसे हो सकता है। शुभ को छोड़कर अशुभ में जाने की तो यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो शुभ को छोड़कर ऊँचे-ऊँचे चढ़ने, शुद्ध में जाने की बात है।

भाई! हम तुमको शुभभावों से भी छुड़ाकर जैसे जन्म-मरण का अन्त आवे और आत्मा की प्राप्ति हो – ऐसा वास्तविक धर्म प्राप्त कराना चाहते हैं। अहा! अन्दर भगवान आत्मा चिद्घन प्रभु त्रिकाल परमात्म स्वरूप से विराजता है। उसमें ले जाने के लिए हमने शुभभाव को जहर कहा है। परन्तु यदि कोई शुभ को जहर जानकर अशुभ में जाये तो वह उसकी विपरीत दृष्टि है, औंधी समझ है। हमने भ्रष्ट होने के लिए शुभ को हेय नहीं कहा, बल्कि शुद्धात्मा में जाने के लिए शुभ को हेय कहा है।

अब आचार्य कहते हैं कि – जब हमने शुभ को अर्थात् मंदकषाय को जहर कहा तो अशुभ अर्थात् तीव्र कषाय तो स्वतः ही महाजहर सिद्ध हो

गया। जब वस्तु स्थिति ऐसी है तो फिर जगत जन नीचे-नीचे पड़कर प्रमादी क्यों होता है ? निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर चढ़ने का पुरुषार्थ क्यों नहीं करता ? शुभभाव को छोड़कर अन्दर जहाँ सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा अन्दर में है, उससे भेंट कर, और उसी में जम जा।

अहा....। शुभ को छोड़कर प्रमादी होकर यदि तू अशुभ में जाता है तो यह तो तेरी स्वच्छन्दता है। इसलिए शुभ को छोड़कर निष्प्रमादी होकर स्वरूप के आश्रय में जा! और उसी में लीन हो जा! शुभभाव को हेय बताने का एकमात्र यही प्रयोजन है।

प्रवचनसार गाथा ११ में शुद्धोपयोग को उपादेय व शुभोपयोग को हेय कहा है। भाई छठवें गुणस्थान में मुनि को जो शुभोपयोग वर्तता है, वह हेय है। तथा वहीं गाथा १२ में अशुभ उपयोग को अत्यन्त हेयपना प्रसिद्ध किया है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि शुभोपयोग को छोड़कर शुद्धोपयोग में ही रहना। अहा! राग रहित अन्दर आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु अकेला ज्ञान का घन पिण्ड है। उसके आश्रय से शुद्धोपयोग में रहना ही धर्म है।

भावार्थ पर प्रवचन

समकिती के व्यवहार को देखा ? प्रतिक्रमण, पंचपरमेष्ठी का स्मरण, भक्ति आदि रूप को यहाँ निश्चय से विषकुम्भ कहा है; क्योंकि वह कर्मबन्ध का ही कारण है। शुभभावों को विषकुम्भ कहने का आशय उसका पक्ष छोड़कर शुद्ध चैतन्यस्वरूप में ही लीन-स्थिर कराना है।

व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार सामायिक, व्यवहार स्तवन-वन्दन आदि जो भी समकिती का व्यवहार होता है, वह सब पर के आश्रय से प्रगट होता है। तथा पर के आश्रय से जो भाव होता है, वह बन्ध का ही कारण है। इस कारण व्यवहार का पक्ष छुड़ाकर निश्चयस्वरूप में लीन कराने के प्रयोजन से व्यवहार प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहा है। इसे छोड़कर अन्दर अमृतस्वरूप भगवान आत्मा में लीन हो जाओ।

अब कहते हैं कि – एक तो ज्ञानी का द्रव्य–प्रतिक्रमण और अज्ञानी का अप्रतिक्रमण – इन दोनों से रहित शुद्ध आत्मस्वरूप अप्रतिक्रमण की जो तीसरी भूमि है, वह अमृतकुम्भ है; क्योंकि वह अबन्ध स्वरूप है। इसलिए कहते हैं कि भाई ! शुभ से हटकर शुद्ध में जा ! तो तेरा कल्याण होगा। शुभ में पड़े रहने में तेरा कल्याण नहीं होगा। अप्रतिक्रमणरूप जो तीसरी शुद्धोपयोग की भूमि है, वहाँ एक शुद्ध आत्मा का आलम्बन है, इस कारण उसे अमृत कुम्भ कहा है।

भाई ! इस तीसरी भूमिका में जो अप्रतिक्रमणादि कहा है, वह आत्मस्वरूप है। ज्ञानी के जो द्रव्य–प्रतिक्रमणरूप व्यवहार है, वह आत्मस्वरूप नहीं है, धर्मरूप नहीं है, इसकारण उसे विषकुम्भ कह कर छुड़ाया है। देखो ! ज्ञानी को बीच में द्रव्यप्रतिक्रमणादि शुभभाव आता है। अशुभ से बचने के लिए ज्ञानी को शुभभाव अवश्य आता है, परन्तु वह धर्म नहीं है।

अहा ! ज्ञानी को शुभ न आवे – ऐसा भी नहीं होता और शुभ को धर्म माने – ऐसा भी नहीं होता, इस कारण उसको तीसरी भूमि में पहुँचने का उद्यम कराया जाता है।

शास्त्र में जहाँ शुभ का अधिकार हो, वहाँ जिनमन्दिर बनवाओ, प्रतिमा विराजमान कराओ, स्वाध्याय करो, तप करो, व्रत करो, दान दो इत्यादि सब तरह का कथन आता है, परन्तु यह कथन तो धर्मी की भूमिका का ज्ञान कराने को किया गया है। इससे शुभभाव धर्म नहीं हो जाता।

देखो, यह अप्रतिक्रमणादि के दो प्रकार कहे गये हैं :-

१. मिथ्यात्व सहित अज्ञानी को जो शुभाशुभ भाव होते हैं वे भाव अप्रतिक्रमणादिरूप हैं।
२. शुभभावों को भी छोड़कर शुद्ध में जाना ये भाव ज्ञानी के अप्रतिक्रमणरूप हैं। ये भाव आत्मस्वरूप हैं, अबन्ध हैं, अमृतकुम्भ हैं। तथा ज्ञानी को निश्चय सहित जो शुभभाव आते हैं, उसे व्यवहार प्रतिक्रमणादि कहते हैं। निश्चय से उसे यहाँ विषकुम्भ कहा है; क्योंकि वे बन्ध के ही कारण हैं।

अज्ञानी के निश्चय व व्यवहार – दोनों में एक भी प्रतिक्रमण नहीं है। तीसरी भूमि जो शुद्ध आत्मस्वरूप है, वह प्रतिक्रमण से रहित होने से अप्रतिक्रमणस्वरूप है। वह अमृत कुम्भ है।

अहाहा ....! अन्दर में भगवान आत्मा नित्यानन्द, सहजज्ञान परमानन्द प्रभु अकेला अमृतकुम्भ है।

प्रतिक्रमणादि को जो शास्त्र में विषकुम्भ कहा – यह सुनकर यदि कोई स्वछन्द होकर पाप रूप परिणमन करे तो वह अविवेकी है, अरे भाई! आचार्य तो शुभ का भी त्याग कराकर शुद्ध में जाने को कह रहे हैं। अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मा में जाने को, शुद्ध आत्मा का आश्रय लेने को कह रहे हैं।

जहाँ व्यवहार प्रतिक्रमण को जहर कहा, वहाँ उसके निषेधरूप प्रतिक्रमण ही अमृत कुम्भ है – ऐसा समझना चाहिए।

निश्चयदृष्टि में शुभ-अशुभ-दोनों ही वंध के कारण है, दोनों ही हेय हैं – ऐसा भानपूर्वक शुभभाव को छोड़कर शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना, लीन होने को अप्रतिक्रमण कहा है। यह तीसरी भूमिका का अप्रतिक्रमण शुद्ध आत्मामय होने से अमृतकुम्भ है।

जहाँ व्यवहार प्रतिक्रमण को जहर कहा, वहाँ उसके निषेधरूप प्रतिक्रमण ही अमृत कुम्भ है – ऐसा समझना चाहिए।

निश्चयदृष्टि में शुभ-अशुभ-दोनों ही बंध के कारण है, दोनों ही हेय हैं – ऐसा भानपूर्वक शुभभाव को छोड़कर शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना, लीन होने को अप्रतिक्रमण कहा है। यह तीसरी भूमिका का अप्रतिक्रमण शुद्ध आत्मामय होने से अमृतकुम्भ है।

(पृथ्वी)

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥१९०॥

अब इस अर्थ को दृढ़ करता हुआ काव्य कहते हैं :-

श्लोकार्थ – [**कषाय-भर-गौरवात् अलसता प्रमादः**] कषाय के भार से भारी होने से आलस्य का होना सो प्रमाद है; [**यतः प्रमादकलितः अलसः शुद्धभावः कथं भवति**] इसलिये यह प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है ? [**अतः स्वरसनिर्भरे स्वभावे नियमितः भवन् मुनिः**] इसलिये निजरस से परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल होनेवाला मुनि [**परमशुद्धतां व्रजति**] परम शुद्धता को प्राप्त होता है [**वा**] अथवा [**अचिरात् मुच्यते**] शीघ्र-अल्पकाल में ही – (कर्मबन्ध से) छूट जाता है।

भावार्थ – प्रमाद तो कषाय के गौरव से होता है इसलिये प्रमादी के शुद्धभाव नहीं होता। जो मुनि उद्यमपूर्वक स्वभाव में प्रवृत्त होता है वह शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१९०॥

कलश १९० पर प्रवचन

कषाय के भार से बोझल होने से आलसी होना ही प्रमाद है। पाँच महाव्रत के परिणाम और बारह व्रतों के विकल्प प्रमाद हैं; क्योंकि इनमें भी आत्म स्थिरता नहीं होती। जैसे घास से भरी गाड़ी में भार होता है, उसी तरह आत्मा में शुभाशुभ कषायों का भार है। कषाय का भार स्वयं अपने आप में आलस है, प्रमाद है; क्योंकि कषाय के कारण स्वरूप में सावधानी नहीं रहती, स्थिरता नहीं हो पाती – यही सब तो प्रमाद है। भाई ! धंधा-व्यापार में उत्साहित रहना तो प्रमाद है ही, मन्दिर बनवाने में, प्रतिमा पधराने में, समाज की, राज की सेवा में तत्पर रहने में भी प्रमाद है। और यह सब कषाय के भार से दबे हैं, अतः प्रमादी हैं। यह सब राग है न ? अतः प्रमाद है। प्रमाद के १५ भेदों में ये सब आते हैं। चार कषायें, पाँच इन्द्रियों के विषय एवं चार विकथा तथा निद्रा व प्रणय – ये पंद्रह भेद प्रमाद के हैं।

ऐसे प्रमाद से सहित भाव शुद्ध भाव कैसे हो सकता है ?

अहा ····। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य रस से भरा है। जो उसके आश्रय में न जाकर अशुभ की प्रवृत्ति में हर्षित होकर काल व्यतीत करता है, वह पापी

है। प्रमाद से भरपूर है। उसे शुभभाव कैसे हो ? नहीं हो सकता। पर यहाँ तो विशेष बात यह है कि – शुभभावों में भी जो उत्साहित हैं, वह भी प्रमादी है। पाँच महाव्रत के राग को व अट्ठाइस मूल गुणों के राग को प्रमाद कहा है। छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि प्रमत्त हैं। शुभभाव में हैं, वस, इसी कारण मुनिराज निजरस से भरे स्वभाव में निश्चल रहते हैं, रहने का अनन्त पुरुषार्थ करके क्षण-क्षण में अप्रमत्त गुणस्थान में – अप्रमत्त दशा में जाकर स्वरूप में स्थिर होते हैं।

अहा ····! जो शुभ को भी छोड़कर अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में लीन होकर शुद्धता को प्राप्त करता है वह अप्रमादी है। इसके सिवाय स्वभाव में से परिणाम का नीचे गिर जाना प्रमाद है। यहाँ कहते हैं कि – चैतन्य रस से भरे हुए अपने स्वभाव में ही जो मुनि निश्चयपने स्थित हुएं हैं, वे अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ भावार्थ में उद्यम की बात कही, पुरुषार्थ की बात कही, भले सभी पर्यायें क्रमवद्ध हों, पर क्रमबद्ध परिणमन में भी पुरुषार्थ सम्मलित है। जो मुनि उद्यम से स्वभाव में प्रवर्तते हैं, वे शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

प्रश्न – "पुरुषार्थ कब होगा" इस बात का केवली को तो पूरा-पूरा पता है ही, फिर भी वे पुरुषार्थ करने का उपदेश क्यों देते हैं? स्वद्रव्य में ठहरने का उपदेश क्यों देते हैं ?

उत्तर – अरे! भाई! वीतराग केवली परमात्मा पुरुषार्थपूर्वक स्व-स्वभाव में गये, तब वीतरागी केवली हुए हैं उनकी जो सातिशय वाणी निकली, उसमें भी यही पुरुषार्थ की बात आती है। भगवान की तो आज्ञा ही यह है कि समय मात्र भी प्रमाद न करो, निरंतरस्वभाव में ही रत रहो।

जगत में जब जो काम बनना होगा, तभी बनेगा – ऐसा क्रमबद्ध मानने वाले की दृष्टि अन्यत्र कहाँ जाय? उसकी दृष्टि तो स्वद्रव्य पर जायेगी। और तब होने योग्य अपने स्वकाल जो होता है, उसका वह ज्ञाता मात्र रहेगा। जहाँ

पर्याय बुद्धि हो, वहाँ उसको परद्रव्य में बदलने की और टालने की बुद्धि होती है। परद्रव्यदृष्टिवंत तो सबके ज्ञातास्वरूप ही रहते हैं।

अहा....! यहाँ कहते हैं कि – जो मुनि निजरस से – चैतन्य रस से स्व-स्वभाव में ही प्रवर्तते हैं, वे शुद्ध होकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इसमें पुरुषार्थ के साथ क्रमबद्ध की बात भी आ गई। स्व-सन्मुखता का पुरुषार्थ जिसको है, उसके क्रम में शुद्धतापूर्वक पूर्ण शुद्धतास्वरूप मोक्ष होता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वपराधच्युतः ।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१९१॥

अब, मुक्त होने का अनुक्रम-दर्शक काव्य कहते हैं :-

श्लोकार्थ – [यः किल अशुद्धिविधायि परद्रव्यं तत् समग्रं त्यक्त्वा] जो पुरुष वास्तव में अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्य को छोड़कर [स्वयं स्वद्रव्ये रतिम् एति] स्वयं स्वद्रव्य में लीन होता है, [सः] वह पुरुष [नियतम्] नियम से [सर्व अपराध-च्युतः] सर्व अपराधों से रहित होता हुआ, [बन्ध-ध्वंसम् उपेत्य नित्यम् उदितः] बन्ध के नाश को प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान होता हुआ, [स्व-ज्योतिः-अच्छ-उच्छलत्-चैतन्य-अमृत-पूर-पूर्ण-महिमा] अपनी ज्योति से (आत्मास्वरूप के प्रकाश से) निर्मलतया उछलता हुआ जो चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा [शुद्धः भवन्] शुद्ध होता हुआ, [मुच्यते] कर्मों से मुक्त होता है।

भावार्थ – जो पुरुष, पहले समस्त परद्रव्य का त्याग करके निज द्रव्य में (आत्मस्वरूप में) लीन होता है, वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधों से रहित होकर आगामी बन्ध का नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त

करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मों का नाश करके, मोक्ष को प्राप्त करता है। यह, मोक्ष होने का अनुक्रम है॥ १९१॥

कलश १९१ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि – पुण्य-पाप के जो विकल्प होते हैं, वह अशुद्धता है। उस अशुद्धता को करने वाले अर्थात् उस अशुद्धता के निमित्त परद्रव्य हैं। उन सबसे लक्ष्य हटाकर जो स्वद्रव्य में लीन होते हैं, उन्हें धर्म प्रगट होता है, शुद्धता प्रगट होती है।

पुण्य-पाप के परिणाम अशुद्धता हैं, विषकुम्भ हैं, अपराध हैं। जिसे वीतरागधर्म प्रगट करना हो, उसे ये सब विकल्प छोड़ने होंगे और शुद्धता प्राप्त करनी पड़ेगी। जहाँ परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य में लीन होता है, तब शुद्धता प्रगट होती है। उसमें वस्तुतः किसी राग की, पुण्य की या विकल्प की अपेक्षा नहीं है। आत्मा स्वयं शुद्ध ज्ञानानन्द मूर्ति है। वह जब अपने द्रव्य में स्वयं लीन हो तभी शुद्धता प्रगट हो जाती है।

अहा ! ज्ञानानन्दस्वरूप स्वद्रव्य के सिवाय जितने भी परद्रव्य हैं, चाहे वे तीर्थंकर हों, उनकी वाणी हो, समोशरण हो, जिनमन्दिर हो या जिन प्रतिमा हो; सभी परद्रव्य शुभरागरूप अशुद्धता के निमित्त कारण हैं। भाई! यह छब्बीस लाख का परमागम मन्दिर अशुद्धता का निमित्त है। बात बहुत कड़वी है, पर सत्य है।

प्रश्न – तो फिर ये मन्दिर बनवायें या नहीं ?

उत्तर – कौन बनवाता है ? अरे! जड़ परमाणुओं का निज जन्मक्षण था, जो अपने जन्म क्षण में इस परमागम मन्दिर रूप परिणमन हुए हैं। कोई अन्य बनवाता है या बनाता – यह बात त्रिकाल में सत्य नहीं हो सकती। हाँ, इस काल में हम तुम को ऐसा शुभभाव हुआ था, पर वह शुभभाव अशुद्धभाव रूप है। जब तक अशुभ को टालने के लिए भूमिका के अनुसार शुभभाव भी आते हैं, पर वह परद्रव्य की ओर झुकने वाला होने से अशुद्ध भाव है, दोष है, अपराध है।

अहाहा·····। आत्मा आनन्दरूपी अमृत का सरोवर है। आत्मा निज परिणति को उस सरोवर में डुवो-डुवोकर धर्मामृत पीता है।

अहा·····। चाहे स्त्री-पुत्र परिवार हो या देव-शास्त्र-गुरु हो, ये सव परद्रव्य अशुद्धता के निमित्त कारण हैं। इन परद्रव्य की ओर का झुकाव छोड़कर जव जीव स्वद्रव्य में स्वयं लीन होता है तव मुक्ति प्राप्त होती है।

देखो, अशुद्धता का निमित्त परद्रव्य है। इसकारण सव परद्रव्यों का लक्ष्य छोड़कर जो पुरुष स्वद्रव्य में लीन होता है, वह पुरुष नियम से सर्व अपराध से रहित होता हुआ वंधका नाश करके मुक्ति प्राप्त करता है।

यहाँ कहते हैं कि – परद्रव्य की ओर का झुकाव छोड़कर स्वद्रव्य में झुकने पर अन्दर निर्मल आनन्द उछलता है। मूल कलश में जो 'चैतन्यामृतपूर'' शब्द है न ? उसका अर्थ यह किया है कि – चैतन्यरूपी अमृत का प्रवाह निज आत्मा है। इस आत्मा में व्यवहार के विकल्प नहीं है। "मैं आत्मा चिन्मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ" ऐसा आत्मा सम्वन्धी विचार का विकल्प भी शुद्धात्म द्रव्य में समाता नहीं है। अहा·····। द्रव्य-गुण-पर्याय का विकल्प भी परवशपना है।

नियमसार के परमावश्यक अधिकार में आता है कि – 'भगवान आत्मा आनन्द का सागर प्रभुनित्य एक रूप वस्तु है' इसको तीन प्रकार से विचारना – यह त्रिकाली द्रव्य ये त्रिकाली गुण तथा यह वर्तमान पर्याय – यह पर-वशपना है यह स्व-वशपना नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि – यह परवशपना त्यागकर जो स्ववशपने स्व-स्वरूप में रमता है, उसको अन्दर में निर्मल आनन्द उछलता है।

भाई! सम्यग्दर्शन का विषय अभेद-एक-चिन्मात्र वस्तु है। अहाहा ···· जिसके अनुभव में भेद नहीं पड़ता वह वस्तु एक अलग है। अहा ! ऐसे असंग के संग में जाने पर अन्दर निर्मल चैतन्य उछलता है।

अहा! जितना स्वद्रव्य को छोड़कर परद्रव्य का आलम्वन लेंगे, उतना ही राग होगा और वह राग अपराध है। वीतरागदेव यह नहीं कहते हैं कि तू हमारी

भक्ति कर! इससे तेरा कल्याण हो जायेगा। बल्कि भगवान तो यह घोषणा करते हैं कि – हमारी भक्ति, स्तुति, वंदना आदि करने का जो तुझे राग आता है, वह सब अपराध है, अशुद्धता है। यह कोई महिमावाली वस्तु नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि भाई! तू अपने स्वरूप में अन्दर जा। वहाँ तेरे अन्दर चैतन्यरूपी अमृत का त्रिकाल प्रवाह बह रहा है। ये पुण्य-पाप के भाव तो ज़हर का प्रवाह है।

हे भाई ! तू चिदानन्दघन चैतन्यरूपी अमृत का पूर है। उसको स्व-संवेदन में अनुभव करके, जानकर उसी में मग्न हो जा, स्थिर हो जा; क्योंकि शुद्ध चैतन्य के ध्रुव प्रवाह में मग्न होने से आत्मा शुद्ध होकर कर्मों से छूट जाता है और शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

भावार्थ पर प्रवचन

जो पुरुष समस्त परद्रव्यों का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाल ज्ञानानन्द स्वद्रव्य में लीन - स्थिर हो जाता है, वह सब रागादि अपराध से रहित हो जाता है। फिर उसे जीवन कर्मबन्ध नहीं होता। वह नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त करता है। केवलज्ञान प्रगट होने पर वह नित्य अक्षय रहता है। जिस तरह आत्मा त्रिकाल अनादि-अनन्त नित्य प्रवाह रूप है, उसी तरह केवलज्ञान प्रगट होने के बाद प्रवाह रूप से सदा कायम रहता है, उसके प्रवाह में कोई भंग नहीं पड़ता।

अहा .....। "स्व" में लीन हुआ पुरुष नित्य उदयरूप केवल ज्ञान पाकर पूर्ण शुद्ध होकर सर्वकर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है।

सर्वप्रथम मिथ्यात्व से, तत्पश्चात् अव्रत से फिर अस्थिरता से मुक्त होता है। यह मुक्त होने का क्रम है।

भाई! तेरा जैसा स्व-स्वरूप है, वैसा ज्ञान व श्रद्धान कर। उसका ज्ञान-श्रद्धान होने पर उसमें स्थिरता होगी तथा अन्त:स्थिरता पूर्ण होने पर मोक्ष होगा। :स्थिरता ही चारित्र है। स्वरूप स्थिरता होने पर अशुद्धता का नाश होने

पर ही शुद्धोपयोग की जमावट होती है। वही वस्तुतः मुनि दशा है। जिसका अन्तिम फल मोक्ष है।

(मन्दक्रान्ता)

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ।। १९२।।

इति मोक्षो निष्क्रांतः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ मोक्ष-प्ररूपकः अष्टमोअंकः।।

अब मोक्ष अधिकार को पूर्ण करते हुए उसके अन्तिम मंगलरूप पूर्ण ज्ञान की महिमा का (सर्वथा शुद्ध हुए आत्मद्रव्य की महिमा का) कलशरूप काव्य कहते हैं :-

श्लोकार्थ – [बन्धच्छेदात् अतुलम अक्षय्यम् मोक्षम् कलयत] कर्मबन्ध के छेदने से अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्ष का अनुभव करता हुआ, [नित्य-उद्योत-स्फुटित-सहज-अवस्थम्] नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है ऐसा, [एकान्त-शुद्धम्] एकान्त शुद्ध (–कर्ममल के न रहने से अत्यन्त शुद्ध), [एकाकार-स्व-रस-भरतः अत्यन्त-गम्भीर-धीरम्] और एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार में परिणमित) निजरस की अतिशयता से जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा [एतत् पूर्णं ज्ञानम्] यह पूर्ण ज्ञान [ज्वलितम्] प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ है), और [स्वस्य अचले महिम्नि लीनम्] अपनी अचल महिमा में लीन हुआ है।

भावार्थ – कर्म का नाश करके मोक्ष का अनुभव करता हुआ, अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयकारों को गौण करता हुआ,

अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार नहीं है ऐसा) और धीर (आकुलतारहित) – ऐसा पूर्ण ज्ञान प्रगट देदीप्यमान होता हुआ, अपनी महिमा में लीन होगया॥ १९२॥

टीका – इसप्रकार मोक्ष (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ – रंगभूमि में मोक्षतत्त्व का स्वाँग आया था। जहाँ ज्ञान प्रगट हुआ वहाँ उस मोक्ष का स्वाँग रंगभूमि से बाहर निकल गया।

(सवैया)

ज्यों नर कोय पर्‌यो दृढ़बन्धन बंधस्वरूप लखै दुखकारी,
चिंत करै निति कैम कटे यह तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी ।
छेदनकूं गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारी,
यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी ॥

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमत्भगवत्कुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में मोक्ष का प्ररूपक आठवां अंक समाप्त हुआ।

कलश १९२ पर प्रवचन

यह मोक्ष अधिकार का अन्तिम कलश है। यहाँ कहते हैं कि कर्मबन्धन के छेद से मोक्ष होता है अर्थात् शुद्धचिदानन्द आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान व लीनता से रागादि विकार का सर्वथा नाश होने पर सर्व कर्मों का छेद हो जाने से अतुल अक्षय केवलज्ञानमय मोक्ष दशा प्रगट हो जाती है। वह मोक्ष की दशा सहज-स्वाभाविक और नित्य उद्योत रूप है। जो केवल दर्शन व केवलज्ञान अन्तर में त्रिकाल शान्तिस्वरूप था, वह वर्तमान में व्यक्त हो गया है।

अज्ञानी 'आत्मा-आत्मा' – तो करते हैं, परन्तु उन्हें आत्मा के यथार्थ स्वरूप की खबर नहीं है वीतराग सर्वज्ञ देव ने जैसा आत्मा देखा व कहा है, वह पूर्णज्ञान व आनन्द से भरपूर है। उसका अनुभव करके उसी में एकाग्र होने पर पर्याय में पूर्ण ज्ञान व आनन्द खिल उठता है। अहा ······। जिसको केवलज्ञान, केवल दर्शन प्रगट हुआ उसको वह नित्य उद्योत रूप है।

तथा वह एकान्त शुद्ध है। कर्मों के मैल से रहित सर्वथा शुद्ध···· शुद्ध ···· शुद्ध हो गया है।

तथा एकाकार निजरस की अतिशयता से अत्यन्त गंभीर और धीर है।

देखो ! संसार दशा में अल्पज्ञदशा में ज्ञान की दशा एकाकार-एकरूप नहीं थी, अनेक रूप थी, वह परमात्म दशा में सर्वज्ञता प्रगट होने पर एकाकार प्रगट हो गई। एकाकार अर्थात् एक ज्ञानगम्य स्वरूप से परिणत हो गई। रागादि का सर्वथा नाश होने पर ज्ञान की दशा एकाकार – एक रूप से प्रगट हो गई।

आत्मा के निजरस, चैतन्य रस, आनन्द रस, वीतरागरस की अतिशयता से – विशेषता से केवलज्ञान व मोक्ष दशा प्रगट हो गई। अहाहा····। सिद्ध दशा निज रस की, चैतन्य रस की अतिशयता से अत्यन्त गंभीर है। छद्मस्थ द्वारा इसकी गंभीरता की थाह पाना मुश्किल है। भगवान आत्मा का पूर्णज्ञान समुद्र की भांति अति गंभीर है, अथाह है। तथा वह केवलज्ञान धीर है अर्थात् शाश्वत है। तथा ज्वलित अर्थात् रत्न ज्योति के समान शाश्वत प्रकाशमान है।

जिस तरह दियासलाई (माचिस) में शक्तिरूप से अग्नि है और घिसते ही – रगड़ लगते ही प्रगट हो जाती है, उसी तरह आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य त्रिकाल शक्ति रूप से विद्यमान हैं, उसमें अन्तर एकाग्रता करने से – अन्तर अनुभव करने से वह ज्ञान ज्योतिर्मय होकर केवलज्ञान के रूप में पर्याय में प्रगट हो जाता है। जैसी अन्तर में सामर्थ्य है, वैसी ही पर्याय में प्रगट हो जाती है।

भाई! यह केवलज्ञान व केवलदर्शन कहीं बाहर से नहीं आता, आत्मा में जो शक्तिरूप से विद्यमान है, वही अन्तर में एकाग्रता के अभ्यास से स्वरूपलीनता करने पर पर्याय में प्रगट हो जाता है।

देखा! अनादि से जो ज्ञान पुण्य व पाप में, शुभ व अशुभ में तथा अन्य पर ज्ञेयों में लीन था, वह अपनी अचल महिमा में लीन हो गया, स्वरूप में समा गया। निजानन्द में लीन हो गया। इस केवलज्ञान की प्राप्ति का उपाय निज आत्मा है।

यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि – सर्वज्ञ ने जैसा प्रमाण ज्ञान में देखा है, उसी के अनुसार कार्य होगा, तो फिर अपने को कुछ करना शेष नहीं रहा ?

उनके इस प्रश्न का उत्तर यह है कि – भाई ! सुन, केवलज्ञान की सत्ता जिसे स्वीकृत है, उसकी दृष्टि केवलज्ञान स्वभावी स्व-द्रव्य के ऊपर गई है। तथा उसे ही करने योग्य (पुरुषार्थ) कहा गया है।

भावार्थ पर प्रवचन

कर्म का नाश करके अर्थात् अज्ञान और राग-द्वेष-मोह रूपी भावकर्म का नाश करके मोक्ष का अनुभव करता हुआ केवलज्ञान अपनी सहज-स्वाभाविक अवस्था रूप प्रगट होकर अत्यन्त निर्विकार शुद्ध हो गया है। अहाहा ''''। परमात्मा का अशुद्धता का अंश भी नहीं रहा।

यहाँ ज्ञेयाकारों को गौण करता हुआ कहने का तात्पर्य यह है कि – केवलज्ञान लोकालोक को जानता तो है, पर उसमें तन्मय नहीं होता, निश्चय से केवलज्ञान अपनी पर्याय को ही जानता है, कि उसमें लोकालोक झलकते हैं। लोकालोक को जानना-कहना असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

तथा लोकालोक है, इसलिए लोकालोक को जानते हैं – ऐसा भी नहीं है। तीन लोक को जानने की ज्ञान पर्याय की सहज शक्ति है। स्वयं स्वयं से ही षट्कारक रूप होकर लोकालोक को जानती हुई प्रगट होती है। अहा! केवलज्ञान की पर्याय के कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान व अधिकरण पर्याय स्वयं ही हैं। पर षट्कारक तो हैं ही नहीं किन्तु अपने द्रव्य-गुण के षट्कारक भी नहीं। अन्दर शक्ति है, किन्तु प्रगट होने की सामर्थ्य पर्याय की स्वतंत्र योग्यता है, पर्याय के षट्कारक स्वयं निज पर्याय से हैं। केवलज्ञान वस्तुतः तो लोकालोक को स्पर्श किये विना अपनी सत्ता में ही रहकर स्वयं स्वयं से ही स्वयं को जानता है। जिसमें लोकालोक प्रकाशित होता है। अहा ''''! अपनी पर्याय को जानते हुए लोकालोक जानने में आ जाता है।

तथा वह अत्यन्त गंभीर है। अहा ''''। जिसका पार नहीं पाया जा सकता – ऐसा केवलज्ञान अपार गंभीर है तथा आकुलता रहित धीर है।

भाई ! तेरे स्वभाव की सामर्थ्य ज्ञान-दर्शन से पूर्ण भरी है। आकुलता से रहित धीर है और वह अपने महिमा में अचल है, निजानन्द रस में ही लीन है।

अव अन्त में मोक्ष रंगभूमि में अधिकार पूर्ण करते हुए टीकाकार आचार्य कहते हैं कि वे मोक्ष स्वांग धर जो जीव रंगभूमि में आया था, वह रंगभूमि से बाहर निकल गया।

जिस तरह संसार दशा एक स्वांग है, उसी तरह मोक्ष दशा भी एक स्वांग है। मोक्ष दशा सादि-अनन्त समय-समय नई-नई प्रगट होती है। द्रव्य-गुण नित्य है, परन्तु मोक्ष दशा एक समय का स्वांग है।

ज्यों ही केवलज्ञान प्रगट हो गया त्योंही मोक्ष का स्वांग रंगभूमि में से निकल गया।

अन्तिम हिन्दी पद्य पर प्रवचन

अव हिन्दी पद्य में उपसंहार करते हुए हिन्दी टीकाकार पं. जयचन्दजी छावड़ा कहते हैं – कोई व्यक्ति लोहे की सांकल के दृढ़ बन्धन से वंधा हो और सोचे कि – "बन्धन महादु:खकारी है तो ऐसे विचार मात्र से तो कोई वन्धन से नहीं छूट जाता। अथवा बन्धन की मात्र चिन्ता करते रहने से भी वन्धन से नहीं छूटा जा सकता। हाँ, यदि औजार से उस बन्धन को काटेगा, वेड़ी को तोड़ेगा तो ही वह वन्धन से छूट सकेगा।

उसीतरह कोई यह सोचता रहे कि आत्मा में "राग-द्वेष-मोह का बन्धन है, और वह दु:खदायक है।" तो ऐसे विचार मात्र से तो वह वन्धन से मुक्त हो नहीं सकता। तथा उस बन्धन की कोरी चिन्ता करने से भी वह वन्धन कटने वाला नहीं है। हाँ, यदि भेदविज्ञान रूपी-सुबुद्धि रूपी पैनी प्रज्ञा छैनी को पुण्य-पाप के भाव और भगवान आत्मा के स्वभाव की सांध में डाले तो ही वन्धन से छूटता है।

कितने लोग व्रत, तप, भक्ति, स्वयं करते हैं एवं ये ही सब करने का उपदेश देते हैं, क्योंकि वे ऐसा मानते हैं कि – इसी से धर्म होगा, पर उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि वे बन्ध के कारण को धर्म का कारण मानते हैं, मोक्ष का कारण मानते हैं।

पुण्य-पाप से मेरा चैतन्यस्वरूप आत्मा भिन्न है – ऐसा जानकर अपनी वस्तु में ज्ञान को एकाग्र करना प्रज्ञा छैनी है। और यही मोक्ष का उपाय है।

इस प्रकार यह मोक्ष अधिकार पूर्ण हुआ।

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

२,००० रु. – श्रीमती रतनबाई ध.प. राजमलजी पाटनी, कलकत्ता।

२,००० रु. – श्रीमती सोनीबाई माताजी श्री फूलचन्दजी पाटनी, कलकत्ता।

१,१०० रु. – सौ. कंचन पन्नालालजी गड़ियार, खेरागढ़।

१,००२ रु. – निर्मलाबेन मोहनलाल मेहता एवं सीताबेन दिलीप शाह, राजकोट।

१,००१ रु. – श्री प्रभुलाल मोहनलाल घीया, राजकोट।

१,००० रु. – श्रीमान् भाईलाल केशवलाल दोशी, माँटुगा; श्रीमान् उल्लास एम. जोवालिया, बम्बई; श्रीमती इन्दिरा आर. मेहता, बम्बई; श्रीमान् मुकन्द भाई खारा, बम्बई; श्रीमान् हिम्मतलाल हरिलाल शाह दादर, बम्बई; श्रीमती रूपाबेन देवाग कामदार ह. अनिल भाई, बम्बई; श्रीमती ज्ञानमती प्रकाशचंदजी, सिरसागंज; श्रीमती सोनीदेवी ध.प. कञ्जुलालजी पाटनी, कुचामन सिटी; श्रीमान् फूलचन्दजी पाटनी, कलकत्ता; श्रीमान् नेमीचन्दजी पाण्ड्या गोहाटीवाले, कलकत्ता; श्रीमती प्रभा भागचन्दजी पाटनी, कलकत्ता; श्रीमान् महावीरजी पाटनी, कलकत्ता; श्री श्रीपालजी गंगवाल, कलकत्ता; श्रीमती मोतीदेवी सरावगी, कलकत्ता; श्रीमान् कमलकुमारजी पाटनी, कलकत्ता; श्रीमान् मोहनलालजी पाटनी, कलकत्ता; श्रीमती गुलकन्दाबेन सुन्दरलालजी जैन, भिण्ड।

५०१ रु. – श्रीमान् अशोकजी चानेकर, अकोला; श्रीमान् गोमतीप्रसाद निर्मलकुमारजी, फुटेराकला; डॉ. चन्दुभाई तथा डॉ. ईश्वरभाई कामदार, राजकोट; श्रीमती दर्शनाबेन नरेन्द्रकुमारजी जैन, राजकोट; श्री विनयदक्ष चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई; श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज; श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर।

५०० रु. – श्रीमान् विमलचन्दजी जैन, नीरू केमिकल्स, दिल्ली; श्रीमती आभा अरुण शाह, न्यूयार्क; श्रीमती विभा ध.प. दीपकशाह कासलीवाल, बम्बई; श्रीमती निरंजा आशिष पाटनी, कोलम्बस; श्रीमती पुष्पाबेन कान्तिभाई मोटाणी, बम्बई; श्रीमती जशवन्ती बेन प्रवीणभाई बोरा, बम्बई; श्रीमान् पूनमचन्दजी लुहाड़िया, बम्बई; श्रीमान् माँगीलाल मीठालालजी बोरा, भिण्डर; श्रीमान् महेन्द्रभाई मणीलाल वलाणी, माँटुगा; श्रीमती दक्षाबहन कापड़िया, बम्बई; श्रीमती मधुबेन रमेशचन्द्र मेहता, बम्बई।

३५१ रु. – डॉ. बी. ए. शिरढोणें, मिरज।

३०१ रु. – श्रीमान् तरवतराजजी जैन, कलकत्ता; श्रीमान् गंभीरचन्दजी जैन सेमारीवाले, अहमदाबाद; श्रीमान् फूलचन्द विमलचन्दजी झाँझरी, उज्जैन; श्रीमान् झमकलालजी बड़जात्या, रतलाम।

२५१ रु. – श्रीमान् चेतनदास जैन (ध.प. की स्मृति में), बड़ौत; श्री कुन्दकुन्द मूलचन्द चै. ट्रस्ट, अजमेर; श्रीमान् प्रकाशचंद घासीलालजी सेठी, इन्दौर; श्रीमती रमाबेन प्रतापराय शाह, राजकोट; श्रीमान् बंसतलाल बृजलालजी पारेख, राजकोट; श्रीमान् गोविन्दभाई बगड़ेवाला, राजकोट; स्व. निर्मलाबेन रमणिकलाल घड़ियाली, राजकोट;

श्रीमान् मधुभाई छोटालाल भयाणी, राजकोट; श्रीमान् नरेन्द्रकुमारजी जैन (क्लॉथ मर्चेन्ट), खतौली; प्रो. कृष्णाराव ए. गोस्वामी, औरंगाबाद; ब्र. श्रीचन्द सुन्दरलालजी जैन, सोनगढ़।

२०१ रु. – श्रीमान् प्रकाशचन्द गम्भीरचन्द सेनारीवाले, अहमदाबाद; श्रीमती कांतिदेवी ध.प. ओमप्रकाश कासलीवाल, जयपुर; श्रीमती सुशीलाबाई ध.प. जवाहरलालजी, विदिशा; श्रीमती सुशीलाबाई ध.प. नन्दनकुमार सिंघई, इन्दौर; श्रीमती राजकुमारी गोधा ध.प. कोमलचन्दजी गोधा, जयपुर; श्रीमती प्रेमचन्दजी बड़जात्या, दिल्ली; श्रीमती चान्देवी ध.प. मोहनलालजी सेठी, गोहाटी; श्रीमती इन्द्रमणी देवी ध.प. स्व. आनन्दीलालजी, रामगढ़ केन्टविहार; स्व. उमरावदेवी ध.प. जगनमलजी सेठी, इम्फाल।

१५१ रु. – श्रीमती कमलादेवी, जयपुर; श्रीमान् रामजीभाई खोड़ाभाई पटेल, राजकोट।

१२१ रु. – श्रीमती निर्मलाबेन किशोर भाई शाह, राजकोट।

१११ रु. – स्व. गुलाबबेन मथुरादास भाई डूँगर, राजकोट; स्व. श्री कुसुमलता बंसल एवं सुनन्द बंसल, अमलाई; श्रीमान् जयन्तीभाई धनजीभाई दोशी, बम्बई।

१०१ रु. – श्रीमान् महावीरकुमार ताराचन्दजी जैन, जयपुर; श्रीमती कमलादेवी सोगानी, जयपुर; श्रीमती शांता विमलचन्दजी, इन्दौर; श्रीमान् गोरीचन्द विमल जैन, जोधपुर; श्रीमान् गणेश जयराजभाई पटेल, राजकोट; श्रीमती ज्योतिबेन देसाई, राजकोट; प्रो. पिन्टुभाई मेहता, राजकोट; श्रीमान् डी. के. मेहता, राजकोट; प्रो. विन्दुभाई मेहता, राजकोट; श्रीमती हीराबेन महेशभाई शाह, राजकोट; श्रीमती सरोजबेन पारेख, राजकोट; श्रीमान् डी. पी. शाह, राजकोट; श्रीमती हंसाबेन, राजकोट; श्रीमान् प्रमोदराय उत्तमचंद दोशी, राजकोट; श्रीमान् प्राणलाल त्रिलोकनभाई शाह, राजकोट; श्रीमती भानुबेन लवजीभाई पटेल, राजकोट; श्रीमान् मनोहरलाल उत्तमचन्द दोशी, राजकोट; श्रीमान् मुकेश विठ्ठलदास मणियार, राजकोट; श्रीमती नवलबेन पारसदास शाह हस्ते ज्योत्स्ना बेन, राजकोट; श्रीमती मुक्ताबेन जमनादासजी संघवी, राजकोट; श्रीमती शांताबेन चन्दुलालजी, राजकोट; श्रीमान् चमनलाल प्रेमचन्दभाई शाह, राजकोट; श्रीमान नानजीभाई पटेल, राजकोट; श्रीमान् कान्तिलाल रायचन्दभाई दफ्तरी, राजकोट; श्रीमती पुष्पाबेन गोसलिया, राजकोट; श्रीमती कान्ताबेन कामदार, राजकोट; श्रीमती प्रभावतीबेन देसाई, राजकोट; श्रीमती नलिनी प्रफुल्लभाई दोशी, बम्बई; प्राकृत ऑफसेट प्रिन्टर्स, जयपुर; चौधरी फूलचन्दजी द्वारा मनोज एण्ड कम्पनी, बम्बई; श्रीमान् सुरेशचन्द सुनीलकुमार जैन, बैंगलोर; श्रीमती गुलाबीदेवी ध.प. लक्ष्मीनारायणजी शाह, शिवसागर; श्रीमान् महेन्द्रकुमारजी जैन द्वारा अनिल एजेन्सी, दिल्ली; नन्दराम सूरजमल, दिल्ली।

५१ रु. – श्रीमान् दिनेशलाल मोहनदास मेहता, राजकोट।

४३,४३५ रु. – योग